तत्वमसि
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
https://t.me/arshlibrary

# तत्त्वमसि

## अथवा

# अद्वैत मीमांसा



स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

# ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की
सेवा।

---

**प्रकाशक** : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
ग्राम-रेवली, सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)



**संस्करण** : चतुर्थ वार, १००० प्रतियां
वि॰ सं॰ २०६८, फरवरी सन् २०१२

**मूल्य** : [illegible].०० रुपये



**प्राप्ति-स्थान** : १. रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम-रेवली, पो॰- ई॰ सी॰ मुरथल,
सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)
☎ (0130) 3290276, 2100285
Web- www.rlktrust.org
E-mail- rlktrust@yahoo.in

२. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर
मर्चेण्टस्, २५९६, नई सड़क, दिल्ली

३. विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द,
४४०८ नई सड़क दिल्ली- ६

**मुद्रक** : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर दिल्ली।

# विषय-सूची

# सम्पादकीय

महाभारत-युद्ध के पश्चात् वैदिक धर्म का लोप होने लगा। नये-नये मत और पन्थ पनपने लगे। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की तो मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का राग अलापा। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत का, वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद का और श्री चैतन्य ने भेदाभेदवाद का प्रचार और प्रसार किया।

वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, गम्भीर चिन्तक और विचारक स्वामी विद्यानन्द-सरस्वती ने '**तत्त्वमसि**' नामक ग्रन्थ का प्रणयन करके अवैदिक मतों का प्रबल प्रत्याख्यान किया है। नई-नई युक्तियाँ, दृष्टान्त और प्रमाणों का बाहुल्य स्वामीजी की नव-नवोन्मेषिणी बुद्धि के परिचायक हैं।

श्री रामशंकर भट्टाचार्य [वाराणसी] ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़कर ग्रन्थ की भूमिका लिखने की जो महती कृपा की है, तदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद। कुछ अपरिहार्य कारणों से भूमिका को छोटा करने के लिए सम्पादकीय लेखनी उठानी पड़ी है, तदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

एक सिद्धान्त है—'किसी प्रमाण पर विश्वास न करो जबतक उसे अपनी आँखों से न देख लो।' इसी सिद्धान्त के अनुसार ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए मैंने प्रत्येक प्रमाण को तत्तद् ग्रन्थ से मिलाया है। ईक्ष्यवाचन [प्रूफ-रीडिंग] भी बहुत ध्यानपूर्वक की गई है जिससे ग्रन्थ में अशुद्धियाँ न रहें। प्रूफ-संशोधन में श्री सुनील जी शर्मा के सहयोग के लिए उनका हार्दिक आभारी हूँ। दुर्गा मुद्रणालय के सञ्चालक पं० श्री रामसेवक मिश्र और प्रेस के कर्मचारियों ने जिस तत्परता से पुस्तक का मुद्रण किया है तदर्थ उन्हें साधुवाद देता हूँ। जिन सज्जनों और संस्थाओं ने पुस्तक-प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उन सबके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ और उनकी सर्वविध उन्नति की कामना करता हूँ।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि स्वाध्यायशील पाठक स्वामीजी के अन्य ग्रन्थों (अनादि तत्त्वदर्शन, अध्यात्म मीमांसा, वेद मीमांसा) की भाँति इसे भी अपनाएँगे तथा रुचि और मनोयोग से पढ़ेंगे।

वेदसदन
एच १/२ माडल टाउन
दिल्ली—११०००६

(स्वामी) जगदीश्वरानन्द सरस्वती

# भूमिका

यतिवर विद्यानन्द सरस्वती द्वारा लिखित **'तत्त्वमसि ग्रथवा ग्रद्वैतमीमांसा'** ग्रन्थ दार्शनिक वाङ्मय के क्षेत्र में एक विशिष्ट संयोजन है। प्राचीन दार्शनिक चिन्तनों का आश्रय करके स्वतन्त्र रूप से तर्कभूयिष्ठ जो अल्पसंख्यक ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गये हैं, उनमें यह अन्यतम है। हम समझते हैं कि डॉ० भगवान् दास, डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि ने प्राचीन दार्शनिक मतों को लेकर हिन्दी में स्वतन्त्र-ग्रन्थ-लेखन-परम्परा की जो नींव डाली थी, उस परम्परा का बहुत ही सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व वर्तमान ग्रन्थ करेगा। यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के दीर्घकालिक मनन का फल है—इसमें संशय नहीं है। पहले भी ग्रन्थकार ने दार्शनिक मनन के क्षेत्र में अपनी पटुता दिखाई है, जो उनके (पूर्वाश्रम के ग्रन्थ) 'अनादितत्त्वदर्शन' से ज्ञात होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ आधुनिक काल के शिक्षित दर्शनविद्याप्रेमी विचारकों के मन को अवश्य ही प्रभावित-आप्यायित करेगा, ऐसा मैं निःशङ्क होकर कह सकता हूँ।

ग्रन्थ के नाम से किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इसमें 'तत्त्वमसि' वाक्य को लेकर ही प्रमुख रूप से विचार किया गया है और न ही यह समझना चाहिए कि प्रचलित अद्वैतवाद की कोई विशिष्ट व्याख्या करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपर्युक्त दोनों विषयों पर आलोचना रहने पर भी ग्रन्थ का विचारक्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। मुख्यतया ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वभाव-कार्यादि पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है; पर इन विषयों से साक्षात् एवं परम्परा से सम्बन्धित अनेक आवश्यक विषयों (स्वप्न, निद्रा आदि) की विशद चर्चा भी इस ग्रन्थ में मिलेगी, जो बहुत ही उपादेय प्रतीत होती है।

ग्रन्थकार की प्रतिपादनशैली का अपना असाधारण वैशिष्ट्य है। इसमें पहले मुख्य विचार्य मत (चाहे वह शङ्कारूप हो, चाहे सिद्धान्तरूप) को सूत्ररूप में रखा गया है और बाद में सूत्रोक्त मत का विस्तार किया गया है—सूत्र की टीका के रूप में। संस्कृतपरम्परा में यह शैली सुप्रतिष्ठित है; इस शैली से समझने में सुविधा होती है; बाद में विचार को विस्तृत करने में लेखक को भी सुविधा होती है। अभिज्ञ व्यक्ति चाहें तो केवल सूत्र को पढ़कर ही ग्रन्थकार का आशय समझ

सकते हैं। यह शैली इतनी सार्थक है कि कई पाश्चात्य लेखकों ने भी इसको अपनाया है।

ग्रन्थकार की वाक्यरचना इस प्रकार के दार्शनिक ग्रन्थ के लिए सर्वथा उचित प्रतीत होती है। कहीं-कहीं ग्रन्थकार की वचोभङ्गी जयन्त भट्टकृत न्यायमंजरी के वाक्यों की तरह रोचक है, परिहासगर्भ है, पर परिहास या रोचकता के कारण अभद्रता का भाव लक्षित नहीं होता। प्राचीन आचार्यों ने आवेश में आकर पूर्व-पक्षी को लक्ष्य कर 'रे मूढ़' 'अपुच्छश्रृङ्ग तार्किक बलीवर्द' आदि शब्दों का व्यवहार किया है, पर इस ग्रन्थ में पूर्वपक्षी के प्रति अभद्र शब्दों का व्यवहार नहीं मिलता।

ग्रन्थकार के सूत्रमय वाक्य संस्कृत में रचित हैं (हिन्दी में उन वाक्यों का अनुवाद भी साथ ही दिया गया है)—हमें यह शैली बहुत ही अच्छी लगी। ग्रन्थगत सभी विषयों का मूल जब संस्कृत ग्रन्थों में है, तब इस शैली का औचित्य स्वतःसिद्ध है। संस्कृत में रचित होने के कारण सूत्रों की आकृति अपेक्षाकृत स्वल्प हो गई है, अतः इन सूत्रों को स्मृतिपथ में रखने में सुविधा होगी। इससे ग्रन्थ में गाम्भीर्य भी आ गया है—ऐसा मैं समझता हूँ।

ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें किसी-न-किसी रूप में स्वमत को प्रतिष्ठापित करने के आग्रह (वस्तुतः दुराग्रह) का अभाव है। हमारे अनेक दार्श-निकों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे सर्वथा उपहसनीय उपायों से भी स्वमत को प्रतिष्ठापित करने में दक्षता दिखाते हैं—स्वमत की पुष्टि के लिए वेदवाक्यों का अर्थ करने के समय यह मनोवृत्ति अन्याय्यता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है—यह अवश्य ही हर्ष का विषय है कि ग्रन्थकार में यह दूषित मनोवृत्ति दृष्ट नहीं होती।

ग्रन्थकार ने प्रयोगपरीक्षणपद्धति (वैज्ञानिक पद्धति) का समादर उचित रूप में किया है—यह देखकर मन प्रफुल्लित होता है। जो वस्तु (या घटना) प्रयोग-परीक्षण क्षेत्र में आती है, वह अलौकिक नहीं है, अतः उसपर वैज्ञानिक दृष्टि को मानना ही होगा। स्थूल विषयों को लेकर विचार करने के समय प्राचीन आचार्यों ने कहीं-कहीं भ्रान्त मतों का आश्रय लिया है—उनके मत प्रयोग-परीक्षण से वस्तुतः खण्डित हो जाते हैं। इस प्रकार के खण्डित मतों पर दुराग्रह करके उनकी सत्यता पर बल नहीं देना चाहिए। शरीर-नख और गोमय-वृश्चिक उदाहरण से शंकराचार्य ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन हो सकता है; यह सर्वथा उपहसनीय बात है और शंकर के पाण्डित्य के लिए कलङ्क भी। यह प्रसन्नता का विषय है कि ग्रन्थकार ने इस विषय में शंकर-मत को सदोष माना है (३ / १६—२०)। दुग्धदधि-परिणाम के विषय में भी शंकर की अवैज्ञानिक दृष्टि का उल्लेख किया गया है (पृ० १८३)।

ग्रन्थकार ने कहीं भी अपने मनोभाव को छिपाने की चेष्टा नहीं की और जिसके विषय में वे जो उचित समझते हैं, उसको स्पष्ट शब्दों में कह दिया है। दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी। नियतिवाद को लक्ष्य कर वे कहते हैं कि 'इस नियतिवाद की धारणा ने बड़े-बड़े विद्वानों को भ्रमित कर दिया' (पृ० १४५) और इन विद्वानों में वे श्री अरविन्द को भी गिनते हैं। इसी प्रकार शंकरसम्मत अद्वैतवाद के विषय में उनका कहना है कि 'अद्वैतवाद के सिद्धान्त की मान्यता मानवसमाज के लिए निश्चय ही अत्यन्त घातक सिद्ध हो रही है' (पृ० १५१)।

ग्रन्थकार ने दो कार्य बहुत ही उदारता से किये हैं। प्रथम है—पूर्वपक्ष का उचित प्रतिपादन। मीमांसा आदि के ग्रन्थों में पूर्वपक्षी के मत का विशदरूप से प्रतिपादन करने के बाद उसका खण्डन किया जाता है—यह शैली बहुत ही उपादेय है। ग्रन्थकार ने भी इस शैली को अपनाया है। न केवल शंकरमत का ही विस्तार के साथ प्रतिपादन है, बल्कि बौद्ध आदि पूर्वपक्षियों का मत भी पर्याप्त रूप से विशदीकृत हुआ है और बाद में उसका खण्डन किया गया है।

उदारता का द्वितीय उदाहरण है—प्रत्येक आवश्यक स्थल में प्रमाणभूत वाक्यों का उद्धरण। शायद ही कोई ऐसा स्थल हो जहाँ प्रमाणभूत वाक्य का उद्धरण आवश्यक था, पर ग्रन्थकार ने उद्धरण नहीं दिया।

हमने आरम्भ में ही कहा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ किसी एक निश्चित विषय को लेकर ही उसपर विचार नहीं करता, बल्कि यह एक पूर्णाङ्ग दर्शन की तरह है, क्योंकि इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में पूर्णाङ्ग चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त विषयों में ग्रन्थकार की धारणा क्या है, यह प्रसंगतः दिखाया जा रहा है—

(क) परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, पर स्वेच्छाचारी नहीं। विधि-विधान के अन्तर्गत रहकर ही वह अपना कार्य करता है। परमेश्वर को ब्रह्म एवं परमात्मा भी कहा जाता है। वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है; वह निरवयव है, अपरिणामी है। सृष्टिरचना में परमेश्वर निमित्त कारण है (द्र० पृ० १९, २०, १३३, १४८, १७८, ३१३ आदि)।

(ख) ब्रह्म (परमेश्वर) जगत् के रूप में परिणत नहीं होता, अपितु जड़ प्रकृति के सहयोग से नामरूपात्मक जगत् का निर्माण करता है; वह जगत् का निमित्त कारण है। जीवों को पाप-पुण्य का फल देने तथा मोक्षप्राप्ति कराने के लिए ईश्वर सृष्टि की रचना करता है (पृ० ६५, ९९ आदि)।

(ग) जीवात्मा अनादि है, अणुपरिमाण है; वह हृदय में निवास करता है

(हृदय मस्तिष्कगत है); जीव शुद्ध, चेतन, अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध, कभी मुक्त होता रहता है; असीम ऐश्वर्य की प्राप्ति जीवात्मा को नहीं होती; बुद्धि या अनुभूति केवल चेतन आत्मा (=जीव) का धर्म या स्वरूप है; जीव ईश्वरांश नहीं है (पृ० ६४, १२२, १२३, १३३, २०७, ११५, २४७ आदि)।

(घ) जो आत्माएँ मुक्त होकर चली जाती हैं, वे भी मोक्षकाल पूरा होने पर लौट-लौटकर आती रहती हैं; मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के सदृश नहीं होता; जीवात्मा अपने अस्तित्व को खोकर ब्रह्म में लीन नहीं होता (पृ० ६६,१००, २४५ आदि)।

(ङ) प्रकृति वह उपादान है जिसे विभिन्न नामरूप देकर परमेश्वर सृष्टि का निर्माण करता है; प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता रहती है; ब्रह्मप्रेरित त्रिगुणात्मक प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, कारण-स्वरूप प्रकृति एक है; जीव शरीर में तभी आता है जब प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध होता है (पृ० १६, २६, ६०, ६७, ८० आदि)।

इन तीन मुख्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट पदार्थों के विषय में भी लेखक के कुछ मत अत्यन्त मननीय हैं, यथा—बुद्धि केवल साधनरूप है; उसे अनुभूति नहीं हो सकती (पृ० ११५); अबाधित आनन्द की प्राप्ति मोक्ष है (सूत्र २।७०); ज्ञान-कर्म-उपासना का समुच्चय ही मोक्ष का साधन है (सूत्र २।७१); मिथ्याज्ञान अनुमानजन्य है (सूत्र ३।४६); (अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है)।

ग्रन्थ में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें लेखक की वैचारिक दृष्टि भली-भाँति प्रतिपादित हुई है, जैसे—'व्यवहार और परमार्थ में भेद होने से पदार्थ सत्-असत् नहीं होते' (४।१६)। हिन्दी व्याख्या में भी कई वाक्य ऐसे हैं जो उनकी मूलभूत दृष्टि को कहते हैं। विचारकों को ऐसे वाक्य विचारोत्तेजक प्रतीत होंगे और हम आशा करते हैं कि ऐसे स्थलों को लेकर सपक्ष-विपक्ष में विचारक विचार करें।

खण्डनपक्ष में ग्रन्थकार की मुख्य दृष्टि 'शंकरमत का प्रत्याख्यान करना' है—इस प्रसंग में ग्रन्थकार की कई युक्तियाँ मौलिक हैं और हम समझते हैं कि वे युक्तियाँ आधुनिक विचारकों के मन को स्पर्श करेंगी। शांकर-सम्प्रदाय के जिन मतों का खण्डन किया गया है, उनमें ये मुख्य हैं—जीव और ब्रह्म की एकता; आत्मा का एकत्व; जगत् का मिथ्यात्व; अनिवर्चनीयदृष्टि; सर्वं ब्रह्ममयं जगत्; जीवात्मा की उपाधिजन्यता; अविवेक या अविद्या का आश्रय ब्रह्म; ज्ञान और कर्म का समुच्चय न होना।

ग्रन्थकार ने कई स्थलों पर यह दिखाया है कि शंकर के मत में श्रुति का स्वारस्य नहीं रहता तथा स्पष्टतया कहा है कि उनके ग्रन्थों में वदतो-व्याघात की

भरमार है (पृ० २६८)। उन्होंने यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाया है कि 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य का सम्बन्ध ओंकार से है (सूत्र २।६०); 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य का वक्ता ब्रह्म है (सूत्र २।८८), अतः इनसे जीव ब्रह्मैक्यवाद सिद्ध नहीं होता। 'तत्त्वमसि' वाक्य को उन्होंने देहात्मभेद का प्रतिपादक माना है (सूत्र २।६२) और इस प्रकार शंकराचार्य के मत को निराधार सिद्ध किया है। कोई अद्वैत वेदान्ती यदि ग्रन्थकार के मत का प्रतिवाद कर अपना पक्ष स्थापित करे तो तटस्थ विचारकों को लाभ होगा।

इस प्रसंग में हम ग्रन्थकार के कुछ वाक्यों को उद्धृत कर देना उचित समझते हैं, जिनको उन्होंने अद्वैतवाद के प्रसंग में कहा है—

(१) अद्वैतमत में अपनाये गये अर्थों में माया शब्द कहीं नहीं मिलता (पृ० ४३५)।

(२) अद्वैतवाद में अभिलषित अर्थ में माया का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता (पृ० ४१६)।

(३) अद्वैतमत में अध्यास नहीं हो सकता (सूत्र ३,४२)।

(४) ऐसी अवस्था में अद्वैतवादी और चार्वाक एक ही अवस्था में आते हैं (पृ० २६६)।

(५) समझ में नहीं आता कि फिर भी शंकर जगत् को मिथ्या कैसे कहते हैं (पृ० २८२);

(६) इस प्रकार अद्वैतवाद केवल शब्दजाल बनकर रह जाता है (पृ० २६३)।

(७) काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लहर में औपचारिक रूप से कथित (उपनिषद्) वाक्यों को याथातथ्य ग्रहण कर ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को मानकर ही मध्यकालीन आचार्यों ने अद्वैतवाद का विशाल भवन खड़ा किया है (पृ० ४५४)।

इस विचारप्रधान ग्रन्थ में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ मतभेद होने की सम्भावना है।

दर्शनविचारप्रधान ग्रन्थ में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य स्वाभाविक है; यह उचित भी है। पर मुझे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में कुछ संस्कृत शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग वांछनीय तो है, पर उनका अर्थ देना भी आवश्यक है। 'तात्स्थयोपाधि' 'तत्सहचरितोपाधि' सदृश शब्दों का अर्थ उसी स्थल पर देना चाहिए अथवा 'विशिष्ट शब्दों के अर्थ' नामक एक परिशिष्ट बना देना चाहिए।

प्राचीन दार्शनिक चिन्तनों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से नवीन ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति का हम स्वागत करते हैं, क्योंकि इस प्रकार की रचना से ही हम आज शिक्षित व्यक्तियों को दर्शनशास्त्र की ओर आकृष्ट कर सकते हैं—मूल संस्कृत-ग्रन्थ के अनुवाद से यह कार्य नहीं हो सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य ही अन्य विद्वानों को इस प्रकार के ग्रन्थों को लिखने में प्रेरणा देगा और इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी सार्थकता है—ऐसा मैं समझता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि निकट भविष्य में इस ग्रन्थ को लेकर सपक्ष-विपक्ष में कई निबन्ध या ग्रन्थ विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे जाएँगे।

काशी
१६-६-१६८३

—रामशंकर भट्टाचार्य

# सहायक ग्रन्थ-सूची


| | |
|---|---|
| ऋग्वेद | विविध भाष्य |
| यजुर्वेद | ,, |
| सामवेद | ,, |
| अथर्ववेद | ,, |
| न्याय दर्शन | भाष्यकार—उदयवीर शास्त्री |
| वैशेषिक दर्शन | ,, ,, ,, |
| सांख्य दर्शन | ,, ,, ,, |
| योग दर्शन (योगसूत्र) | ,, ,, ,, व व्यासभाष्य |
| वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) | ,, शंकर, रामानुज, भास्कर, उदयवीर-शास्त्री |
| मीमांसा दर्शन | |
| सांख्य कारिका | ईश्वरकृष्ण |
| सांख्यसिद्धान्त | उदयवीर शास्त्री |
| सांख्यप्रवचन भाष्य | विज्ञानभिक्षु |
| वेदान्तसार | सदानन्द यति |
| वेदान्तपरिभाषा | धर्मराज |
| योगवासिष्ठ | |
| पंचदशी | विद्यारण्य |
| वृत्तिप्रभाकर | निश्चलदास |
| श्लोकवार्तिक | कुमारिल भट्ट |
| सिद्धान्तलेश | अप्पय दीक्षित |
| सर्वदर्शन संग्रह | माधवाचार्य |
| संक्षेप शारीरक | सर्वज्ञात्ममुनि |
| मध्वसिद्धान्तसार | |
| न्यायसुधा | जयतीर्थ |
| अद्वैतसिद्धि | मधुसूदन सरस्वती |

| | |
|---|---|
| शास्त्रदीपिका | पार्थसारथि मिश्र |
| भामती | वाचस्पति मिश्र |
| विवेक चूड़ामणि | शंकराचार्य |
| धम्मपद | |
| ईशोपनिषद् | विविध भाष्य |
| कठोपनिषद् | ,, |
| केनोपनिषद् | ,, |
| मुण्डकोपनिषद् | ,, |
| माण्डूक्योपनिषद | ,, |
| प्रश्नोपनिषद् | ,, |
| ऐतरेय उपनिषद् | ,, |
| तैत्तिरीय उपनिषद् | ,, |
| छान्दोग्योपनिषद् | ,, |
| बृहदारण्यकोपनिषद् | ,, |
| माण्डूक्यकारिका | गौडपादाचार्य |
| कौषीतकि उपनिषद् | |
| मैत्रेय्युपनिषद् | |
| कैवल्योपनिषद् | |
| भगवद्गीता | भाष्यकार—शंकर, रामानुज, तिलक, आर्यमुनि आदि |
| शतपथ ब्राह्मण | |
| ताण्डय महाब्राह्मण | |
| मनुस्मृति | |
| जाबालस्मृति | |
| विष्णु पुराण | |
| कूर्म पुराण | |
| पद्म पुराण | |
| स्कन्द पुराण | |
| भविष्य पुराण | |
| विष्णुधर्मोत्तर पुराण | |
| अष्टाध्यायी | पाणिनि |
| महाभाष्य | पतञ्जलि |
| निघण्टु-निरुक्त | यास्काचार्य |
| न्यायरत्नावलि | मधुसूदन सरस्वती |
| वैदिक सिद्धान्त | युधिष्ठिर मीमांसक |

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश | संपादक—युधिष्ठिर मीमांसक |
| अद्वैतवाद | गंगाप्रसाद उपाध्याय |
| शांकरभाष्यालोचन | ” |
| अभंग | तुकाराम |
| Indian Philosophy | S. Radhakrishnan |
| Brahmasutra | ” |
| Bhagavadgita | ” |
| Hindu view of Life | ” |
| History of Indian Philosophy | S. N. Dasgupta |
| History of Western Philosophy | Bretrand Russell |
| Meditations | Descartes |
| Republic | Plato |
| The Age of Aristotle | |
| System of the Vedanta | Duesson |
| The Vedanta Philosophy | F. Maxmullar |
| Sacred Books of the East | ” |
| Where is Science going | Max Plank |
| Is Science Vindicating Religion | J. H. Holms |
| Mysterious Universe | James Jeanes |
| Encyclopedia Britannica | |
| Encyclopedia of Religion and Ethics | |
| The Book of Knowledge | ” |
| The Popular Book of Science | ” |
| Theism | Flint |
| Christianity and Greek Philosophy—Cocker | |
| The Bible | |
| Matter, Life and Value | C. E. M. Joad |
| Introduction to Modern Philosophy | ” |
| Guide to Modern Thought | ” ” |
| Man and his Religion | Satya Prakash |
| I and my God | Ganga Prasad Upadhyaya |
| Essest Percepi | Berkley |
| Teachings of Ishopanishad | Sain Das |
| Hinduism | Vivekannand |

| | |
|---|---|
| Manual of Psychology | Stout |
| Dialogues concerning Natural Religion | Hume |
| Theology and Religion | Westaway |
| Essay on Man | Alexrander Pope |
| Essay on Superman | Aurobindo |
| Bankim, Tilak and Dayanand | " |
| Promises to Keep | |
| Extracts from the speeches and writings of Jawahar Lal Nehru | |
| De Intellectus Emendatione | Spinoza |
| System of Buddhistic Thought | |
| New Essays in Philosophical Theology | Smart |
| The Doctrine of Maya | Prabhudatta Shastri |
| Hallucinations and Illusions | Edmund Parish |

□

# तत्त्वमसि

## प्रथमोऽध्यायः

**कालत्रयसत्तावन्नित्यम् ॥१॥**

जो सदा से है और सदा रहेगा, अर्थात् जो सब कालों में विद्यमान है वह नित्य कहाता है।

जो आज हैं, कल नहीं—ऐसे '**श्वोभावाः**' पदार्थ नित्य नहीं कहाते। जिसका आदि है उसका अन्त अवश्यम्भावी है, अतः जो अनादि है वही अनन्त होगा। जो काल की गति में आकर नाम-रूप आदि के परिवर्तन से भी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता वह नित्य है[1]। नित्य वस्तु अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखती[2]। किसी कारण से उत्पन्न पदार्थ कार्य होने के कारण नित्य नहीं हो सकता। इसलिए जो पदार्थ अनुत्पन्न, निरवयव एवं त्रिकालवर्त्ती है वही नित्य है। लोकलोकान्तर में जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे विद्यमान तो हैं किन्तु किसी-न-किसी का परिणाम हैं, अर्थात् कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न हैं और जो वस्तु बनती है वह सावयव होने से विकारी एवं अनित्य होती है, इसीलिए जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नहीं होता वह नित्य होता है। ऐसे नित्य पदार्थों का उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

**ईश्वरो जीवः प्रकृतिश्चैतत्त्रयमनादि स्वरूपतः ॥२॥**

ईश्वर, जीव और प्रकृति—ये तीन तत्त्व स्वरूप से अनादि हैं।

जो अनादि-अनुत्पन्न हैं, वे अनिवार्यतः अनन्त हैं और जो अनादि एवं अनन्त हैं वे ही नित्य हैं। नित्य होने से वे अपनी सत्ता के लिए

---

१. **यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै।**
**परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु**·········॥—विष्णु पु० २।१३।१००
**तुलना करें क्रिश्चियन भक्तिमार्ग के शब्दों से**—"जैसा यह प्रारम्भ में था, और जैसा अब है, और सदा रहेगा।"

२. **सदकारणवन्नित्यम्**।—वै० ४।१।१

किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखते। नामरूप जगत् प्रकृति का विस्तार है और कर्मफल का रंगमंच है। जगत् का अनेकत्व प्रकृतिजन्य भोग्य विषयों तथा उनके उपभोक्ता जीवों का परिणाम है। जीवात्माएँ प्रत्येक नये जन्म में इस भौतिक जगत् में कर्म करती हैं और विगत जन्मों में किये कर्मों का फल भोगती हैं। ऐन्द्रिक प्रकृति में शरीर आते हैं जिनमें प्रविष्ट होकर चेतन आत्माएँ विभिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई अपने चरम लक्ष्य=मोक्ष की ओर बढ़ती हैं। इन दोनों—जीवात्मा और प्रकृति की व्यवस्था करनेवाली तीसरी स्वतन्त्र सत्ता परमेश्वर है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥**

—१।१६४।२०

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीव का और केवल साक्षीरूप में ईश्वर का कथन करके, ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के नित्यत्व का प्रतिपादन किया है। इस मन्त्र को मुण्डक (३-१-१) तथा श्वेताश्वतर (४-६) आदि उपनिषदों में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके वेदानुकूल इन तीनों तत्त्वों के अनादित्व का उल्लेख किया है। मुण्डकोपनिषद् में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने "**(सयुजौ) सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यौ आत्मेश्वरौ**" लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार किया है। वे आगे लिखते हैं—"**तयोः परिषक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतरो ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम्।**" इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर—तीनों की स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता का प्रतिपादन किया है।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है—**द्वौ साधूनभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ। तयोर्मध्ये (एकः) जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि**

**कर्मफलं स्वादुकृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः प्रत्यर्थं प्रकाशते।"** इस प्रकार स्वामी आत्मानन्दकृत भाष्य के अनुसार भी ऋग्वेदादि का यह मन्त्र स्पष्टतः जीवेश्वरप्रकृतिभेद का प्रतिपादक है। सृष्टिरचना में इनमें से प्रत्येक का क्या कार्य है, इसका विवेचन अगले सूत्र में किया है—

**निमित्तमुपादानं साधारणञ्च कारणानि त्रिविधानि ॥३॥**

वस्तुतः सृष्टिरचना में तीन कारण हैं—निमित्त, उपादान व साधारण। जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, दूसरों को प्रकारान्तर से बना दे—उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं। निमित्तकारण दो प्रकार का होता है—मुख्य और साधारण। प्रकृति से सृष्टि को बनानेवाला परमात्मा मुख्य निमित्तकारण है। परमेश्वर की बनाई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तिर करनेवाला जीवात्मा साधारण निमित्तकारण है। निमित्तकारण स्वयं अपरिणामी रहकर अपने से इतर पदार्थों को विभिन्न नामरूप प्रदान करता है। अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने-बिगड़नेवाला उपादानकारण कहलाता है। उपादान के बिना कोई वस्तु नहीं बन सकती। उसी से नामरूप की सिद्धि होती है। निमित्त और उपादान से अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन साधारणकारण कहाते हैं। घड़े के बनने में कुम्हार निमित्त-कारण, मिट्टी उपादानकारण तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल आदि साधारणकारण हैं।[1] इस प्रकार किसी भी वस्तु के कार्यरूप में आने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) नामरूप देनेवाली चेतनसत्ता जो स्वयं अपरिणामी रहकर परिणमन में समर्थ हो, (२) मूल उपादान जो स्वयं तो कार्यरूप में परिणत न हो सके किन्तु किसी चेतनसत्ता द्वारा प्रभावित होने पर नामरूप धारण कर सके, (३) वे साधन जो जड़ होने से न तो निमित्तकारण के समान कुछ बना सकें, न स्वयं कुछ बन सकें, किन्तु जिनके सहयोग के बिना नामरूप न दिये जा सकें।

सृष्टिरचना में परमेश्वर निमित्तकारण है, प्रकृति वह उपादान है जिसे विभिन्न नामरूप देकर वह सृष्टि का निर्माण करता है और जीवात्मा वह चेतनसत्ता है जिसके लिए सृष्टि की रचना की जाती

१. But now, O Lord! we are the clay and thou our potter and we are all the world of thy hand. The Bible, Isaiah, 61--8.

है। ऐसा कोई समय नहीं था जब इनमें से किसी एक का भी अभाव रहा हो और न कोई ऐसा समय होगा जब इनमें से कोई एक न रहेगा। ये तीनों सदा से हैं और सदा रहेंगे। हम इसे द्वैत का नाम दे सकते हैं— एक सत्ता जड़ (प्रकृति) और दूसरी चेतन आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा)। इसे त्रिवाद का नाम भी दिया जा सकता है—ईश्वर, जीव व प्रकृति। यद्यपि परमात्मा एक है, जीवात्माओं तथा प्रकृति के परमाणुओं के अनेक होने के कारण इसे अनेकवाद भी कहा जा सकता है। ये तीनों अनादि सत्ताएँ हैं और इनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य हैं।

जीवात्माएँ अनेक हैं, किन्तु अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति। परमात्मा के समान जीवात्माएँ भी अभौतिक हैं, किन्तु अपने निर्वाह एवं विकास के लिए उन्हें भौतिक साधन अपेक्षित हैं। वे अपूर्ण हैं, किन्तु प्रगतिशील हैं। सम्यग्ज्ञान तथा कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए उन्हें परमेश्वर के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। जीवात्मा नित्य हैं— किसी भी अवस्था में उनका नाश नहीं होगा; प्रलय के बाद जब-जब सृष्टि होगी तब-तब अपने कर्मानुसार प्राप्त भोग के लिए वे अपेक्षित शरीर धारण करती रहेंगी।

परमेश्वर भौतिकता से सर्वथा असंपृक्त, सर्वोच्च सत्ता है। न उसकी सत्ता प्रकृति पर निर्भर है और न वह अपनी स्थिति के लिए उसपर आश्रित है। फिर भी वह सबपर शासन करता है। वह सर्वशक्तिमान् है, पर स्वेच्छाचारी नहीं। विधिविधान के अन्तर्गत रहकर ही वह अपना कार्य करता है।

सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के रहते अन्य किसी साधन की अपेक्षा क्यों हो? जगत् को ब्रह्म का परिणाम क्यों न माना जाए? ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता इसी में है कि वह किसी के सहयोग के बिना सृष्टिरचना कर सके। इस शंका का समाधान करने के लिए कहा—

**एकस्मिन्नसम्भवात् ।।४।।**

एकमात्र (ब्रह्म) से जगत्सर्ग होना असम्भव है।

किसी कार्य अथवा परिणाम के लिए अनेक कारण अपेक्षित होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** [यो० २। १८] के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और

भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करने-वाली सत्ता का होना भी आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादानकारण अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल कर्त्ता या भोक्ता हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च'** कहकर किया गया है। ईश्वर के पूर्ण एवं आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए अन्यथा सृष्टिरचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[1] खानेवाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा? इस भोक्ता की संज्ञा 'जीव' है। यदि खाने के लिए कुछ न हो तो खानेवालों को कौन बुलाकर घर में बिठाएगा? भोग्यरूप में प्रस्तुत 'प्रकृति' है। जड़ होने से वह स्वयं भोक्ता नहीं हो सकती। कर्त्ता **के बिना क्रिया नहीं हो सकती।**[2] कर्तृत्व चेतन का धर्म है। अचेतन तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक पुरुषविशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही 'ईश्वर' कहाता है। इसी प्रकार ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान; अध्यापक-अध्येता-अध्ययन; व्याख्याता-श्रोता-व्याख्यान; क्रेता-विक्रेता-क्रय-योग्यसामग्री; पालक-पालित-पालन-साधन; सड़क-सड़क बनानेवाले--उसपर चलनेवाले आदि जब-तक न हों तबतक सांसारिक व्यवहार सम्भव नहीं। सृष्टिरचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों कारण हैं, इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव न होता।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०-१२९) में आये **'तपस्तन् महिना जायतैकम्'** शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यदि ईश्वर न होता तो तपस् का प्रेरक कौन होता? तपस् के अभाव में प्रकृति अव्यक्त रहती। यदि प्रकृति न होती तो तपस् की क्रिया कहाँ होती और यदि जीव न होता तो सृष्टिरचना के निमित्त तपस् की क्रिया किसके लिए होती?

---

१. **न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते ।**

२. **सकर्तृकैव क्रिया ।**—सां० भा० २।१।१८

ऋग्वेद में अन्यत्र (१०-१२१-१) आया **"हिरण्यगर्भः"** शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। यह समस्त पद ईश्वर तथा प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है जिसका अर्थ है—'**हिरण्य** (प्रकृति) को अपने गर्भ में धारण करने-वाला।' प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के गर्भ में समाई रहती है। व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्त दशा में होने के कारण अदृश्य रहती है। ऋग्वेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र (१-१६४-२०) के अनुसार चैतन्यादि गुणों में सदृश, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त, परस्पर सहयोगी दो सत्ताएँ, अनादि मूलरूप कारण और शाखारूपी कार्यवृक्ष अर्थात् प्रकृति से सम्बन्धित हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छी तरह भोगता है और दूसरा अर्थात् परमात्मा '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः**' होने से फलों को न भोगता हुआ सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार सच्चिदा-नन्दस्वरूप ब्रह्म से सच्चित्स्वरूप जीवात्मा तथा सत्स्वरूपा प्रकृति; जीव से ब्रह्म तथा प्रकृति और प्रकृति से ब्रह्म तथा जीव सर्वथा भिन्न तथा अनाद्यनन्त होने से तीनों नित्य हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के लिए तीनों की अपेक्षा है। तीनों को मानकर ही सृष्टिविषयक जिज्ञासा तथा शंकाओं का समाधान सम्भव है।[१]

परन्तु नासदीय सूक्त के नाम से प्रसिद्ध ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में सत्, असत् आदि के निषेध—विशेषतः दूसरे मन्त्र के अन्तर्गत '**तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास**' शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि सृष्टि से पूर्व अन्य कुछ था ही नहीं। इस आपत्ति का ऊहापोहपूर्वक विवेचन अगले सूत्र में हुआ है—

**सदसत्प्रतिषेधः व्याकृतनामरूपप्रतिषेधः ॥५॥**

वेद में सत्-असत् आदि के निषेध का तात्पर्य नामरूपात्मक जगत् का निषेध करने से है।

१. The eternal trinity is the basis of all creation. It answers the three questions : creation by whom, creation for whom and creation whence ?

Dr. Satya Prakash : Man and his Religion, P. 29.

Reality is not one, but two. Two here means more than one.

C. E. M. Joad : Matter, Life and Value, P. 71

यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ जीवात्मा तथा प्रकृति के अस्तित्व को नहीं नकारा गया है। वस्तुतः इस सूक्त में जगत् की उत्पत्ति के कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्तकारण की प्रधानता दर्शाई गई है। जड़ उपादान की तुलना में चेतन निमित्त का आसन निश्चय ही ऊँचा है। मिट्टी की अपेक्षा कुम्हार बड़ा है। घड़ा बनने से पूर्व घड़े का ज्ञान कुम्हार के मस्तिष्क में रहता है। मिट्टी को हाथ लगाने से पहले वह अपने मस्तिष्क में घड़े का चित्रण कर लेता है। निमित्तकारण की यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये **'इयं विसृष्टिर्यत आबभव'** शब्दों से स्पष्ट है। मीमांसा दर्शन के 'प्रशंसा' सूत्र (१-४-२६) में **'अयज्ञो वा एष असामा' 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो वा गोऽश्वाः'** इत्यादि वाक्यों पर विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्यान्य पशुओं की तुलना में गो आदि की और इसी प्रकार अन्यान्य यज्ञों की तुलना में विधेय सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा के लिए ही अन्य पशुओं को 'अपशु' और अन्य यज्ञों को 'अयज्ञ' कहा गया है। यह स्तुति अर्थवाद है, अर्थात् यहाँ अभीष्ट की केवल स्तुति की गई है। ऐसे स्तुतिवाक्य अभीष्ट के प्रति श्रद्धान्वित कर अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं, अतः ये विधिवाक्य नहीं होते। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में **'नासदासीन्नो सदासीत्'** इत्यादि में सत्-असत् के अभाव का निर्देश कर तथा **'तस्माद्धन्यन्न परः किं चनास'** जैसे शब्दों का प्रयोग करके ब्रह्म की उत्पादक-शक्ति की प्रशंसा प्रधानत्व-द्योतन के लिए है, न कि सत् प्रकृति आदि के निषेध के लिए। मीमांसकों का न्याय है—**'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु स्तोतुम्'**। इसी प्रकार यहाँ भी समझें—**'न हि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धं प्रवृत्तः, अपितु परब्रह्म प्रशंसयितुं तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा।'**

प्रलयावस्था में सब-कुछ अभावरूप नहीं हो जाता। परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं होती जैसी सर्गकाल में देखी जाती है अर्थात् सर्गकाल के समान लोक-लोकान्तर, भोक्ता आत्मा, उसके सुख आदि उपभोग के साधन देह आदि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि उस समय नहीं थे। यह सब 'नो सदासीत्' का व्याख्यान है। अभिप्राय यह कि 'सत्' पद का प्रयोग यहाँ 'व्यक्त' जगत् के लिए हुआ है। चौथी ऋचा में भी 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' के अर्थों में हुआ है।

'सत्' का निषेध तो समझ में आता है, किन्तु 'सत्' और 'असत्'

दोनों का एकसाथ निषेध कैसे सम्भव है ? उधर छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—"कुछ लोग कहते हैं कि पहले एकमात्र 'असत्' ही रहता है। उस असत् (अभाव) से सत् (भाव) हो जाता है। हे सौम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् कैसे हो सकता है ? इसलिए, हे सौम्य ! पहले सत् ही था।"[1] वहीं पर अन्यत्र कहा है कि पहले असत् ही था।[2] सत् और असत् परपस्पर-विरोधी हैं। दोनों एकसाथ कैसे रह सकते हैं ? इतना ही नहीं, उपनिषद् ने एकत्र ही **'असदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीत्'** भी कह दिया। इस प्रकार जहाँ श्रुति (वेद) 'सत्' और 'असत्' दोनों का निषेध करती है, वहाँ उपनिषद् दोनों का एक-साथ उपपादन करती है, इसलिए यहाँ सत् और असत् का निषेध होने से आपाततः 'सदसद्विलक्षण' तत्त्व की खोज में प्रवृत्त होना स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर-प्रसंग को देखते हुए सर्वथा असंगत है। विष्णु-पुराण में जहाँ प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा) तथा परमात्मा का वर्णन है, वहाँ प्रकृति के स्वरूप का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"ऋषियों ने 'प्रधान' नामक जो जगत् का अव्यक्त कारण कहा है, वही सूक्ष्म प्रकृति है। वह नित्य तथा सद्रूप एवं असद्रूप है।"[3]

इस उलझन का कारण 'असत्' को 'अभाव' का पर्याय समझना है। वस्तुतः 'सत्' व्याकृतनामरूप अवस्था का वाचक है और 'असत्' अव्याकृतनामरूप अवस्था का। जबतक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब-तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में सदा विद्यमान रहना 'सद्रूप' कहाता है और कार्यरूप में न रहना 'असद्रूप'। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन **'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'** कहकर किया है। प्रलय-दशा में मूल कारण (तमः) अन्धकार से (तमसा) आवृत्त रहता है। उस अवस्था में समस्त दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ

---

१. **तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सौम्य ! एवं स्यादिति। होवाच, 'कथमसतः सज्जायेतेति'। सत्त्वेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**—छा० ६।२।१-२

२. **असदेवेदमग्र आसीत्।**—छा० ३।१९।१

३. **अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।**
**प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥**—वि० पु० १।२।१९
तुलना करें : **निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गम्।**
—योगसूत्र २-१९ व्यासभाष्य

अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। ऋग्वेद के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—"सृष्टि से पहले यह जगत् तमोभूत (कारणरूप) होने से न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य होता है।"[1] समस्त व्याकृत जगत् कारण में लीन होने से ज्ञेय नहीं था, इसलिए कहा गया कि 'सत्' नहीं था; परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता? वह कारणरूप में तत्त्वतः विद्यमान था, इसलिए कहा गया कि 'असत्' नहीं था। विष्णुपुराण में जगत्सर्ग से पूर्व प्रलय-दशा का वर्णन इन शब्दों में किया है—"प्रलयकाल में दिन-रात, द्यु, भूमि आदि कुछ भी न था। उस समय श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध न होनेवाला प्रधान (प्रकृति), ब्रह्म तथा पुरुष (जीव) ही था।"[2] विष्णु-पुराण के इस वर्णन में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की ध्वनि है। टीका-कार श्रीधर स्वामी ने प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम चरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रलयकाल में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति इन तीन तत्त्वों का अस्तित्व था।[3] प्रकृति का कार्यरूप जगत् उस समय नहीं था। मूलतः प्रकृति शब्द-स्पर्शादि व्यक्त रूपों से रहित है। कारणावस्था में रहते हुए वह केवल त्रिगुणात्मक है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। विष्णुपुराण के उक्त सन्दर्भ में २१वें श्लोक में 'त्रिगुणं तज्जगद्योनिः' कहकर स्पष्ट कर दिया गया कि सृष्टि का उपा-दान कारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है, चेतन ब्रह्म नहीं। स्वामी

---

१. **आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।**
**अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥**—मनु० १।५

तुलना करें—

In solitude where Being signless dwelt,
And all the universe still dormant lay,
In selfishness, one Being was exempt,
From I or thouness, and apart from all duality.
—Encyclopaedia of Religion & Ethics, P. 16-17

२. **नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत् तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्।**
**श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्मपुमांस्तदासीत्॥**
—वि० पु० १।२।२३

३. **प्राधानिकं—प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत्।**

शंकराचार्य को भी स्वीकार करना पड़ा—"कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् कहना अत्यन्ताभाव के अभिप्राय से नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्याकृत होने के कारण है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के नामरूप अव्याकृत रहते हैं, उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त होते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है।"[1]

विवेच्य सूक्त के द्वितीय मन्त्र में सदसत् के अतिरिक्त जिन वस्तुओं के अस्तित्व को नकारा गया है उनमें मुख्य हैं—मृत्यु, अमृत, प्रकाश व अन्धकार में भेद तथा प्राण। ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा है कि सर्ग से पूर्व एक परमात्मा था। अन्य कोई वस्तु गति में नहीं थी।[2] कारणावस्था में होने से जगत् में किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं था। जब किसी का जन्म ही नहीं हुआ था तो मृत्यु कैसे होती ? इसलिए मृत्यु नहीं थी। जब कोई न जन्म लेता था, न मरता था तो मृत्यु से छुटकारा पाने (मोक्ष-लाभ करने) का प्रश्न ही नहीं था। इसलिए अमृत नहीं था। सर्गकाल में जिन पदार्थों के कारण काल के दिन और रात विभाग होते हैं, वे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रलयकाल में न थे। दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही हैं जिनके होने से दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। इस प्रकार जब अभी सूर्य की सृष्टि नहीं हुई थी तब प्रकाश और अन्धकार में भेद कैसे हो सकता था ? जबतक जीवात्मा ने कोई शरीर धारण नहीं किया था, तबतक उसे प्राण की अपेक्षा क्यों होती ? इसलिए प्राण नहीं था।

सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में भी विद्यमान जिन दो वस्तुओं (ब्रह्म से अतिरिक्त) का निर्देश सूक्त में स्पष्ट उपलब्ध है, वे हैं—'स्वधा' तथा 'रेतोधाः'। वेद में स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि अनेक नामों से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का निर्देश हुआ है। जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी परमेश्वर अकेला नहीं था। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** में तृतीया विभक्त्यन्त 'स्वधा' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता थी। प्रकृति के साथ ही (स्वधया) ब्रह्म विद्यमान था। एक क्रिया के साथ

---

१. न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः। किं तर्हि ? व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव।—शां० भा० २।१।१७

२. आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन मिषत्। ऐत० १।१

दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। इससे उन पदार्थों के निश्चित रूप से दो होने के साथ-साथ यह भी स्वतःसिद्ध है कि उन दोनों में एक मुख्य (प्रधान) अथवा उत्कृष्ट है और तृतीयान्त दूसरा अप्रधान अथवा अपकृष्ट है। अचेतन, चेतन के अधीन और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है अतः दोनों तत्त्वों में चेतन ब्रह्म उत्कृष्ट (पर) है और अचेतन स्वधा (प्रकृति) अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी ब्रह्म की अपेक्षा अपकृष्ट है। उस (प्रलय) अवस्था में स्वधा का विद्यमान रहना यह प्रकट करता है कि समस्त कार्य तब केवल अपने उपादान-कारण-रूप में अवस्थित रहता है। यही बात **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (ऋ० १-१२१-१) में कही गई है। प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में थी। उसे व्यक्त करके उसी के सहयोग से उसने सृष्टि की रचना की। गीता में कहा है कि "मेरे अधीन उपादानकारण जो प्रकृति है, उसमें मैं गर्भ को धारण कराता हूँ। सब प्राणियों की उत्पत्ति इसी से होती है। सब योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उनका उपादानकारण है और मैं बीज देनेवाला पिता हूँ।"[1] इस प्रकार प्रकृतिरूपी माता और परमात्मारूपी पिता के संयोग से सृष्टिरचना होती है। 'महद् ब्रह्म' से यहाँ प्रकृति अभिप्रेत है। मूल उपादान होने से प्रकृति समस्त कार्यसमूह से बड़ी है। इसीलिए उसे 'महत्' कहा गया है और कार्यरूप में वृद्धि का कारण होने से ब्रह्म। इस प्रकार महद्ब्रह्म प्रकृति का वाचक है।[2] प्रकारान्तर से इन श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप में प्रकृति का उपपादन किया है।

सूक्तगत 'रेतोधाः आसन्' पदों से यह भी स्पष्ट है कि 'स्वधा' के अतिरिक्त 'रेतोधाः'—रेतस् को धारण करनेवाले जीवात्मा भी सर्ग से पूर्व विद्यमान थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है—

---

१. **मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥**—गीता १४।३।४

२. **महद्योनि अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है।** तिलक : गीतारहस्य, १४।३
Great Brahma (Prakriti) is my womb.
—Radhakrishnan : Gita

**"रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन् ।"** इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्गकाल में ब्रह्म स्वयं जीवरूप में परिणत नहीं हुआ। ब्रह्म के साथ-साथ जीव पहले से विद्यमान थे। बहुवचनान्त 'रेतोधाः' से यह भी स्पष्ट है कि ये जीव संख्या में अनेक या असंख्य थे। इस प्रकार इस सूक्त में विस्पष्ट शब्दों में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के अनादित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

प्रलय के पश्चात् तथा सर्ग से पूर्व शरीरधारी न होने के कारण प्रलयकाल में जीवों की नामरूप पहचान नहीं की जा सकती। उस अवधि में वे मूर्च्छित अथवा सुषुप्ति की अवस्था में निष्क्रिय पड़े रहते हैं। जगत्सर्ग में अव्यक्त न रहकर सब-कुछ व्यक्त हो जाता है। प्रकृति अनेकविध नामरूप धारण करने लगती है। जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मों के अनुसार भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होती हैं और इस प्रकार सृष्टिक्रम चालू रहता है।

सर्गकाल में उपलब्ध अनेक वस्तुओं का निषेध प्रकारान्तर से प्रलय-काल की अवस्था का संकेत करने के लिए किया गया है। प्रकृति तब भी विद्यमान थी, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण वह ज्ञेय नहीं थी। मिश्रवासियों के अनुसार एक समय ऐसा था जब न धरती थी, न आकाश, सब-कुछ गहरे अन्धकार में डूबा था। अन्ततः परमात्मा ने सृष्टिरचना की इच्छा की। उसने ईक्षण किया[1] और उसकी पूर्वकल्पना के अनुसार सृष्टि बन गई।[2]

द्वितीय ऋचा के उत्तरार्ध में प्रतिपादित अर्थ को तृतीय ऋचा में और अधिक स्फुट करके प्रलयकाल की अवस्था को स्पष्ट किया है। इस ऋचा में जगत् के मूल उपादानकारण के लिए 'तमस्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस ऋचा के अन्तिम चरण में प्रलयकाल के अनन्तर आनेवाले सर्ग का आभास दिया गया है। **'तपस्तन्महिना जायतैकम्'** इन शब्दों से स्पष्ट है कि प्रलय-दशा में मूल उपादानकारण के साथ एकी-भूत हुआ जगत् तेजोमय ब्रह्म की महिमा अर्थात् संकल्पात्मक प्रेरणा के द्वारा पुनः उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि जिस दृश्यमान कार्य जगत् को मूल उपादान कारण ने अपने भीतर छिपाया हुआ था वह

---

१. **तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति।**—छा० ६।२।३
२. **यथापूर्वमकल्पयत्।**—ऋ० १०।१९०।३

सर्गकाल में परमात्मा की प्रेरणा से अपने कारणरूप से कार्यरूप में आ जाता है।

चतुर्थ ऋचा में इस बात का विवेचन करके कि अव्यक्त मूल उपादान को उसके अचेतन होने के कारण सर्गोन्मुख होने के लिए चेतन संकल्प और प्रेरणा की अपेक्षा है, पंचम ऋचा द्वारा आदिसर्ग के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डालने के साथ-साथ सर्गकाल के उपसंहार के रूप में चेतन तथा अचेतन की स्थिति स्पष्ट करते हुए यह घोषणा कर दी गई कि क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रकृति स्वतः कुछ नहीं कर सकती, इसलिए उसका नियन्ता चेतन ब्रह्म उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। पाँच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदिसर्ग के सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिये गये। फिर छठी और सातवीं ऋचाओं के द्वारा इसकी अधिक व्याख्या की गई। छठी ऋचा में पूछा गया—"यह विचित्र सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? कौन इसे धारण करता है? कौन इसका स्वामी है?" इत्यादि। सूक्त की अन्तिम ऋचा में इसका उत्तर देते हुए कहा गया—"यह विविध सृष्टि जहाँ से उत्पन्न होती है, जो इसे धारण करता है और अन्ततः जिसमें विलीन हो जाती है, वह सर्वव्यापक परमात्मा है।

इस प्रकार इस सूक्त में उपादानरूप प्रकृति, उसके भोक्ता जीवात्मा और सबके नियामक परमात्मा—इन तीनों अनादि सत्ताओं का स्पष्ट वर्णन किया गया है। ईश्वर विश्व-सम्बन्धी व्यवस्था के अन्दर इस विश्व को इसके परम-आधार के रूप में धारण करता है, प्रलय होने पर समेटकर अपने भीतर धारण किये रहता है और आगामी सर्गकाल में इसे पुनः अव्यक्त से व्यक्त कर देता है। अनादि काल से यह क्रम चलता आया है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। रामानुज के अनुसार "प्रकृति तथा जीव पूर्णतः परमात्मा के अधीन हैं जो अन्तर्यामी रूप में समस्त जड़-चेतन का नियमन करता है। अनादि काल से इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी अवस्था में उनका ब्रह्म में विलय नहीं होता। प्रलयकाल में जब वे नामरूप खोकर कारणावस्था को प्राप्त होते हैं तब भी परमात्मा बीजरूप में प्रकृति तथा जीवों को अपने

भीतर धारण किये रहता है।"[1] प्रलय के बाद जगत्सर्ग होने पर अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होने पर इन्द्रियों का विषय बन जाती है और जीवात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुरूप देह धारण करके पूर्वजन्म में किये कर्मों का फलोपभोग करने और भविष्य के लिए कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता को देखते हुए उसे किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए—पूर्वपक्ष के रूप में इसे अगले सूत्र में उपस्थित किया है—

**बाह्यनिरपेक्षं ब्रह्म सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥६॥**

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करना—उनके करने में उसे किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इन्हें वह अपने स्वभावगत सामर्थ्य से कर सकता है। यदि वह भी हमारी तरह बाह्य पदार्थों के बिना सृष्टि-रचना नहीं कर सकता तो परमात्मा में और जीवात्मा में क्या भेद रह जाता है और फिर 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का क्या अर्थ रह जाता है ? परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता इसी में है कि वह अकेला जो चाहे सब कर सकता है। इस मत का विवेचन अगले सूत्र में किया है--

**न सर्वशक्तिमत्त्वादसतो भावः ॥७॥**

सर्वशक्तिमान् असत् (अभाव) को सत् (भाव) नहीं बना सकता।

'सर्वशक्तिमान्' का यह अर्थ नहीं कि परमात्मा जो चाहे कर सकता है। यह ठीक है कि उसके ऊपर कोई नहीं है, तथापि यह समझ लेना कि वह जो करे सो न्याय, भूल होगी। वह वैधानिक सम्राट् है जो

१. They (soul and matter) are entirely dependent on and subservient to the Lord who pervades and rules all things, material and immaterial, as their inmost self, 'antar-yamin'. Their individual existenee has been there from all eternity and will never be entirely resolved into Brahman. In 'pralaya' state which occurs at the end of each world period, distinction of names and forms disappear. Even then Brahman contains within itself matter and souls in a 'bija' or seed condition.

—Radhakrishnan : Brahmasutra, P. 53-54

संविधान के अन्दर रहते हुए शासन करता है। उसे अपने पूर्वघोषित नियमों का उल्लंघन करने अथवा यदृच्छया उनमें संशोधन-परिवर्धन करने का अधिकार नहीं है। अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में बलदेव ने 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (२-१-३७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमात्मा पूर्ण न्यायकारी होते हुए भी अपने भक्तों पर विशेष अनुग्रह कर सकता है।[1] ऐसे परमात्मा को सांसारिक प्रशासकों से अच्छा नहीं माना जा सकता। जीवात्मा के कर्म स्वातन्त्र्य को छीनकर उसे अपनी इच्छानुसार कर्म में प्रवृत्त करने, कृतहानि या अकृताभ्यागम का विचार किये बिना कर्मफल देने जैसे मनमाने कार्य करने की उसे छूट नहीं है।

वस्तुत: अपने गुण-कर्म-स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति, आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें वह नहीं कर सकता। असम्भव को सम्भव बनाना उसकी शक्ति से बाहर है। ईसाई सन्त तथा विचारक संट थामस ने लिखा है कि परमेश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता। न स्वयं पाप में प्रवृत्त हो सकता है और न अपनी सत्ता को नष्ट कर दूसरा ईश्वर बना सकता है।[2] प्लेटो का कथन है कि परमात्मा मिथ्या-आचरण नहीं कर सकता, न कोई ऐसा काम कर सकता है जो उसके शुभ गुणों के विरुद्ध हो।[3]

परमात्मा अलादीन के लैम्प की तरह सब-कुछ नहीं दे सकता। न वह जादूगर की तरह सूर्य को जहाँ चाहे वहाँ रोक देने या बन्दूक की गोली को चलने के बाद बीच में रोक देने जैसे तमाशे कर सकता है।

---

१. राधाकृष्णन : ब्रह्मसूत्र, २।१।३७

२. He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist.—Bertrand Russell : History of Western Philosophy, P. 480

३. Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in words or in deeds or to put forth a phantom of himself.—See Plato : Republic in Five Great Dialogues, Translated by B. Jowett, P. 285.

Can God restore virginity to a prostitute ?—Anslem

Can He produce a stone which he cannot lift ?

Can He construct a triangle whose any too sides together should be shorter than the third ?

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अभाव कभी भावरूप में परिणत नहीं हो सकता और न भाव ही कभी अभावरूप हो सकता है।[1] अभाव केवल अभाव है। जिसकी अपनी सत्ता नहीं, उससे सद्रूप जगत् कैसे बन सकता है? प्रलयावस्था में स्वधा=जगत् के उपादानकारण प्रकृति के साथ परमात्मा सदा अवस्थित रहता है। सर्गकाल में उसी अव्यक्त प्रकृति को कार्यरूप में परिणत कर वह जगद्रचना करता है। प्रकृति को नियन्त्रित करनेवाली शक्ति के रूप में सच्चिदानन्द परब्रह्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है, अभाव को भावरूप करना अथवा स्वयं अभौतिक होते हुए भी अपने में से जगत् के उपादान प्रकृति का सृजन करना उसकी शक्ति से बाहर है।

**नादृष्टत्वात् ॥८॥**

न देखे जाने के कारण भी (असत् से सत् नहीं हो सकता)।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होना कहीं देखने में नहीं आता। ऐसा कार्य-कारणभाव कहीं नहीं देखा जाता। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव होती तो किसी कार्य के लिए कारण खोजने की आवश्यकता न होती। दूध के बिना दही, मिट्टी के बिना घड़ा, सूत के बिना वस्त्र और बीज के बिना वृक्ष बनते किसने देखा है? ऐसा होने लगे तो कार्य-कारण की व्यवस्था ही नष्ट हो जाए, किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। कहा जा सकता है कि जबतक बीज का अपना स्वरूप बना रहता है तबतक उससे अंकुर नहीं फूटता। जब गल-सड़कर वह अपने स्वरूप को खो बैठता है, अर्थात् नष्ट होकर अभाव की स्थिति में आ जाता है तभी अंकुर फूटता है। बीज को तोड़कर देखें तो उसमें अंकुर कहीं नहीं दीख पड़ता। इससे प्रमाणित होता है कि अंकुर का कारण बीज नहीं, बीज का अभाव है। इस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध है। किन्तु यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव है तो बीज की आवश्यकता ही क्या है? बीज का न होना या गल-सड़कर नष्ट हो जाना दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तब बीज के बिना अथवा गले-सड़े, घुने हुए या जले हुए बीज से भी अंकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए। इतना ही नहीं, एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की— आम की गुठली से जामन की, नींबू के बीज से कटहल या गन्ने की,

---

१. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**—गीता २।१६

बेर से अंगूर की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—**'बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय'** ? वस्तुतः नष्ट बीज से उत्पत्ति नहीं होती। बीज का गलना उसका नष्ट होना नहीं, अंकुर की उत्पत्ति के लिए अवस्थान्तर को प्राप्त होनामात्र है। उसके आवश्यक तत्त्व सदा बने रहते हैं। यदि बीज के उपमर्दकाल में सहयोगी कारणान्तरों की उपस्थिति को आवश्यक माना जाता है तो अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त तत्काल उखड़ जाता है, क्योंकि उपमर्द के सहयोगी कारणान्तर—मिट्टी, नमी, गरमी आदि सभी भाव-रूप हैं। वस्तुतः बीज और बीज के सहयोगी वे भावरूप कारण ही भावरूप अंकुर के उत्पादक होते हैं।

इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**अभावत्वाविशेषात्कारणविशेषानर्थक्यम् ॥६॥**

अभाव के सर्वत्र समान होने से कारणविशेष की कल्पना करना व्यर्थ है।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती हो तो किसी कार्य के लिए विशेष कारणों का उपादान खोजना निरर्थक हो जाए। तब दही के लिए दूध की, घड़े के लिए मिट्टी की, चूड़ियों के लिए सोने या काँच की और मकान के लिए ईंट, सीमेण्ट आदि की आवश्यकता क्यों हो ? ऐसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि हम जानते हैं कि कार्यविशेष के लिए कारणविशेष का होना अनिवार्य है। चाहे जिस कार्य के लिए चाहे जिस उपादान का ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।[1] यदि अभाव से वस्तुओं की उत्पत्ति हो सकती है तो पौधे को अंकुरित करने के लिए बीज के रूप में शश-शृङ्ग काम दे सकता था। तब 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' का क्या अर्थ रहता ? परन्तु देखा यह जाता है कि काँटे भी काँटेदार पेड़ों पर ही उगते हैं, उनपर नहीं जो काँटेदार नहीं हैं। यदि यह कहा जाए कि विशिष्ट गुणों से युक्त विभिन्न प्रकार के अभाव होते हैं तो वे अभाव न रहकर स्वतः भावरूप हो जाएँगे।

इसी विषय में कुछ और हेतु अगले सूत्रों में प्रस्तुत हैं—

---

१. सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्। सां० १।११६ (८१)

**अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गः ॥१०॥**

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाए तो कुछ भी अलभ्य न रहे, किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता।

यदि अभाव अथवा कल्पना से पदार्थ उपलब्ध हो सकते हों तो किसी कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न क्यों आवश्यक हो? क्यों तदर्थ अपेक्षित उपादान एवं साधन जुटाने पड़ें? खेत में बीज डाले बिना घर-बैठे किसान के घर में अन्न से भण्डार भर जाएँ और मिट्टी के बिना कुम्हार के घर में बर्तनों के ढेर लग जाएँ। इच्छा होते ही अभीष्ट की प्राप्ति हो जाया करे। रामानुज के अनुसार, यदि कारण के बिना कार्य की सिद्धि सम्भव हो तो सर्वथा निष्क्रिय लोग भी बैठे-बिठाये अभि-वांछित कार्यों में अनायास सफलता प्राप्त कर लिया करें—यहाँ तक कि बिना किसी पुरुषार्थ के किसी-न-किसी जन्म में मोक्ष पाने में भी सफल हो जाया करें, किन्तु ऐसा होता नहीं।

**अभावाद्भावोत्पत्तावभावरूपोपपत्तिः ॥११॥**

अभाव से भावरूप होने पर कार्य अभावरूप होना चाहिए। (किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता)।

परस्पर विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उपादान कारण के गुण-कर्म-स्वभाव उसके कार्य में तत्त्वतः अवश्य होते हैं।[1] हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को सोने का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बनी चीज़ मिट्टी जैसी और सोने से बनी सोने जैसी अवश्य होती है। तदनुसार अभाव से उत्पन्न पदार्थ अभावरूप होने चाहिएँ। परन्तु समस्त आनुभविक जगत् भाव-रूप दीख पड़ता है, इससे सिद्ध है कि अभाव कभी भावरूप नहीं हो सकता।

अब सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया बताते हैं—

**संयोगवियोगाभ्यां सृष्टिः ॥१२॥**

(परमाणुओं के) संयोग (संश्लेषण) तथा वियोग (विश्लेषण) से सृष्टि की रचना होती है।

विश्व का विकास एक व्यवस्थाविशेष के अनुसार ही होता है। परमेश्वर के ईक्षण द्वारा क्षोभ उत्पन्न होने पर जब प्रकृति की

---

१. **कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।**—वै० २।१।२४

साम्यावस्था भंग होती है और वह व्यक्तावस्था की ओर अग्रसर होती है तो सबसे पहले महत् की और तदनन्तर अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न होकर तत्त्व तन्मात्र के सूक्ष्मतम अवयवों के रूप में आता है। मूलतः सत्त्व-रजस्-तमस् के साम्य से उत्पन्न होने के कारण परमाणु प्रकृति का परिणाम अथवा कार्य है। प्रकृति की कार्यावस्था में परमाणु सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्यसृष्टि की रचना सम्भव नहीं। इस प्रकार कार्यावस्था में प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार जगत् की उत्पत्ति में कारण होने से द्रव्य की परमाणु-अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है। वास्तव में तन्मात्र के रूप में उद्भूत होने से स्वयं प्रकृति का कार्य तथा साथ ही स्थूलाकार जगत् का उपादान कारण होने से परमाणु प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं। इन्हीं परमाणुओं के विभिन्न अनुपात और रूपों में संयुक्त होने से स्थूलाकार जगत् की रचना होती है।

स्थूल प्रकृति से निर्मित विविध जगत् सूक्ष्मभूतों के संयुक्त रूपों से मिलकर बना है। सबसे पहले आकाश उत्पन्न होता है।[1] उसके अनन्तर अन्य तत्त्व क्रमशः प्रकाश में आते हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी का प्रादुर्भाव होता है।[2]

---

१. वस्तुतः आकाश उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ सदा सावयव और परिणामतः परिच्छिन्न तथा नाशवान् होता है, जबकि आकाश निरवयव, व्यापक तथा अविनाशी है। यदि आकाश न हो तो प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहरें? इसलिए आकाश सदा विद्यमान रहता है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रलयदशा में मूल उपादान तत्त्वों से जो आकाश भरा रहता है, सर्गदशा आने पर मूलतत्त्वों के जगद्रूप में परिणत हो जाने से वह प्रकट जैसा हो जाता है, यह प्रकट होना ही उत्पन्न होना कह दिया जाता है। उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थों का आकाश के साथ सम्बन्ध निश्चितरूप से बना रहता है। इस सम्बन्ध के कारण प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का उपचार आकाश में हो जाता है। जीना-मरना देह का धर्म है। परन्तु व्यवहार में हम 'देवदत्त मर गया' कहते हैं। शरीर के सम्बन्ध से नित्य आत्मा में यह व्यवहार गौणरूप से होता है। आकाश का उत्पन्न होना भी इसी प्रकार गौणरूप से कथन किया गया है।

२. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नमन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः। तै० १।१

स्थूल तत्त्व परिवर्तनों (परिणामों) के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। प्रकृति निरन्तर अवस्था के परिवर्तन में से गुज़र रही है। प्रलय में सृष्टिरचना की व्यवस्था सर्वथा विपरीत दिशा में होती है। प्रलयदशा में परमाणुओं के वियोग अथवा विश्लेषण के द्वारा पृथिवी पुनः जल में परिणत हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में।[1]

**चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य**
**प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तन्निमित्तमीश्वरः ॥१३॥**

चेतन निरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति न होने से ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है।

प्रत्येक कार्य के कारण जड़ और चेतन दो भागों में विभाजित रहते हैं। केवल जड़ उपादान-तत्त्व से चेतन की प्रेरणा के बिना जगत् की रचना नहीं हो सकती। किसी कार्यविशेष के लिए की जानेवाली विशिष्ट क्रिया का नाम 'प्रवृत्ति' है। जड़तत्त्व में ऐसी क्रिया चेतन-सम्बन्ध से हो पाती है, स्वतः नहीं। इसीलिए जड़तत्त्वों से निर्मित मृत शरीर में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। चेतन आत्मा यह विचार करता है कि मुझे अमुक कार्य करना है। तब उसके लिए अपेक्षित सामग्री को एकत्र-कर उसके परिणाम के अनुकूल प्रवृत्ति (क्रिया) को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अभिलषित कार्य सामने आ जाता है।

जिन तत्त्वों के संयोग-वियोग से सृष्टि की रचना हुई है वे सब अचेतन हैं। इसलिए वे स्वयं अपना विकास नहीं कर सकते। चेतन प्रेरणा के बिना प्रकृति स्वतः जगद्रूप में परिणत नहीं हो सकती। **'सकर्तृकैव क्रिया'** इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के बिना कोई क्रिया नहीं होती और न क्रियाजन्य किसी पदार्थ की रचना होती है। जिन

---

१. तुलना करें, ड्यूसन—इस प्रकार का मत सम्भवतः क्रमिक विकास की शिक्षा की प्रेरणा के ऊपर तथा तत्त्वों के विलय के विषय पर भी कुछ प्रकाश डाल सके जिसके विषय में हमें और कुछ ज्ञान नहीं है; इस प्रकार का पर्य-वेक्षण कि ठोस पदार्थ जल में घुल जाते हैं, एवं जल गरमी पाकर वाष्प के रूप में परिणत हो जाता है, अग्नि की लपटें वायु में विलीन हो जाती हैं और वायु ऊँचाई के अनुसार अधिकाधिक रूप में सूक्ष्म होता हुआ आकाश में विलीन हो जाता है, हमें जगत् की क्रमिक प्रलय-प्रक्रिया का मार्गदर्शन करा सके और इसके विपरीत क्रम से जगत् की उत्पत्ति का भी दिग्दर्शन करा सके, यह सम्भव है।—ड्यूसन : सिस्टम ऑफ़ वेदान्त, पृ० २३७

पृथिवी आदि पदार्थों की संयोगविशेष से रचना होती है वे अनादि नहीं हो सकते। जो संयोग से बनता है उसका संयोग करनेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा अवश्य होता है। घी, सूजी, चीनी आदि को पास-पास रख देने पर हलवा नहीं बन जाता; हल्दी, चूना और नींबू को एकसाथ रख देने से रोली नहीं बन जाती; कागज़, ब्रुश और रंग पास-पास रख देने से चित्र तैयार नहीं होता; कागज़, लेखनी और स्याही एकत्र रख देने से पुस्तक नहीं लिखी जाती। इसी प्रकार जड़ परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से मिलाये बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। मकड़ी के देह से जाला बनता है, परन्तु तभी तक जबतक क्रिया का प्रेरक चेतन आत्मतत्त्व वहाँ बैठा है। मकड़ी का मृत शरीर जाला नहीं बना सकता, यद्यपि वे तत्त्व तब भी ज्यों-के-त्यों विद्यमान रहते हैं। ऐसे ही कारणरूप में विद्यमान जगत् चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ उपादान-तत्त्व से कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता।

लोक में चेतन मानव द्वारा की गई रचनाओं में व्यवस्था व प्रयोजन प्रत्यक्ष देखा जाता है। कोई भी अचेतन पदार्थ बिना किसी बुद्धि-सम्पन्न की प्रेरणा के अपने अन्दर से ऐसे पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता जो मनुष्य के प्रस्तुत उद्देश्यों की सिद्धि में सहायक हों। ऊँचे-ऊँचे मकानों, प्रमोद उद्यानों, सुख-सुविधा के प्रसाधनों, नहरों, सड़कों आदि का निर्माण मेधावी कलाकारों के द्वारा ही सम्पन्न होता है जिनका उद्देश्य अनेकविध कष्टों को दूरकर सुख प्राप्त कराना है। अनुभव हमें बताता है कि मिट्टी भी भिन्न-भिन्न आकृतियाँ तभी धारण करती है जब कुम्हार इस कार्य में प्रवृत्त होता है। यह प्रयोजन व व्यवस्था केवल मानव-रचनाओं में ही नहीं, अपितु तिर्यक् प्राणियों की रचनाओं में भी देखी जाती है। प्रसव से पूर्व सामान्य चिड़ियाँ घोंसला बनाने में तत्पर देखी जाती हैं। बया जैसा छोटा-सा पक्षी अत्यन्त सुन्दर, कलात्मक तथा सुदृढ़ घोंसला बनाता है। व्यवस्था के साथ किसी विशेष प्रयोजन से रचना करना चेतन के द्वारा ही सम्भव है, जड़ पदार्थों में स्वत: ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इस संसार के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। जगत् के मूल उपादान जड़तत्त्व स्वयं व्यवस्थित जगत् की रचना नहीं कर सकते। लोक-लोकान्तरों की रचना में जो आश्चर्यजनक कौशल दीख पड़ता है वह

किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की अपेक्षा रखता है। परोक्षरूप में मूल उपादान-तत्त्वों को सर्वत्र-सर्वदा प्रेरणा देनेवाला ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि "पुमान्—परमात्मा योषित्—प्रकृति में प्रेरणारूप रेतः सिंचन करता है और इस प्रकार पुरुष से समस्त प्रजा प्रसूत होती है।[1] जगत्सर्ग के लिए ईक्षण द्वारा प्रकृति में प्रेरणा देना ही रेतःसिंचन है।

निमित्तकारण उपादान-तत्त्वों से नामरूप की सृष्टि करता हुआ स्वयं अविकारी एवं अपरिणामी रहता है। अपने बनाये पदार्थों पर अपनी बुद्धि, कौशल तथा सामर्थ्य की छाप छोड़कर वह उनसे अलग रहता है—उनमें भागीदार नहीं होता। इसीलिए उसे जानने और पाने के लिए प्रयास अपेक्षित है।

जड़ तत्त्वों को स्वतः कार्यरूप में परिणत होते देखा जाता है, कतिपय दृष्टान्तों द्वारा इसकी पुष्टि करते हुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके उसका समाधान करते हैं—

**अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः क्षीरादिवद् द्रव्यस्य स्वभावविशेषात् ॥१४॥**

निमित्तकारण के बिना, दुग्धादि के समान, द्रव्यों के स्वभावविशेष के कारण सृष्टिरचना सम्भव है।

प्रकृति का ऐसा स्वभाव है कि वह जगद्रूप में परिणत हो जाती है, इसके लिए किसी चेतन की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। किसी वस्तु के स्वभाव में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है। गाय आदि पशु घास खाते हैं। वह घास स्वतः दूध के रूप में परिणत हो जाती है। चुम्बक बिना किसी चेतन प्रेरणा के लोहे को आकर्षित करता है। इसी प्रकार प्रकृति के परमाणु स्वभाव से ही जगद्रूप में प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इसमें किसी चेतन की प्रेरणा के लिए कोई अवसर नहीं।

**न बाह्यसाधनमन्तरेण ॥१५॥**

बाह्य निमित्त के बिना यह सम्भव नहीं।

वस्तुतः दूध का दही में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप-ही-आप दही बनने को छोड़ दिया जाए तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाए, दही के रूप में परिणत नहीं होगा। दूध के

---

१. **पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः।**
—मु० २।१।५

दधिरूप में परिणत होने के लिए उसे ठीक तरह से उबालना, यथा-समय उचित मात्रा में उसमें जामन देना और अनुकूल तापमान में सुर-क्षित रखना आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। यदि घास आदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो सकते तो संसार में दूध की नदियाँ बहती दिखाई पड़तीं। गाय का खाया घासपात यदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो जाता है तो बैल आदि का खाया खाद्य भी दूध के रूप में परिणत हो जाना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। गाय में भी केवल प्रसूतावस्था में ही ऐसा होता है। मनुष्यों में भी यही व्यवस्था देखी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनों का एक जैसा खाद्य होने पर भी जहाँ पुरुष के शरीर में उससे केवल रक्त बनता है, वहाँ स्त्री के शरीर में पहुँचकर वही खाद्य रक्त और दूध दोनों के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार स्तनपायी विशिष्ट मादा प्राणियों में तथा विशेष अवस्थाओं में ही खाद्य का परिणाम दूध होता है, और वह भी जीवित अवस्था में ही। यह स्थिति विचारशील व्यक्ति को यह मानने पर बाध्य करती है कि यह एक ईश्वरीय व्यवस्था है जो निय-मित रूप से संसार में देखने में आती है। किसी जड़ वस्तु का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। चुम्बक केवल लोहे को आकृष्ट करता है, अन्य किसी वस्तु को नहीं। फिर आकृष्ट करने के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता। किन्तु जड़ उपादान-तत्त्व विविध रूपों में परिणत हुआ है, इसके लिए चुम्बक के स्वभाव की तुलना निराधार है। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। रक्खा हुआ आटा सड़ जाएगा, किन्तु स्वतः रोटी, पूरी, पराँठा, मठरी आदि के रूप में परिणत नहीं होगा। घुणाक्षर-न्याय से लकड़ी में कोई एकाध अक्षर भले ही बन जाए, किसी महा-काव्य की रचना नहीं हो सकती। आकाश में उड़ते बादलों में किसी आकारविशेष की क्षणिक प्रतीति हो सकती है, किन्तु जीते-जागते प्राणियों की सृष्टि नहीं हो सकती। इससे निश्चय होता है कि चेतन सहयोग के बिना, केवल जड़ उपादानतत्त्व से—उसका ऐसा स्वभाव मानकर—व्यवस्थित जगत् की रचना सिद्ध नहीं हो सकती।

**स्वभावादुत्पत्तौ विनाशानुपपत्तिः ॥१६॥**

स्वभाव से उत्पत्ति होने पर विनाश की उपपत्ति नहीं होगी।

यदि दुर्जनतोषन्याय से जड़ उपादान तत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति मान ली

जाए तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। जड़तत्त्व का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर, यान्त्रिक क्रिया की भाँति सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी, विनाश कभी नहीं होगा। तब संसार सदा इसी रूप में बना रहना चाहिए। जगत् की सर्ग के विपरीत प्रलय-अवस्था कभी नहीं आनी चाहिए। यदि उपादान-तत्त्व केवल प्रवृत्ति-स्वभाव होने से किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रखता, तो जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्ति-स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता, किन्तु संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते हुए देखा जाता है। केवल चेतनतत्त्व में ज्ञान होने से यह सामर्थ्य रहता है कि वह इच्छानुसार विपरीत क्रिया को उत्पन्न कर दे।

**विनाशे सत्युत्पत्तेरभावः ॥१७॥**

विनाश होने पर उत्पत्ति का अभाव होगा।

यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति कभी नहीं होगी। किन्तु पदार्थों को बनते देखा जाता है।



**स्वभावाच्चेदुत्पत्तिविनाशौ न युगपदेवोत्पत्तिविनाशसम्भवः ॥१८॥**

स्वभाव से उत्पत्ति-विनाश होने पर युगपत् उत्पत्ति-विनाश सम्भव न होगा।

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाए तो यदि संयोग-स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति-ही-उत्पत्ति होगी और यदि वियोग-गुणवाले परमाणुओं की शक्ति अधिक होगी तो सदा विनाश-ही-विनाश होगा। यदि प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् माने जाएँ (यद्यपि एक-धर्मी में दो विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते) तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति तथा विनाश दोनों का एक समय में प्रत्यक्ष होता है।

उत्पत्ति और विनाश—उपादान-तत्त्व की ये दो परस्पर-विपरीत अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियाओं को उत्पन्न करना चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से परिणाम पाकर कार्यरूप में परिणत होता और समय आने पर पुनः उसी में विलीन हो जाता है। समुद्र से

प्राप्त जल से मेघ बनता और मेघ से बरसकर जल पुनः समुद्र में जा मिलता है। यह क्रम जैसे पृथक्-पृथक् पिण्डों में देखने में आता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में भी देखने में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय और मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म या प्रवृत्ति हो सकता है या निवृत्ति। संसार सर्वथा स्वतन्त्र अर्थात् चेतननिरपेक्ष हो तो उसकी गति यान्त्रिक (Mechanical) होनी चाहिए—सृष्टि-ही-सृष्टि होती जाए या प्रलय-ही-प्रलय। सृष्टि होते-होते प्रलय और प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती। उसके लिए किसी नियामक चेतन सत्ता का होना नितान्त अनिवार्य है। सर्ग के समान जगत् का विलय भी होता है। मनुस्मृति में सर्गवर्णन के अनन्तर प्रलय-सर्ग के क्रमिक रूप में होने का वर्णन है।[1] इस प्रसंग में गीता के अनेक स्थल[2] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के कतिपय सन्दर्भ[3] द्रष्टव्य हैं। सर्ग और प्रलय की यह क्रमिक व्यवस्था चेतन के सहयोग के बिना जड़ उपादान-तत्त्व में स्वतः सम्भव नहीं।

सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का नियमन अन्तर्यामी चेतन ब्रह्म द्वारा होता है। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए जो अन्तिम खण्ड या कण है, दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही उसका परमाणु है और प्रारम्भिक या आदिकण होने से अविभाज्य मूल-तत्त्व है, यद्यपि मूलतः वह सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति का कार्य है। ऐसे ही परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। इतने सूक्ष्मतत्त्व परमाणु को हाथ से पकड़ने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। तब उनके द्वारा संयोग-वियोग की क्रिया कैसे सम्भव है? निश्चय ही उनके संयोग-वियोग के द्वारा सृष्टि का निर्माण करनेवाली चेतन सत्ता का परमाणुओं के भीतर व्यापक होना आवश्यक है जिससे वह ईक्षणमात्र से उनको गति दे सके। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि जो पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशाओं, चन्द्र-तारक, आकाश, तमस्, तेज, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान तथा रेतस् में रहता हुआ भी इन सबसे पृथक् है और फिर भी

१. मनु० १।५२-८०
२. गीता० ७।६; ६।७; ११।२; १४।२
३. श्वेत० ३।२, ३; ५।३

सबका नियमन करता है वही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है।[१] इसी उपनिषद् में आगे चलकर याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं—"हे गार्गि ! इस अविनाशी चेतनतत्त्व ब्रह्म के शासन में पूर्व और पश्चिम की तथा नई व पुरानी विभिन्न नदियाँ निरन्तर बहती रहती हैं।[२] यहाँ, जल आदि उपलक्षण मात्र हैं। वस्तुतः इससे सभी जड़ पदार्थों में चेतन-निरपेक्ष प्रवृत्ति का न हो सकना अभिप्रेत है।

**गुणानां प्रत्यक्षत्वम् ॥१६॥**

गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की सूचना-मात्र हैं। मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेत रूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु गुण-गुणी का समवाय-सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। **आशुगतित्वान्मनसः**—मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते प्रतीत होते हैं।

**ब्रह्मप्रत्यक्षमुत्पत्त्यादेः ॥२०॥**

(सृष्टि की) उत्पत्ति आदि होने में ब्रह्म प्रत्यक्ष है।

जिस प्रकार गुणों को देखकर गुणी का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार परमात्मा के लिंगों को देखकर लिंगी परमात्मा का ज्ञान होता है। वह कारण—जिसमें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विलय सम्पन्न होते हैं और जिसके शासन के अन्तर्गत अनेकों कर्त्ता तथा फलोपभोक्ता समाविष्ट हैं—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है। उसी के अन्तर्गत समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक पूर्णताएँ बताई गई हैं। वही विश्व का स्रष्टा, शासक और संहारक है।

---

१. बृहद्० ३।७।३-२३

२. **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते··· प्रतीच्योऽन्याः।**—बृहद्० ३।८।९

संसार उत्पन्न होनेवाला है। प्रत्येक पदार्थ जो उत्पन्न होता है उसका उत्पादक अवश्य होता है। उत्पादक तत्त्व सदा चेतन होता है। जैसे कुम्भकार के बिना घटादि नहीं बन सकते, वैसे ही उत्पन्न होनेवाले विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना किसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता के बिना नहीं हो सकती। मानवी सृष्टि में निर्माण के बाद कर्त्ता अपनी कृति के साथ नहीं रहता। किन्तु ईश्वरीय सृष्टि में स्रष्टा परमेश्वर ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत रहकर उसकी स्थिति तथा संचालन का अधिष्ठाता बना रहता है। उत्पन्न होनेवाली वस्तु समय पाकर बिगड़ जाती है। सृष्टि की प्रलय करके उसे पुनः कारणरूप में ले-जानेवाला भी ईश्वर है, अतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है।

वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले चेतनतत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा धारण की जाती है और अन्त में, जब यह नहीं रहती, अपने कारणरूप में लीन हो जाती है, इस सबका जो अध्यक्ष—नियन्ता सर्वव्यापक परमेश्वर है वही इसकी वास्तविकता को जानता है।[1] सृजन, विकास तथा प्रलयन—तीनों किसी विशाल परिपक्व योजना के अंग हैं। सृजन, प्रलयन के लिए और प्रलयन, सृजन के लिए है। भूमि के अन्दर बोये हुए बीज का गलना-सड़ना देखकर ऐसा लगता है कि वह नष्ट हो रहा है। परन्तु इसी प्रक्रिया से अंकुर फूटता है। बीज का गलना उसकी प्रलय है और अंकुर का निकलना उसकी उत्पत्ति है। प्रस्तुत ऋचा के अन्तर्गत "**यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न**" शब्दों के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्थाओं का एकसाथ उल्लेख कर दिया गया है। "वह पृथिवी और द्युस्थानीय लोक-लोकान्तरों को धारण करता है।"[2] "यह जगत् उसी में एकत्र होता और उसी में बिखर जाता है।"[3] इन श्रुतिवचनों में भी ब्रह्म के कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता होने का उल्लेख है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—

---

१. **इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।**
**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥**
—ऋग्० १०। १२६। ७

२. **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।**—यजु० १३। ४

३. **तस्मिन्निदं सञ्च वि चैति सर्वम्।**—यजु० ३२।८

"यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय जीता और जिसके द्वारा अन्त में लीन होता है, उसको जानने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है।"[1] सम्भवतः वेद और उपनिषद् के इसी अभिप्राय को महर्षि वेदव्यास ने **'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १-१-२) के रूप में सूत्रबद्ध किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जिसकी उत्पत्ति आदि होती है वह जगत् है और जो उससे भिन्न है वह उसकी उत्पत्ति आदि में निमित्तकारण है।[2]

**रचनावैचित्र्यात् ॥२१॥**

जगत् की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि इस रचना का कर्त्ता कोई पूर्ण पुरुष है जिसने अपनी रचना को इतना गूढ़ तथा विचित्र बनाया है कि उसे देखकर कोई भी उसकी सत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। हमारे शरीर का बनना-बढ़ना अपने-आपमें एक चमत्कारपूर्ण रचना है। माता की कोख में पिता के वीर्य की एक बूंद से गर्भ स्थापित होता है और बढ़ने लगता है। अन्दर-ही-अन्दर शरीर में अंग-प्रत्यंग, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विकास होता रहता है। नौ-दस महीने बाद बना-बनाया बच्चा माँ के पेट से बाहर आ जाता है। शरीर की रचना इतनी दुरूह है कि अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य उसे पूरी तरह नहीं समझ पाया। जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता रहता है वह भी इस विषय

१. **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।**
**यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म॥**—तै० उ० ३।१

२. तुलना करें—

The world is an effect and, as such, must have been produced by an intelligent person who had a direct knowledge of Dharma (merit) and Adharma (demerit) of men, in accordance of which He creates the whole world and establishes an order by which every man must have only such experiences as he deserves. He, by his mere desire, sets all the world in motion. He has no body, but still carries on the functioning of his infinite knowledge and power; otherwise, how could he create this world and establish its order.—S. N. Dass Gupta, A History of Indian Philosophy, Vol. III, P. 153.

God is only the source of movement, the first mover who himself is never moved.—The Age of Aristotle, P. 46.

में कुछ नहीं जानती। शरीर में रक्त आदि धातु, प्राण तथा रक्तवाहिनी नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। यह नाड़ी-जाल इतना सूक्ष्म तथा परस्पर गुँथा हुआ है कि उसकी पूरी जानकारी मानवशक्ति से बाहर है। त्वगिन्द्रिय का समस्त शरीर में व्याप्त रहना तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे-से-छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचारशक्ति का विद्यमान होना, न्यूनाधिक मांसपेशियों का यथास्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य, सिर, भुजाओं, उदर आदि की अद्‌भुत रचना, विभिन्न प्रकोष्ठों में वात-पित्त-कफ़ के प्रतिष्ठान व संचार आदि की व्यवस्था, मुख, कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयवों का सन्निवेश, आमाशय, पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अधः स्रोतों का नितान्त व्यवस्थित प्रसार आदि के रूप में शरीर की रचना इतनी सुविचारपूर्ण, नियमित एवं दृढ़ है कि किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता की योजना के बिना जड़ तत्त्वों द्वारा इसका स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। आज के भौतिक-विज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तुविज्ञान के इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर-रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं किया जा सकता, रचना करने की तो बात ही क्या ?

**'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**—शरीर की भाँति ही एक-एक फल-पत्ती में—यहाँ तक कि एक-एक परमाणु की संरचना में हमें विचित्र रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् फ़्लिण्ट का कथन है—"यदि यह माना जाए कि प्रकृति के परमाणुओं ने, बिना किसी सर्वोपरि चेतन सत्ता के निर्देशन के, स्वयमेव मिलकर इस विचित्र एवं दुरूह सृष्टि की रचना कर डाली तो यह भी मानना होगा कि शैक्सपीयर के नाटकों की रचना अंग्रेज़ी भाषा की वर्णमाला के अक्षरों ने उछल-उछलकर स्वयं कर डाली। शैक्सपीयर नाम से प्रसिद्ध किसी चेतन प्राणी का इसमें कोई हाथ नहीं।"[1] ऋग्वेद के शब्दों में यही

१. It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind, known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, produce, by a chance contact, some curious

मानना पड़ता है कि "दिव्य लोकलोकान्तरों की रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म इन समस्त लोकों का उसी प्रकार निर्माण करता है जिस प्रकार कोई शिल्पी उपयुक्त साधनों से कार्य की रचना करता है अर्थात् परमात्मा के द्वारा यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त दशा में आ जाता है।"[१] इस प्रकार भौतिक जगत् की बुद्धिपूर्वक रचना को देखकर सर्वज्ञ ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है।[२]

**नियमोपपत्तेः ॥२२॥**

नियमों के उपपन्न होने से।

समस्त जगत् आदि से अन्त तक सुव्यवस्थित है और सब वस्तुओं में विधान तथा युक्तियुक्तता की माँग को पूरा करता है। सृष्टि का संचालन किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों तथा नियम-बद्धता से अनुशासित विश्व परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है। विश्व के बृहत् आकार, ग्रह-नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सबपर शासन करनेवाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करनेवाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है। यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी संगति को प्रकट करने के लिए नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है।

---

collection or compound, but never could they produce order or organisation on extensive scale or a durable character, unless ordered, arranged and adjusted in ways of which intelligence could be the ultimate explanation.

—Flint : Theism, P. 187.

१. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥—ऋ० १०। ७२। २

२. Scientific study shows the presence, in the physical universe, order, stability, directing power, intelligibility and capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced—they do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence; and thought always necessitates a thinker. Hence, in this universe, there is a supreme thinker or intelligence of which our intelligence is but a faint copy. —Science and Religion, P. 48.

नियम क्या हैं ?—ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण। जो नियम आज सत्य हैं, वे कल भी सत्य रहेंगे और परसों भी—जबतक यह विश्व रहेगा तबतक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो—इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा करना व्यर्थ हो जाए और सारी वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाए। सृष्टि के रहस्यों को जानने में मन की असमर्थता का उल्लेख करते हुए प्रो० आइंस्टीन ने अपने समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक (Max Plank) की पुस्तक 'Where is Science going' की भूमिका में लिखा है—भौतिकी विज्ञानी का मुख्य उद्देश्य उन मूलभूत सामान्य नियमों की खोज करना है जिनसे सृष्टिरचना का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके, किन्तु इन नियमों को जानने के लिए कोई तर्कशास्त्रीय मार्ग है नहीं। यह तो अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।[1]

प्रत्येक विज्ञान बताता है कि संसार की स्थिति नियमों पर है। इन नियमों का संग्रहभूत विज्ञान (science) है। इन्हीं नियमों के आश्रय से सब कलाओं, धन्धों का व्यवहार चलता है। यदि कृषक पृथिवी में बीज डाले जाने के पश्चात् उसके विशेष सिंचन आदि संस्कारों के अनन्तर उसके फलस्वरूप में परिणत होने में शंकित हो तो कृषिकर्म में कभी प्रवृत्त न हो। इन्हीं नियमों का समुच्चय कृषिविज्ञान (Science of Agriculture) कहाता है। यही अवस्था अन्य विज्ञानों की है। विज्ञान नाम ही नियमों का है। ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से और फिर सारा भौतिक प्रपंच प्राणिजगत् से एक सूत्र में बँधा हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रत्येक क्षेत्र की रचना निराली प्रतीत होती है। इन सब रचनाओं की फिर एक व्यापक रचना है। यह रचना सर्वज्ञ रचयिता के सिवा और किसकी हो सकती है ? जो प्रत्येक विज्ञान के क्षेत्र में फैले हुए उस सूत्र को जानता है और फिर उस सूत्र के सूत्र को जानता है, वह परमात्मा को जानता है।[2]

जैसे मकान की एक ईंट दूसरी से जुड़ी होती है, वैसे ही सूर्य चन्द्रमा

---

१. The supreme task of the physicist is the discovery of the most general elementary laws from which the world-picture can be logically deduced, But there is no logical way to the discovery of these elemental laws. There is only the way of intuition.

२. **यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।**
**सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥—अथर्व० १०।८।३८**

से, चन्द्रमा पृथिवी से, पृथिवी वनस्पति से और वनस्पति जीव-जन्तुओं से जुड़ी हैं। बड़ी-से-बड़ी वस्तु से लेकर छोटी-से-छोटी वस्तु में नियम काम कर रहे हैं। सूक्ष्मतम परमाणु भी सौरमण्डल का छोटा रूप है। किसी सर्वोच्च चेतना और मस्तिष्क के बिना नियमों पर आधारित व्यवस्था नहीं बन सकती। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से ज्यों ही किसी नियम का पता चलता है त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—"मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है।" विश्व के चमत्कारों ने निष्पक्ष ज्योतिर्विदों को किसी ऐसी अज्ञात और कदाचित् अज्ञेय शक्ति पर विश्वास करने को विवश कर दिया है जो विश्व की विशालता और नियमबद्धता के लिए ज़िम्मेदार है। परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढाँचे में व्यवस्था की कल्पना करना ऐसा विरोधाभास है जिसका कोई अर्थ नहीं बनता। व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसे बग़ीचे की शोभा और उसके सौन्दर्य को सराहना, परन्तु माली के अस्तित्व को स्वीकार न करना।

सृष्टि में असंख्य ग्रह-उपग्रह हैं जो अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं। परन्तु लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एक-दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराए। इसी कारण सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सैकड़ों वर्ष पहले की जा सकती है। संसार के विविध पदार्थ एक-दूसरे की आकर्षण आदि शक्तियों से स्थिर हैं। परन्तु यह आकर्षण भी तो बुद्धिपूर्वक कार्य कर रहा है। ग्रहों-उपग्रहों ने आकर्षण करना भी किसी की नियामकता से स्वीकार किया है। ज्वारभाटे के निश्चित समय की पहले से जानकारी रहने के कारण ही यथासमय जहाज़ चलाये जाते हैं। चक्रवर्ती राजा के कार्यालय में कार्यरत कर्मचारी भी कभी-कभी देर से पहुँच पाते हैं। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर-उधर नहीं हो पाता।[1] दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है। पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पहले फल आ जाए और फिर फूल खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। जो आधारभूत

---

१. कालेनोदेति सूर्यः कालेः निविशते पुनः।—अथर्व० १९-५४-१

नियम भारत में चलते हैं, वही अन्य देशों में भी। इस प्रकार की क्रमबद्धता तथा कार्य-कारण-शृङ्खला का बने रहना प्रभुसत्तासम्पन्न विश्वात्मा के बिना सम्भव नहीं।[1]

**प्रयोजनवत्त्वात् ॥२३॥**

सप्रयोजन होने से।

सृष्टि में प्रत्येक वस्तु और घटना का कोई प्रयोजन होता है। विश्व की रचना विविधरूपों में है और सबका एक विशिष्ट प्रयोजन है—भले ही हम उस प्रयोजन को न समझ पायें। प्रयोजन ही नियमों को सार्थक बनाता है। वस्तुतः प्रयोजन का निश्चय होने पर ही तदर्थ अपेक्षित नियम बनते हैं।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी अर्थ-उपयोग के लिए बना है। मनुष्यों के नेत्रों का अर्थ है देखना। यदि बाहर पदार्थ न होते तो नेत्रों का होना व्यर्थ था और यदि देखनेवाला कोई न होता या देखने के लिए आँखें न होतीं तो पदार्थों का होना व्यर्थ

---

१. Things did not happen by chance. Law reigned everywhere.—Aristotle quoted in 'The Book of Knowledge'.

The universe begins to look more like a great thought than a great machine. Mind no longer appears to be an accidental intruder into the realm of matter. We are beginning to suspect that we ought rather to hail it as a creator and governor of the realm of matter.

—James Jeanes : The Mysterious Universe, P. 148.

God is not only a thinker, but also a great poet, musician, a spirit that conceives in beauty and attains in song.—J. H. Holms : Is Science Vindicating Religion, P. 20

Beyond all finite existences and secondary causes, all laws, ideas and principles, there is an intelligence, the principle of all principles, the supreme idea on which all ideas are grounded, the Monarch and Law-giver of the universe, the ultimate substance from which all things derive their being, the first and efficient cause of all order and harmony, beauty, exccellence and good which pervades the universe—who is called, by his pre-eminence and excellence, the Supreme God, the God, the God overall.

—Plato quoted in Cocker : Christianity & Greek Philosophy.

था। इसी प्रकार शब्द-स्पर्श-रस-गन्ध न होते तो इनकी ग्राहक इन्द्रियों श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण आदि का होना व्यर्थ था। इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था।

सूर्य समुद्र से जल खींचता है, किन्तु उसके क्षारीय अंश को छोड़कर केवल शुद्ध जल को ग्रहण करता है। आकाश से जल न बरसे तो धरती पर प्राणी न रह सकें। सूर्य के द्वारा जल खिचते-खिचते समुद्र सूख न जाए और इधर पृथिवी जल में डूब न जाए, इसलिए संसार के काम आने के बाद वही जल नदी-नालों के रूप में बहकर फिर समुद्र में जा पड़ता है। प्राणी आक्सीजन से जीते हैं। दुर्गन्ध वायु का, जो उसके शरीर से निकलता है, उसके शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसी दुर्गन्ध वायु=कार्बन से वृक्ष जीते हैं। वृक्षों द्वारा प्रदत्त आक्सीजन से प्राणी जीते हैं और प्राणियों द्वारा उत्पन्न कार्बन से वृक्षादि जीते रहते हैं। इस प्रकार **'देहि मे ददामि ते'** के अनुसार जीवों तथा वनस्पति दोनों का जीवन बना रहता है। पृथिवी पर बड़े परिमाण में उगा घासपात एक ओर शाकाहारी प्राणियों का पेट भरता है तो दूसरी ओर औषध-रूप में परिणत हो रोगों को दूर करने में काम आता है। वर्षा से वनस्पति को जीवन मिलता है तो वृक्षादि वर्षा में सहायक होते हैं। प्राणियों के शरीरांगों की रचना भी सप्रयोजन है। जैसे मशीन में हरेक पुरज़ा नियत प्रयोजन के लिए यथास्थान लगा होता है, वैसे ही प्राणियों के शरीर में एक-एक अंग प्रयोजन विशेष के लिए यथास्थान लगा है। शरीर के एक-एक अंग की रचना ही नहीं, उनका प्रयोजन भी चमत्कार पूर्ण है। एक हृदय को ही लें। यह अकेला शरीर से अशुद्ध रक्त लेता (हृ-हरति), शुद्ध करने के लिए फेफड़ों को देता (द-ददाति) और उनसे शुद्ध रक्त लेकर शरीर में गति करने के लिए भेजता है (य-याति)[1]। फूल का सौन्दर्य मनुष्य की आँखों को तृप्त करता है। यदि उसमें सुगन्ध है तो उसे सूँघकर आनन्द आता है। वैद्य उससे ओषधि बनाता है, गन्धी उससे इत्र निकालता है, चित्रकार को उससे चित्रकला में सहयोग मिलता है तो कवि को काव्य रचना की प्रेरणा। भौंरा उसका रस चूसता है तो मधुमक्खियाँ उससे शहद बनाती हैं और तितलियाँ उसपर बैठकर

---

१. तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरति, 'द' इत्येकमक्षरं ददाति, 'यम्' इत्येकमक्षरमेति।—शत० १४।८।४।१; बृहद्० ५।३।१

आनन्द लेती हैं। उसका इतना प्रयोजन परार्थ है। इसके अतिरिक्त वह अपने विस्तार के लिए—अपनी सन्तति की रक्षा के लिए बीज उत्पन्न करता है। संसार की समस्त वस्तुओं के विषय में इसी प्रकार सोचा जा सकता है।

सूर्य हमारी धरती से लगभग नौ करोड़ तीस लाख मील की दूरी पर है। इतनी दूर होने पर भी वह हमारे जीवन से इतना जुड़ा हुआ है कि उसे चराचर जगत् का आत्मा कहा गया है।[1] सूर्य में होनेवाले तनिक-से परिवर्त्तन का प्राणी तथा वनस्पति-जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी ही स्थिति चन्द्रमा की है। चन्द्रमा का मन से, वायु का प्राण से और सूर्य का चक्षु से सीधा सम्बन्ध है। इस समय पृथिवी का जितना आकार है तथा अयन में घूमने की जो उसकी गति है उसी के कारण जीवधारियों का पृथिवी पर रहना सम्भव है। इसी स्थिति में ये प्राणियों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इनमें न्यूनाधिक्य होते ही सब अस्तव्यस्त हो जाएगा। इस व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि यह सृष्टि स्वयं उद्भूत न होकर किसी सर्वज्ञ चेतन सत्ता द्वारा रचित है।

**सर्वविद्यादिमूलत्वात् ॥२४॥**

समस्त ज्ञान का मूलस्रोत होने से।

सत्य का प्रतिपादन करनेवाली किसी भी व्यवस्था को 'शास्त्र' नाम से अभिहित किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान भी शास्त्र है और आध्यात्मिक विज्ञान भी। बादरायण के एतद्विषयक सूत्र[2] का अभिप्राय है कि जहाँ शास्त्रों के नियमों को संसार की रचना में व्यवहाररूप देनेवाला परमात्मा है, वहाँ मनुष्यों को सर्वप्रथम इन नियमों का ज्ञान करानेवाला भी परमात्मा है।

जिस प्रकार प्रकृति जड़ होने से स्वतः कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार मानवबुद्धि भी जड़ होने से किसी अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित शक्ति है। मनुष्य को आरम्भ में गुरुज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अनुभव, मनन, चिन्तन, सम्वेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है। पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह

---

१. **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**।—यजु० १३।४६
२. **शास्त्रयोनित्वात्**।—वे० द० १।१।३

नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। इसी व्यवस्था में मनुष्य-योनि की सार्थकता है। यही ऐसी योनि है जिसमें जीव को विकास का अवसर मिलता है। परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता। समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, परन्तु स्वयं वही विकसित होकर मनुष्य के व्यवहार आदि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। यदि स्वाभाविक ज्ञान के सहारे अपने अनुभवमात्र से मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े गणित या व्याकरण का आचार्य, डाक्टर, इंजिनीयर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता। यदि जीवात्मा स्वभावतः उन्नति कर सकता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। बहुत-से सर्वज्ञ हो गये होते। स्कूल-कालिज कभी के बन्द हो गये होते। किन्तु आज भी बड़े-से-बड़े विद्वान् का बालक बिना पढ़े विद्वान् नहीं हो पाता। इसी को ध्यान में रखते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि माता, पिता, आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।[1]

यदि विकासवाद के अनुसार ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास का सिद्धान्त सत्य होता तो निश्चय ही प्रत्येक जाति का वर्त्तमान काल उसके अतीत से उत्कृष्ट होता और भविष्य वर्त्तमान से अधिक उज्ज्वल होगा, इस विषय में प्रत्येक जाति आश्वस्त होती। परन्तु कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता। भारत, चीन, मिश्र, यूनान आदि देशों का भूतकाल साहित्य, कला, कौशल, विज्ञान आदि की दृष्टि से आज की अपेक्षा कहीं अधिक गौरवपूर्ण था। साथ ही, ये सभी देश अपने भविष्य के विषय में सदा चिन्तित रहते हैं।

जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने अपने माता-पिता आदि से प्राप्त किया था। इसी प्रकार गुरुपरम्परा को यदि हम पीछे की ओर ले जाएँ तो अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी। इसका पर्यवसान सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में पहुँचकर होगा जहाँ मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी। तब

---

१. मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।—शत० १४।६।१०।२

निश्चय ही परमेश्वर से अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा। इस प्रकार कालानवच्छिन्न ब्रह्म ही मनुष्य के लिए अपेक्षित नैमित्तिक ज्ञान का आदिकारण सिद्ध होता है।[1] उसी से सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्वेदादि के रूप में समस्त सत्यविद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हीं से लौकिक-अलौकिक ज्ञानों का उपबृंहण हुआ। सूर्य के समान सब अर्थों के प्रकाशक—पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त तत्त्व-ज्ञान के भण्डार वेदों का प्रादुर्भाव ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी से होना सम्भव नहीं। विश्व के आधार यज्ञरूप ब्रह्म से ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार रूपात्मक जगत् के समान शब्दात्मक शास्त्र का भी कारण होने से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध है।[2]

**समन्वयात् ॥२५॥**

समन्वय होने से।

परमात्मा की एक संज्ञा कवि है। उस कवि के दो काव्य हैं—एक शब्दरूप जिसे वेद कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं। एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं—एक पर पद अंकित हैं, दूसरे पर पदार्थ। दोनों में सामंजस्य होने से यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। वेदों में सृष्टिविषयक जो संकेत मिलते हैं, सृष्टिक्रम के साथ उनका सन्तुलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न शास्त्र में कोई ऐसी बात है जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो और न सृष्टि में कोई ऐसी बात दीखती है जो शास्त्र के विपरीत हो।[3] जेम्स हेस्टिंग्ज़ ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[4] वस्तुतः यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों में सामंजस्य होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है—ऐसा न होना ही आश्चर्यजनक होगा। संसार में कोई घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती—

---

१. **सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**—योग० १।२६

२. **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
**छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥**—यजु० ३२।७;
**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥**—शत० १४।५।४।१०

३. **श्रुतिदर्शितेन क्रमेण परमेश्वरेण सृष्टं विश्वम्।**—सिद्धान्तलेश २

४. Dayanand tried to make the book of God resemble the book of nature. —Encyclopaedia of Religion and Ethics

भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें। शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और सृष्टिरचना से शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है। इस प्रकार विश्व की उभयविध नाम-रूपात्मक रचना में समन्वय होने से ब्रह्म की सत्ता का प्रत्यक्ष होता है।

**परिच्छिन्नगुणादिविपर्ययात् ॥२६॥**

परिच्छिन्न तथा गुणादि का विपर्यय होने से।

'वस्तुकृत', 'कालकृत' तथा 'देशकृत' तीन परिच्छेद होते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के स्वरूप में न होना 'वस्तुकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पूर्व में है, पश्चिम में नहीं—यह 'देशकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पहले थी, अब नहीं है अथवा आगे नहीं होगी—यह 'कालकृत' परिच्छेद है। सत्त्व-रजस्-तमस् तीन गुण हैं। ये तीनों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रतिनिधि हैं। जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, सभी वस्तुकृत, कालकृत व देशकृत परिच्छेदवाले हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण सभी पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का गुण पाया जाता है। संसार में जो भी वस्तु है उसका उल्टा अर्थात् विपर्यय अवश्य होता है। अतः यदि परिच्छेदोंवाले पदार्थ हैं तो परिच्छेदों से रहित भी कोई पदार्थ होना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है तो कोई सत्ता ऐसी भी होनी चाहिए जो त्रिगुणातीत होने से इन अवस्थाओं से परे हो। वही ईश्वर है।

**आश्रयाऽश्रयिभावात् ॥२७॥**

आश्रय तथा आश्रयी-भाव होने से।

छोटी वस्तु बड़ी वस्तु के सहारे रहती है। सहस्रों मनुष्य एक जलयान का आश्रय ले यात्रा करते हैं। मनुष्य छोटे हैं, जलयान बड़ा है—इसलिए वे जलयान का सहारा लेते हैं। जलयान अपने से बड़े समुद्र के सहारे और समुद्र अपने से बड़ी पृथिवी के सहारे रहता है। आश्रय-आश्रयी-भाव का यह क्रम जहाँ जाकर समाप्त होता है, वह सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्म' कहाता है।

**सापेक्षत्वात् ॥२८॥**

सापेक्षता के कारण।

संसार में प्रत्येक पदार्थ किसी से छोटा और किसी से बड़ा होता है। अणु-परिमाण से मध्यम-परिमाण और मध्यम-परिणाम से महत्-परि-

माण बड़ा होता है। इस प्रकार पृथिव्यादि तत्त्वों के समुच्चय से बने ब्रह्माण्ड से और अल्पज्ञ एवं परिच्छिन्न जीवात्मा से भी कोई बड़ा होना चाहिए। प्राकृत पदार्थ सभी सीमावाले हैं। इसलिए वह, जो विद्युत् आदि के समान प्राकृतिक नहीं और निराकार होने से जिसकी कोई सीमा नहीं, सबसे महान् है। वही ब्रह्म है। डेकोर्ट का कथन है—"अनन्तरूप से पूर्ण सत्ता की स्वीकृति के बिना हमें अपनी परिमित सत्ता की अनुभूति नहीं हो सकती।"[1]

इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु को अयथार्थ मानकर उसका निराकरण करते हैं तो हम ऐसा अन्यत्र यथार्थ सत्ता के सम्बन्ध से ही करते हैं। भावात्मक के सन्दर्भ में ही हम अभावात्मक को नकारते हैं। कोई वस्तु कहीं नहीं है, यह तभी कहा जा सकता है जब हम किसी भावात्मक वस्तु के अस्तित्व को अन्यत्र स्वीकार करते हों।

महतो महान् का भाव मनुष्य में है और इसका निराकरण नहीं हो सकता। अपूर्ण जीव पूर्ण की भावना करता है। यह भावना कोई काल्पनिक, भ्रमात्मक भावना नहीं है। यदि हमारी भावना भ्रमात्मक भी हो तो उसका मूल सत्य प्रत्यय होना चाहिए, क्योंकि भ्रममात्र भी सत्य का अपभ्रंश होता है। जिस आदर्श की ओर हम दौड़ते हैं और जिसके अंशमात्र का अपने उत्कर्ष में अनुभव करते हैं, वह आदर्श सत् है। पूर्णता को हमने कभी देखा नहीं, तो भी उसकी ओर जाने की भावना सदा बनी रहती है। हमारी सत्ता (Being) का विचार पूरा नहीं होता जबतक उसमें किसी पूर्ण सत्ता (Perfect Being) का समावेश न हो। वस्तुतः पूर्ण के बिना अपूर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। हमारी अपूर्णता भी असत् हो जाती है यदि कोई सत्ता ज्ञान, शक्ति आदि सब दृष्टियों से पूर्ण (न कुतश्चनोनः) न हो। ऐसी सत्ता परमात्मा है।

**आकर्षणहेतुत्वात् ॥२६॥**

आकर्षण का हेतु होने से।

प्रत्येक पदार्थ अपने से महान् सजातीय की ओर खिचता है, जैसे नदियाँ समुद्र की ओर, अग्नि सूर्य की ओर। फिर, जीवात्मा किसकी ओर खिच रहा है? जिस प्रकार प्राकृत पदार्थों के आकर्षण का हेतु

---

१. We cannot be conscious of finiteness, if we did not have the idea of infinity all the time within us.

–Meditations, P. 4.

अन्यान्य प्राकृत पदार्थ हैं, उसी प्रकार जीवात्मा के आकर्षण का केन्द्र भी अपने से बड़ा सजातीय होना चाहिए। सच्चित्स्वरूप जीवात्मा से बड़ी ऐसी शक्ति सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही है।[1]

**पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३०॥**

पुरुष के कर्मों की असफलता देखे जाने से।

कर्मफल अवश्यम्भावी है, किन्तु जड़ होने के कारण कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। कहा जा सकता है कि मद के समान कर्मफल स्वयं प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः मद मद्य में नहीं होता, क्योंकि वह जड़ है। मद तो मद्य पीनेवाले चेतन को होता है। यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा में मादक द्रव्य का सेवन करनेवालों को समानरूप से मद होता। परन्तु देखा जाता है कि मद्यपान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ दो रत्ती अफ़ीम या एक तोला शराब का पता तक नहीं चलता, वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है, यहाँ तक कि उसका जीवन भी संकट में पड़ सकता है। यदि मद्यपान से उत्पन्न मद के समान कर्मों के स्वयं फलीभूत होने की बात मान ली जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि नित्य बहुत अधिक पाप-पुण्य करनेवालों को कम और कभी-कभी थोड़ा-बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को बहुत अधिक फल मिलना चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से यह सर्वथा असंगत है।

जड़ पदार्थ नियम से स्वयं संयुक्त नहीं हो सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलानेवाला तीसरा होता है। इसी प्रकार जीवों को कर्मफल से संयुक्त करने के लिए ईश्वर की सत्ता सर्वथा अपेक्षित है। अचेतन होने से कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकेंगे कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से कर्मसंकर हो जाएगा। फलतः अन्य के कर्म

१. तुलना करें—When from the human heart the cry goes up, what is it all about? It is no answer to look at only that part of experiences which comes to us through certain sensory organs, and say it is about atoms and chaos, a universe of fiery globes moving to impending doom...rather it is about a spirit in which all truth has its shrine with potentialities of self-fulfilment in its responses to beauty and right. —Eddington, quoted in the 'Teachings of Ishopanishad in the Light of Modern Thought.'

अन्य को भोगने पड़ेंगे। अराजकता की ऐसी अवस्था में 'कृतहानि' (करनेवाले को फल न मिलना) तथा 'अकृताभ्यागम' (न करनेवाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी।

अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् जान नहीं सकता और अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो फलोपभोग की व्यवस्था के लिए अपेक्षित है। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तथा विभिन्न योनियों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है, न जगत् का विषयनिष्ठ पक्ष है और न कर्म के विधान की क्रिया है। जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथिवी अनेक प्रकार के कर्मों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है और किस प्रकार यह शरीर कार्य करता है जिसमें अन्दर और बाहर भिन्न-भिन्न भागों की उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गई है और जिसका निर्माण भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है तथा जिसमें एक-एक ब्यौरे का ठीक-ठीक निर्णय किया गया है जिससे कि यह विविध कर्मों के फलोपभोग का उचित स्थान बन सके तो वह यह कैसे मान सकता है कि यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना सम्भव है?

यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीरधारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में अथवा मनुष्य-योनि में भी किसी दरिद्र के घर जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई नहीं भोगना चाहता। यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी, जैसे अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय न्याय-व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तबतक नहीं हो सकती जबतक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**—कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप यह सृष्टि है जिसकी रचना जीव के नहीं, ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीवविशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं—जन्म, मरण, वृद्धावस्था,

रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। "कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने-आप नहीं जा बैठेगा।"[1]

वस्तुतः कर्मों की फलप्राप्ति का नियमन परमेश्वर के अधीन है। अचेतन सत्ताएँ अपने आपमें न अच्छी हैं, न बुरी। जीवात्माओं को उनके कर्मों के अनुसार सुख अथवा दुःख पहुँचाती हैं। वे ईश्वर की इच्छा के अधीन कार्य करती हैं। इसलिए उनके व्यवहार का निर्णय करना ईश्वर का काम है। वही उन वस्तुओं को प्रेरणा देता है। यदि वस्तुओं के परिणाम केवल उनके अपने स्वभाव पर निर्भर करते, तो प्रत्येक वस्तु हर समय सब मनुष्यों को समान रूप से सुख अथवा दुःख पहुँचनेवाली होती। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण न्यायकारी परमेश्वर ही प्रत्येक जीव के कर्मफलों की व्यवस्था करने तथा तदनुसार शरीर धारण कराने में समर्थ है। किस कर्म का फल कब, कहाँ, कैसे, किन साधनों के द्वारा किन परिस्थितियों में यथावत् भोगा जा सकता है—इसे ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। इसीलिए उसे 'कर्माध्यक्ष'[2] के नाम से पुकारा गया है। सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों की यथावत् व्यवस्था करने के कारण परमात्मा को 'अर्यमा' कहते हैं। इसी प्रकार प्राणियों के कर्मफल का नियमन करने से उसकी संज्ञा 'यम' है तथा दुष्टों को दण्ड देकर रुलाने के कारण वह 'रुद्र' कहाता है।

**विकारात्मना परिणतेः प्रकृतेरुपादानत्वम् ॥३१॥**

उपादान जबतक विकृत न हो तबतक कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। दूध का विकृत रूप ही दही होता है, अतएव जगत् का उपादान वही हो सकता है जो विकारी हो। संसार में कर्त्ता को विकृत होते नहीं देखा जाता, किन्तु उपादान को विकृत हुए बिना कार्यरूप

---

१. न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति।
—शां० भा० २।१।२१

Cp. Descartes : "If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea, and I should thus be God."
—Meditations, P. iii

२. कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।—श्वेत० ६।११

होते नहीं देखा जाता। सोना बिना गले या मुड़े कंगन नहीं बन सकता। इसी प्रकार मिट्टी बिना रूपान्तर के घड़ा नहीं सकती। परन्तु कंगन या घड़ा बनाने के पश्चात् भी सुनार या कुम्हार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अविकारी तत्त्व जगत् का उपादान नहीं हो सकता।

चेतन ब्रह्म सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है, उसमें किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं। जगत् परिणामी एवं जड़ है, फलतः उसका उपादान कारण ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो जगत् के समान जड़ एवं परिणामी हो। 'प्रकृति' शब्द ही यह सिद्ध करता है कि जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, क्योंकि जिससे कोई पदार्थ बनता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं।[1] कार्यावस्था में आने पर वह नामरूप धारण करती है। तब वह 'विकृति' कहाती है। वेद एवं वैदिक साहित्य में उस तत्त्व को त्रिधातु, स्वधा, अदिति, वृक्ष, तमस् आदि पदों से तथा दर्शन, उपनिषद् व अन्य पुराण-साहित्य में उसे प्रकृति, त्रिगुण, प्रधान, अजा, अक्षर, ब्रह्म, प्रसवधर्मिणी, तमस् आदि पदों से अभिहित किया है।

जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म अभौतिक एवं अपरिणामी है। जो स्वयं अभौतिक एवं अपरिणामी है वह भौतिक एवं परिणामी जगत् का उपादान कैसे हो सकता है? निमित्तकारण को उपादान बनते कभी किसी ने नहीं देखा। फिर, परमेश्वर ही इसका अपवाद कैसे होगा और ऐसा मानना सृष्टिक्रम के भी विरुद्ध होगा। शंकराचार्य कहते हैं कि "यह आवश्यक नहीं कि यहाँ भी ठीक वैसा ही हो, जैसा अनुभव में होता है",[2] क्योंकि इस विषय का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है, अनुमान के द्वारा नहीं। जब हम श्रुतिवाक्यों पर विश्वास करते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अनुभव की भी अनुकूलता ढूँढें?[3] परन्तु अन्यत्र शंकर का मत है कि यद्यपि वैदिक प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी अथवा तर्कसम्मत निर्णयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि "उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय हैं, वे अनुपयुक्त हैं। सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं

---

१. **प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः।**
२. **न अवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यम्।**
३. राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भा० २,

कर सकते।"[1] उनकी स्पष्ट घोषणा है कि "श्रुति का उद्देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान को जो साधारण साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, हमें प्रदान करे।"[2] अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थविहीन शब्दमात्र है। वाचस्पति मिश्र के मत में "केवल श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है, किन्तु वही श्रुति, जिसका निश्चित तात्पर्य है, श्रेष्ठ है।"[3] निस्सन्देह श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए। वह अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में "सहस्रों श्रुतिवाक्य भी घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[4] तब अनुभव के विरुद्ध किसी बात का प्रामाण्य कैसे हो सकता है? जहाँ तक श्रुति का सम्बन्ध है, शंकराचार्य ने वेदों से एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जिससे निमित्तकारण को उपादानरूप सिद्ध किया जा सके। ब्रह्म-प्रेरित त्रिगुणात्मक प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, इस तथ्य का निर्देश वेद, वैदिक साहित्य, उपनिषद् आदि में तथा अन्य भारतीय साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध है। प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म इस जगत् की रचना करता है—वेदान्त दर्शन के अनुसार प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त दोनों ही इस कथन के अनुकूल हैं।[5]

शंकराचार्य विवर्त्तवादी हैं। विवर्त्त की कल्पना किये जाने से स्पष्ट है कि जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं है। परन्तु विवर्त्त मानते हुए भी ब्रह्मसूत्र के भाष्य में वह अनेकत्र जगत् को ब्रह्म का परिणाम लिख देते हैं।[6] जगत् का उपादान वही होगा जिसका वह परिणाम है। यदि प्रकृति के सहयोग के बिना ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में प्रकट होता तो उसमें

---

१. **ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथानुभूतजन्यं च। न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते।**—शां० भा० ३।२।२१
**न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते॥**—गी० शां० भा० १८।६६

२. **प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादि विषये।**
—गी० शां० भा० १८।६६

३. **तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती न श्रुतिमात्रम्।**
—भामती, सिद्धान्तलेशसंग्रह

४. **न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीष्टे।**—भामती, प्रस्तावना

५. **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।**—वे० द० १।४।२३

६. **ब्रह्मणः**···जगदाकारपरिणामित्वम्।—शां० भा० २।१।२४
**एकस्यापि ब्रह्मणः**···विचित्रपरिणाम **उपपद्यते।**—वही
**चेतनमेकं ब्रह्म स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।**
—शां० भा० २।१।२६

परिणामित्व आदि दोषों की प्राप्ति होती तथा समस्त जगत ब्रह्म के सदृश चेतन होता। वस्तुतः जगत् की उपादानकारणता मे प्रकृति के साथ किसी की साझेदारी नहीं है। शंकराचार्य के अनुयायियों ने 'परिणाम' के साथ कल्पनामूलक 'विवर्त्त' को खड़ा करके इस तथ्य को झुठलाने का प्रयास किया। तथापि वह ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया—[जो प्रकृति का ही अपर नाम है]—तत्त्व की उपादानता को न हटा सके। कठोपनिषद् में कहा है कि सोते हुओं में जागनेवाले चेतन ने संकल्प के अनुसार इस जगत् का निर्माण किया।[1] जगन्निर्माता ब्रह्म का संकल्प नित्य ज्ञानरूप है। ज्ञान निश्चित रूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। इस संकल्पमय ज्ञान का विषय प्रकृति तत्त्व है जिसे निर्माता अपने संकल्प द्वारा जगद्रूप में परिणत करता है। सर्ग से पूर्व केवल ब्रह्म जागता रहता है। जगत्सर्ग के समय वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूप में परिणत करता है। इस प्रसंग में तैत्तिरीय उपनिषद् (३-१) का निम्न सन्दर्भ विवेच्य है—

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।**
**यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म॥**

ये प्राणि-अप्राणिरूप भौतिक जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर जिसके आश्रित स्थिर रहता तथा अन्ततः जिसमें लय होता है उसे जानने की इच्छा करो। वह ब्रह्म है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण ब्रह्म है। परन्तु कैसा कारण? कतिपय आचार्य इस उपनिषद्-वचन के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।[2] यद्यपि इस विषय का सम्बन्ध जितना भाषाशास्त्र अथवा व्याकरणशास्त्र से है उतना दर्शनशास्त्र से नहीं, परन्तु इसके महत्त्व को देखते हुए इसका विवेचन आवश्यक है। ऐसे विद्वानों का कहना है कि 'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में पञ्चमी विभक्ति अर्थात् अपादानकारक होता है वह उपादानकारण होता है, अर्थात् जायमान वस्तु के उपादानकारण में पञ्चमी विभक्ति होती है। अष्टाध्यायी के जिस

---

१. **यः एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।—कठ० ५।८**

२. T. U. (3.1) speaks of that from which, 'yatah' (यतः), these beings are born. This indicates the material cause of the world. —Radhakrishnan : Brahmasutra, 1.4.23

सूत्र को इसकी पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है, वह है—**'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः'** (१।४।३०)। परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कारणमात्र में पञ्चमी का प्रयोग होता है, केवल उपादान कारण में नहीं। स्वयं पाणिनि ने इस सूत्र से पूर्व पाँच सूत्रों में अन्य कारणों में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग का विधान किया है। वेद और लोक में अनेकत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं।[1]

गीता में स्पष्ट कहा है कि "ब्रह्मदेव के दिन का आरम्भ होने (सर्गोत्पत्ति होने) पर अव्यक्त से सब व्यक्त पदार्थ निर्मित होते हैं और रात्रि होने पर उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।"[2] इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—"यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ परब्रह्म नहीं है, क्योंकि आगे बीसवें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है कि ब्रह्मरूपी 'अव्यक्त' इस अठारहवें श्लोक में वर्णित 'अव्यक्त' से परे का और भिन्न है। अठारहवें श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द से सांख्यों की 'प्रकृति' अभिप्रेत है। बीसवें श्लोक में वह ब्रह्म का वाचक है।"[3] गीताकार के मत में स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत नहीं होता। इस

१. **तस्मादश्वा अजायन्त।**—यजु० ३१।८; **यस्मादृचोऽपातक्षन्।**—अथर्व० १०।७।२०; **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः…यजुस्तस्मादजायत।**—यजु० ३१।७; **आदित्याज्जायते वृष्टिः।**—मनु० ३।७६; **पुत्रात् प्रमोदो जायते। सुधनाज्जायते सुखम्। संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते, क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**—गीता, २।६२,६३। यहाँ सर्वत्र पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग है, तथापि पञ्चम्यन्त पदों से किसी उपादान तत्त्व का ग्रहण नहीं किया जा सकता। आदित्य को वृष्टि का, पुत्र को हर्ष का, परमेश्वर को ऋग्वेदादि का अथवा बुद्धिनाश को मनुष्य के नाश का उपादान कैसे कहा जा सकता है? ये केवल इन जायमान वस्तुओं के निमित्त हैं, अर्थात् करण कारक का काम देते हैं। फिर, संस्कृत में, विशेषतः वैदिक साहित्य में कारकव्यत्यय के बाहुल्य से भी विद्वान् परिचित हैं। ऐसी स्थिति में उपनिषद् का प्रस्तुत सन्दर्भ ब्रह्म को उपादानकारण सिद्ध करने में सहायक नहीं माना जा सकता।

२. **अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।**
**रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥**—गीता ८।१८

३. **तिलक-गीतारहस्य,**—८।१८, २०
तुलना करें—

At the coming of day, all unmanifested things come from the unmanifested and at the coming of night they merge in that same, called the unmanifested. Here unmanifested is Prakriti.
—Radhakrishnan.

दृश्यमान जगत् के रूप में जो मूलतत्त्व परिणत होता है, वह सत्त्व-रजस्तमोरूप प्रकृति है। उसका कार्यजगत् भी त्रिगुणात्मक है। पृथिवी-लोक, द्युलोक ग्रादि में कहीं कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रकृति के तीन गुणों से परे हो।[1]

कूर्मपुराण उत्तरार्ध के कुछ ग्रध्याय 'ईश्वरगीता' के नाम से जाने जाते हैं। वहाँ (२-२-११) परमात्मा को प्रकृति ग्रौर पुरुष दोनों से सर्वथा भिन्न कहा है। प्रपञ्च ग्रौर परमात्मा का तमः-प्रकाश के समान सर्वथा भेद बताया है। प्रकृति ग्रौर पुरुष (जीवात्मा) को छाया-ग्रातप के समान परस्पर भिन्न कहा है। इस भेद का कारण प्रकृति का जड़ ग्रौर पुरुष का चेतन होना है। 'ईश्वरगीता' में प्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—'सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण कहे जाते हैं। इन तीन गुणों की साम्यावस्था को ग्रव्यक्त प्रकृति के नाम से जाना जाता है।"[2] ग्रन्तिम चरण में सांख्यदर्शन (१-२-६) के 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इस सूत्र को किंचिद् भिन्न शब्दों में कह दिया है।

पुराणों में ग्रनेक स्थलों पर समुद्रमन्थन का वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण पूर्वार्ध के प्रथम ग्रध्याय में समुद्रमन्थन से प्रादुर्भूत विष्णु-पत्नी लक्ष्मी (श्री) को 'सर्वजगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः' कहा है। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे वहाँ ग्रालंकारिक रूप में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन किया हो। परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति के एक-एक कण का विक्षुब्ध हो जाना समुद्रमन्थन के समान है। प्रकृति स्वयं एक समुद्र के समान है। ग्राद्य प्रेरणा से सर्गरचना के समय जब उसका प्रत्येक परमाणु तेज़ी से गति करने लगता है तो यही उसका मन्थन है। जगद्रचना का कारण जीवों के कर्मफल-भोग के लिए ग्रनुकूल सामग्री प्रस्तुत करना है। इसलिए पुरुषों (जीवात्माग्रों) के शुभ ग्रौर ग्रशुभ कर्म ही देव ग्रौर ग्रसुर-रूप हैं जो इस मन्थन में निमित्तरूप होकर मानो मन्थानरज्जु को खींचते हैं। उस मन्थन से रत्न ग्रौर ग्रमृत उत्पन्न होते हैं। संसार में भोग तथा ग्रपवर्ग दोनों में

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ —गीता १८।४०

२. सत्त्वं रजस्तमश्चैति गुणत्रयमुदाहृतम्।
साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तं प्रकृतिं विदुः॥ कू० २१।७।२६

ही मनुष्य प्रवृत्त होते हैं। आसुरी वृत्तिवाले पुरुष रत्नों की ओर आकृष्ट होते अर्थात् सांसारिक भोगों में लिप्त होते हैं, जबकि दैवीवृत्तिवाले पुरुष अमृत का पान कर मोक्ष की ओर प्रवृत्त होते हैं। सृष्टि के अधिष्ठाता परमात्मा का एक नाम विष्णु प्रसिद्ध है। जगत् के उपादान त्रिगुणात्मिका प्रकृति को उसकी पत्नी कहा गया है।"[1]

मुण्डकोपनिषद् में बताया है कि "पुमान्=परमात्मा योषित्= प्रकृति में रेतःसिंचन करता है; इस प्रकार पुरुष से यह समस्त प्रजा प्रसूत है।"[2] परमात्मा का रेतःसिंचन, जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना है। ईश्वर और प्रकृति का पति और पत्नी अथवा पुरुष और नारी के रूप में औपचारिक कथन वैदिक एवं लौकिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध है। वस्तुस्थिति यही है कि यदि चेतन ईश्वर के बिना जड़ प्रकृति कुछ नहीं कर सकती तो मूल उपादान प्रकृति के बिना ईश्वर भी जगत् की रचना नहीं कर सकता। इसलिए विविधरूप में इन दोनों की एकपूर्णता के रूप में कल्पना करली जाती है किन्तु इस रूप में उनकी एकता का वर्णन औपचारिक ही समझा जाना चाहिए।

माण्डूक्योपनिषद् [२।१।१] में आया है—

**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।**
**तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥**

जैसी जलती हुई आग से सहस्रों चिंगारियाँ उसके समानरूप प्रादुर्भूत होती हैं, ऐसे ही अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होनेवाले भावों को 'सरूपाः' विशेषण द्वारा कारण के समानरूप बताया है। इसलिए 'अक्षर'-पद यहाँ प्रकृति का वाचक है। जगत् ब्रह्म के समान चेतन (सरूप) नहीं, जड़ है। जड़ जगत् का कारण उसी के समान जड़ होना चाहिए। इसलिए यहाँ 'अक्षर'-पद जगत् के उपादान कारण प्रकृति का ही पर्याय ठहरता है। यह अर्थ अगले सन्दर्भ 'अक्षरात् परतः परः' (२।१।२) से और भी स्पष्ट हो जाता है। वहाँ ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसे 'अक्षर' से 'परात्पर' कहा है। यदि 'अक्षर' से यहाँ ब्रह्म अभिप्रेत हो तो ब्रह्म को ब्रह्म से परात्पर कैसे कहा जा सकता है? प्रकृति अर्थ मानने पर संगति लग जाती है। प्रकृति (अक्षर) से उत्कृष्ट

---

७५. उदयवीर शास्त्री—सांख्यसिद्धान्त

७६. **पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः।**
—मु० २।१।५

(पर) जीवात्मा और जीवात्मा से भी उत्कृष्ट (परात्पर) ब्रह्म है। इस प्रकार 'अक्षर'-प्रकृति से ब्रह्म परात्पर है। 'पर' यहाँ उत्कृष्ट का पर्याय है। इसी अर्थ को लेकर ऋग्वेद में कहा है कि प्रलयकाल में प्रकृति के साथ वह एक शुद्ध तत्त्व विद्यमान रहता है जिससे **'परः किञ्चनास'** उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है।[1] लोकमान्य तिलक ने यहाँ 'परः' का अर्थ 'इससे परे' किया है। 'परे'-'उरे' सापेक्ष पद हैं, अतः इनका प्रयोग एकदेशी सत्ता के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से कोई भी देश उसका भेदक या व्यवच्छेदक नहीं हो सकता। तब किसी के उससे उरे-परे होने का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में 'परः' का अर्थ 'उत्कृष्ट' ही संगत है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण है। वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता, अपितु जड़ प्रकृति के सहयोग से नामरूपात्मक जगत् का निर्माण करता है।

**गुणत्रयसाम्यावस्थालक्षणा प्रकृतिः ॥३२॥**

त्रिगुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) की साम्यावस्था-रूप प्रकृति है।

प्रकृति एक मौलिक द्रव्य है जिसमें से इस जगत् का विकास होता है। साम्यावस्था में उसमें कोई क्रिया नहीं होती। विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है। जब गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होता है तो प्रकृति में परिणमन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है—जैसे प्रकृति, अदिति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त, अजा, तमस्, परिणामिनी, वृक्ष, प्रसवधर्मिणी, अक्षर, क्षेत्र, ब्रह्म, माया, अविद्या आदि, तथापि उसे मुख्यतः प्रकृति और प्रधान इन दो नामों से पुकारा जाता है। 'प्रधान' पद अपने निर्वचन के आधार पर मुख्य रूप से जगत् की प्रलयावस्था की ओर संकेत करता है। जो सब जगत् का आधार है (प्रधीयते—सांख्य प्रवचन भाष्य) और जिसमें सब जगत् सर्वथा लीन हो जाता है, वह प्रधान है।[2] क्योंकि

---

१. **आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।**

—ऋ० १०।१२९।२

२. **प्रकर्षेण अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत् प्रधानम्।**

जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिए सर्वाधिक प्रचलित यही नाम है। धातु और प्रत्यय के आधार पर 'प्रकृति' पद का अर्थ होगा—जिस साधन से सब जगत् की रचना होती है वह प्रकृति है।[1]

साम्यावस्था में त्रिगुण के संघात का नाम प्रकृति है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूलभूत स्थिति प्रकृति है अर्थात् जबतक ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारण-रूप में अवस्थित रहते हैं, तभी तक इनका नाम प्रकृति है। इनमें वैषम्य या विकृति आने पर नामरूपयुक्त सृष्टि बनती है। विकृति का ही दूसरा नाम कार्यावस्था है। समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति-अवस्था में सम्भव है। कार्यमात्र का मूल उपादान होने से प्रकृति को भले ही एक कहा जाए, पर प्रकृति नाम का व्यक्तिरूप में कोई एक तत्त्व नहीं है। वस्तुतः मूल तत्त्व तीन वर्गों में विभक्त हैं, परन्तु उनकी संख्या अनन्त है।

भारतीय दर्शन में सत्त्व-रजस्-तमस् को मूलतत्त्व माना है। समस्त जड़ जगत् मूलतः इन्हीं तत्त्वों से मिलकर बना है। सत्त्व (शुद्ध) प्रीतिरूप है। प्रीति का अर्थ है—दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् (मध्य) अप्रीतिरूप है और इस कारण दूर हटाने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् (जाड्य) विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप और न अप्रीतिरूप। प्रलयकाल में बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं कि कार्य करने की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। व्यक्त होने की प्रवृत्ति (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती है। 'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रधान पक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है, एकान्तिक अथवा अनन्य-स्वरूप को लक्ष्य करके नहीं। भौतिक जड़ पदार्थों में तमोगुण प्रधान है और सत्त्व तथा रजस् गौण। गतिमान् पदार्थों में रजोगुण प्रधान होता है और अन्य गुण प्रच्छन्न।[2]

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान प्रोटोन, इलेक्ट्रोन

---

१. प्रकर्षेण क्रियते जगदनया इति प्रकृतिः।

२. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥—सां० का० १२

तथा न्यूट्रोन नामक तीन तत्त्वों को मानता है। प्रोटोन आकर्षण-शक्ति का पुञ्ज है। इसके विपरीत इलेक्ट्रोन अपकर्षणस्वरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है, जबकि दूसरा अपने अपकर्षण (दूर करने या हटने) में प्रवृत्त रहता है। इन्हें पॉज़िटिव और नैगेटिव पावर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रोन में ये दोनों बातें नहीं होतीं। समस्त विश्व के मूल में ये ही तीन तत्त्व हैं जिनसे उसका निर्माण हुआ है।

इस सन्तुलन का यह अभिप्राय नहीं कि सत्त्व-रजस्-तमस् पूर्णतया क्रमशः प्रोटोन, इलेक्ट्रोन और न्यूट्रोन हैं, किन्तु मूलतत्त्वविषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और प्राचीन भारतीय विज्ञान (दर्शन) दोनों में पर्याप्त समानता है। अतः इस सन्तुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय तत्त्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि भारतीय मनीषियों का चिन्तन उससे भी परे की मूल अवस्था की ओर हो।

उत्पन्न पदार्थ अपनी सत्ता के लिए पराधीन हैं, किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ संख्या में अनेक हैं तथा देश-काल में सीमित हैं, किन्तु प्रकृति एक है और नित्य है। प्रकृति कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए कभी उत्पन्न भी नहीं होती। व्यक्त कार्य तथा अव्यक्त प्रकृति में भेद करते हुए सांख्यकारिका (१०) में कहा है कि—"व्यक्त कारणयुक्त, नाशवान्, एकदेशीय, अनेकरूपात्मक, परमुखापेक्षी, (प्रधान का) सूचक, सावयव और नित्य कारणों के अधीन होता है, किन्तु अव्यक्त इसके विपरीत होता है।[1] उत्पन्न पदार्थ प्रकृति के अन्दर अपना अस्तित्व रखते हैं, यद्यपि अव्यक्त दशा में भिन्न-भिन्न गुण अपने को मिटाते नहीं, बल्कि साम्यावस्था में अवस्थित रहते हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का आधार है। वह विशुद्ध समता है।

कारणरूप प्रकृति एक होते हुए भी अनेक सम्भाव्यताओं से युक्त है। उस एक में अनन्त शक्तियाँ अन्तर्हित रहती हैं। अविशेषता साम्य-

---

१. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥—सां० का० १०

अवस्था का पर्याय है। विशेषता और विषमता एकार्थवाची हैं। सुनार और कुम्हार आदि का काम है साम्य में वैषम्य उत्पन्न करना, अर्थात् स्वर्ण और मिट्टी को मनचाहे नाम रूप देना। स्वर्ण से अंगूठी, कंगन, कण्ठहार आदि कितने ही प्रकार के आभूषण बनाये जा सकते हैं। कार्यरूप में विविध नामरूपवाले होते हुए भी कारणरूप में सब एक—स्वर्ण हैं। स्वर्ण उन सबकी साम्यावस्था है अर्थात् अभी उसमें इनका भेद उत्पन्न नहीं हुआ। इसलिए अभी उसमें अनेक नामरूपात्मक आभूषणों की सम्भाव्यताएँ अन्तर्हित हैं। मिट्टी घड़े, सुराही, शकोरे, खिलौने आदि के उपादान कारण की साम्यावस्था है, जिसमें अभी भेद उत्पन्न नहीं हुआ। इसी प्रकार कागज में अनेक आकार, चित्र आदि अन्तर्हित रहते हैं। सुनार, कुम्हार और कलाकार स्वर्ण, मिट्टी और काग़ज़ को जैसा चाहें वैसा रूप दे सकते हैं, किन्तु कार्यावस्था में आने पर उनसे जो चाहें वह नहीं बनाया जा सकता। साम्यावस्था में वैषम्य अथवा भेद उत्पन्न होने अर्थात् प्रकृति के विकृति की अवस्था में आने पर उनका सामर्थ्य सीमित हो जाता है।[1] आटे से रोटी, पूरी, मठरी, समोसा आदि कुछ भी बनाया जा सकता है, किन्तु एक बार आटे की रोटी बन जाने पर फिर उससे पूरी-मठरी आदि कुछ और नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार ऐश्वरी सृष्टि का उपादान कारण साम्यावस्था-रूप प्रकृति है, जबकि जैवी सृष्टि का उपादान विकृति है।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, अपितु ऊर्जा (Energy) को वस्तु-तत्त्व (Matter) के रूप में तथा वस्तुतत्त्व को ऊर्जा के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऊर्जा और वस्तुतत्त्व का उपादान एक ही है, अर्थात् वे दोनों मूलतः एक हैं। सामान्य व्यक्ति समझता है कि रोटी आटे से बनती है। समझदार व्यक्ति कहता है कि रोटी गेहूँ से बनती है। कुछ अधिक समझदार व्यक्ति जानता है कि गेहूँ उस पौधे से उत्पन्न होता है जिसका कारण अर्थात् बीज स्वयं गेहूँ है। परन्तु गेहूँ के एक दाने से इतने अधिक दाने कैसे बन जाते हैं? वनस्पतिशास्त्र का ज्ञाता बताता

---

१. **सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्।**—शां० भा० २।३।९

है कि धरती और वायुमण्डल में उपलब्ध जल, कार्बन-डायोक्साइड और नाइट्रोजन से प्राप्त गेहूँ के स्टार्च और प्रोटीन के संश्लेषण द्वारा एक से अनेक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा हम स्थूल रोटी से उसके मूल उपादान जल, नाइट्रोजन तथा कार्बन-डायोक्साइड तक पहुँच जाते हैं। रसायनशास्त्री और गहराई में जाकर देखता है और इनके मूल में उसे आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा कार्बन मिलते हैं। जहाँ रसायनशास्त्री परमाणुओं पर जाकर ठहर जाता है, वहाँ भौतिक वैज्ञानिक परमाणुओं को इलेक्ट्रोन आदि में विभक्त करता है। इस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर की खोज करते हुए हम जब सूक्ष्मतम पर पहुँचते हैं तो हमें सत्त्व-रजस्-तमोगुणात्मक प्रकृति का दर्शन होता है।

विश्व-सम्बन्धी प्रक्रिया के दो रूप हैं—रचनात्मक तथा विनाशात्मक। मूल प्रकृति में से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विश्लिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है और सर्गकाल की समाप्ति पर विपरीत गति द्वारा विकास की पूर्व-स्थिति में लौट जाता है तथा अन्त में प्रकृतिरूप होकर विलीन हो जाता है। प्रकृति तबतक इसी दशा में रहती है जबतक नई सृष्टि की उत्पत्ति होने का समय नहीं आता। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रकृति का यह नाटक तबतक चलता रहता है जबतक दर्शक रहते हैं। किसी एक जीवात्मा के मोक्ष पा लेने पर वह समाप्त नहीं होता। एक शो समाप्त होता है तो कुछ काल के पश्चात् दूसरा शुरू हो जाता है। जब सब आत्माएँ मोक्षलाभ कर लें तभी यह नाटक समाप्त होकर इसके पात्र विश्राम कर सकते हैं, परन्तु वह समय कभी नहीं आता। ऐसी आत्माएँ सदा बनी रहती हैं जो प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रही होती हैं। इतना ही नहीं, जो मुक्त होकर चली जाती हैं वे भी अपना मोक्षकाल पूरा हो जाने पर लौट-लौटकर आती रहती हैं, इसलिए प्रकृति की संगीतलहरी सदा बनी रहती है।

**कार्यनियतप्राग्वृत्तिः कारणम् ॥३३॥**

कार्योत्पत्ति के लिए कारणसामग्री का नियत पूर्ववर्ती होना आवश्यक है।

कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि सम्भव है। कारणविशेष से कार्य-विशेष का प्रादुर्भाव होता है, इसीलिए जिसके होने पर कार्य होता है और न होने पर नहीं होता, उनमें होनेवाली वस्तु कार्य और दूसरी कारण होती है। इस नियम के अनुसार कार्य की सम्पन्नता के लिए यह आवश्यक है कि कारण पहले से विद्यमान हो। फलतः कारण वह पदार्थ है जिसका आगे परिवर्तन होना है। परिवर्तन सद्वस्तु में सम्भव है। वस्तुमात्र से कार्यमात्र का प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिए जो कार्य जहाँ से प्रादुर्भूत होता है, वहाँ उसका सत्त्व अवश्यम्भावी है।

**प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम् ॥३४॥**

उत्पत्ति से पूर्व (कारण में) कार्य रहता है।

कार्य को व्यक्त होने से पूर्व कारण में होना चाहिए, क्योंकि जहाँ जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती वहाँ वह उत्पन्न नहीं होती। जो सर्वथा असत् है, यदि वह अस्तित्व में आ जाए तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी जो नितान्त असम्भव है। इसीलिए जिस वस्तु के सम्बन्ध में हम उत्पन्न होना कहते हैं, वह अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् हो, ऐसा नहीं हो सकता। यदि कारण के भीतर कार्य विद्यमान न हो तो, चाहे कितनी ही चेष्टा की जाए, उसे कारण के अन्दर से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। बालू को दबाकर उसमें से तेल नहीं निकाला जा सकता। कार्य का अस्तित्व अपने कारण में अदृश्यरूप में—जैसे वृक्ष का बीज में—सदा विद्यमान रहता है। अव्यक्तावस्था में होने के कारण वह दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार किसी वस्तु का अपने कारण में लय होना 'नाश' कहाता है उसी प्रकार से कारण से (न कि अभाव से) कार्यरूप में आना 'उत्पत्ति' कहाता है। व्यक्त होना—बीज से पौधे के समान—उस पदार्थ का जो पहले से वर्तमान था, दृश्यावस्था में परिणमनमात्र है। इसलिए कर्त्ता की क्रिया का उद्देश्य कारणरूप द्रव्य को कार्यरूप में लाने की व्यवस्था करना है, क्योंकि कारणरूप में कार्य के विद्यमान होने पर भी कार्यसम्बन्धी व्यवहार तभी सम्पन्न होता है जब कार्य अभिव्यक्त हो जाता है।

प्रत्येक उत्पद्यमान कार्य के लिए किसी विशेष कारण का उपपादन

किया जाता है। उत्पन्न होने से पूर्व वह सामग्री के रूप में विद्यमान रहता है। वस्त्र बनाने के लिए सूत का और घड़ा बनाने के लिए मिट्टी का उपादान आवश्यक है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण में विद्यमान होना अनिवार्य न माना जाए तो कार्य के समानरूप से सर्वत्र असत् होने के कारण जिस कार्य की चाहे जिस कारण से उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। मिट्टी से घड़ा और सूत से वस्त्र बनता है। मिट्टी से वस्त्र और सूत से घड़ा कदापि नहीं बन सकता। इससे स्पष्ट है कि मिट्टी में घड़ा और सूत में वस्त्र किसी-न-किसी रूप में पहले से विद्यमान है। यह भी देखा जाता है कि उत्पन्न पदार्थ अपने उपादान से भिन्न नहीं होता। जैसा कारण होता है तद्रूप ही उसका कार्य होता है। इससे कार्य की कारणरूपता का निश्चय होता है। इस प्रकार अभाव से भाव, प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य अथवा कारणमात्र से कार्यमात्र की उत्पत्ति सम्भव न होने तथा कार्य के अपने कारण के अनुरूप होने से सिद्ध है कि तात्त्विक रूप से कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। ऐसे पदार्थों में, जो तात्त्विक रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं, कार्य-कारण-सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता।[1] इस विषय में सांख्यकारिका में लिखा है कि क्योंकि (१) अस्तित्वहीन अशक्य है, सत् नहीं हो सकता, (२) कारण का कार्य से सम्बन्ध रहता है, (३) सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती, (४) कारण की शक्ति के अनुरूप ही कार्य होता है और (५) कार्य कारण से भिन्न नहीं है, इसलिए ऐसी कोई वस्तु विकसित नहीं हो सकती जो पहले से किसी रूप में अन्तर्हित न हो।[2] जो कुछ छिपा हुआ है उसके प्रकाश में आ जाने का नाम ही विकास है। अरस्तू के शब्दों में यह सम्भाव्य सत्ता के रूप में संक्रमण है।[3] यही सत्कार्यवाद है।

---

१. तत्त्व कौमुदी-९ (**न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते**)

२. **असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।**
**शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥**—सां० का० ९

३. As Aristotle would say, it is the transition from potential being to actual being, or, in Hegel's words, it is the passage from the implicit to the explicit.

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, II, P. 256-57

तुलना करें—**"कथमसतः सज्जायेतेति** (छा० ६।२।२); **"नासतो विद्यते भावः"** (गीता २।१६)

किन्तु कार्यावस्था में वस्तु की जिन क्रियाओं व उसके गुणों का व्यवहार किया जाता है, कारणदशा में उनका अभाव अवश्य रहता है। मिट्टी से घड़ा और सूत से वस्त्र बनता है सही, किन्तु मिट्टी से घड़े का या सूत से वस्त्र का काम नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में विद्यमान होते हुए भी, कार्यरूप में असत् होता है। यही 'असत्कार्यवाद' है। इस प्रकार देखा जाए तो 'सत्कार्य-वाद' तथा 'असत्कार्यवाद' में तत्त्वतः परस्पर कोई भेद नहीं है।

**अकारणं मूलकारणम् ॥३५॥**

मूलकारण का कारण नहीं होता।

कार्य-कारण-सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि कारण वस्तु के न होने पर कार्य होना सम्भव न हो। प्रत्येक कार्य का कारण खोजा जाता है, क्योंकि कार्य-कारणरूप इस जगत् में प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है। जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह प्रकृति-विकृति कहाता है। सूत वस्त्र का कारण है, किन्तु रूई का कार्य। इसी प्रकार आटा रोटी का कारण है, किन्तु गेहूँ का कार्य और ईंटें मकान का कारण हैं, किन्तु मिट्टी का कार्य। उत्पन्न पदार्थ का कोई उपादान-कारण अवश्य होना चाहिए। इसलिए कार्यजगत् अपने उपादानकारण पार्थिवादि परमाणुओं के अस्तित्व में प्रमाण है। परन्तु जो केवल कारणरूप है वह किसी का कार्य नहीं होता। जो किसी का कारण हो और स्वयं किसी का कार्य, वह मूल कारण नहीं कहाता। भावरूप पदार्थ जिसका कोई कारण न हो, नित्य कहाता है।[1] सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था में प्रकृति जगत् का आदि अथवा मूलकारण है। समस्त चराचर अचेतन जगत् के मूल तत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। अखिल विश्व इनका परिणाम है, परन्तु ये किसी का परिणाम नहीं हैं। यदि इनका भी कोई उपादानकारण माना जाएगा तो उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण-परम्परा का कहीं अन्त न होने से अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी, अतः सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप प्रकृति जगत् का मूल उपादान होने से उसका कोई कारण नहीं। जबकि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता

---

१. **सदकारणवन्नित्यम्।**—वै० ४।१।१

है, प्रकृति का कोई कारण नहीं,[1] क्योंकि सब कार्यों का मूल कारण अकारण होता है।

**अवस्थान्तरापत्तिरेव कार्यता ॥३६॥**

अवस्थान्तर होना ही कार्यरूप होना है।

सत्त्व आदि का सर्गोन्मुख न होना, अर्थात् वह अवस्था जब सत्त्व आदि मूलतत्त्व कार्यरूप में परिणत होने की स्थिति में न हों, साम्यावस्था है। यह कारण की मूल अवस्था है जो प्रलयकाल में सम्भव है। सर्गकाल में सत्त्व आदि गुणों में साम्य न रहकर वैषम्य उपस्थित हो जाता है। यह परिणाम अथवा कार्य की अवस्था है। इस प्रकार कारणावस्था में परिवर्त्तन ही कार्यता है। कारण तथा कार्य भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं और इसीलिए एक-दूसरे से भिन्न हैं। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कारण तथा कार्य एक पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थाएँ हैं। हीगल के शब्दों में गुप्तावस्था से प्रकटरूप में आना ही कार्य कहाता है।[2] समस्त उत्पादन विकासमात्र है। सर्ग और प्रलय दो अवस्थाओं के नाम हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् से सरूप तथा विरूप दो प्रकार के कार्य या परिणाम होते हैं। मूल उपादान की साम्यावस्था अथवा सरूप परिणाम प्रलयावस्था है और त्रिगुण के परस्पर मिथुन से प्राप्त विलक्षण परिणाम सर्गकाल है। पहली अवस्था में समस्त कार्य केवल कारणरूप में अवस्थित रहते हैं, जबकि दूसरी अवस्था में वे कार्यरूप में सामने आ जाते हैं।

कोई भी द्रव्य भिन्न अवस्था में आ जाने से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। कोई परिवर्त्तन किसी वस्तु का और उसके अन्दर होता है। परस्पर असम्बद्ध वस्तुविषयों का केवल एक-दूसरे के पश्चात् आना अवस्थान्तर नहीं कहाता। गाय की जगह खूँटे पर घोड़ा बाँध दिया जाए तो यह अवस्थान्तर या परिवर्त्तन नहीं कहलाएगा। दूध का दही-रूप हो जाना अथवा बीज का वृक्षरूप हो जाना अवस्थान्तर है।

**आद्यन्तयोरभावादसत् ॥३७॥**

पूर्वपक्ष—आदि और में अभावरूप वस्तु असद्रूप है।

---

१. देखें—**सांख्यप्रवचनसूत्र**—१।६७

२. It (creation) is the passage from the implicit to the explicit.

—Radhakrishnan. : Indian Philosophy, Vol. II, P. 256.

जो पहले न हो और अन्त में भी न रहे वह वर्त्तमान में भी नहीं होता।[1]

उत्पन्न पदार्थ की उत्पत्ति किसी कालविशेष में होती है। इससे स्पष्ट है कि उत्पत्ति से पूर्व उसका अस्तित्व नहीं होता। निश्चय ही ऐसा पदार्थ अन्त में नहीं रहेगा, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होगी उसका विनाश अवश्यम्भावी है। एक-न-एक दिन सृष्टि की रचना हुई थी। रचना से पूर्व उसका अस्तित्व नहीं था। एक दिन ऐसा भी आएगा जब वह नहीं रहेगी। इसका अर्थ है कि वर्त्तमान में भी उसकी सत्ता नहीं है।

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत इस बात का प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया है—

**नाशः कारणलयः ॥३८॥**

कारण में लय होना नाश कहाता है।

प्रथम तो जो प्रत्यक्ष है—जिसे प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। वर्त्तमान में जगत् का अस्तित्व है—यह स्वतःसिद्ध है। यदि कोई पदार्थ वर्त्तमान में है ही नहीं तो उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'वह' पहले नहीं था, या फिर नहीं रहेगा? उसके पहले न होने और फिर न रहने का कथन ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय है। "यहाँ यह घड़ा पहले नहीं था और कुछ समय बाद नहीं रहेगा" कहने से स्पष्ट है कि वह इस समय यहाँ है। मैं जिस कुर्सी पर बैठकर लिख रहा हूँ, वह बनने से पूर्व नहीं थी। यह भी निश्चय है कि एक दिन ऐसा भी होगा जब वह नहीं रहेगी, तो क्या यह समझकर कि वह अब भी नहीं है, मैं उसपर से उठ बैठूँ? रोटी बनने से पहले नहीं होती और कुछ समय बाद नहीं रहती, तब क्या इस कारण वर्त्तमान में भी उसे असत् मानकर खाने से इनकार कर दूँ? आम का पेड़ अंकुरित होने से पूर्व नहीं था और कुछ काल पश्चात् गिर जाने पर नहीं रहेगा, तो क्या इस कारण लोग उसे असत् मानकर उसपर लगे आमों को नहीं खाएँगे? वस्तुतः संसार की जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब आदि और अन्त में

---

१. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।
—गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, ३१

नहीं होतीं, मध्य में होती हैं। क्रिया का अर्थ ही यह है कि वह पहले और पीछे नहीं होती। जो पहले से है और बाद में भी बना रहेगा, उसके लिए क्रिया का होना निरर्थक है—वहाँ क्रिया होने का प्रश्न ही नहीं उठता। आनन्दगिरि कहते हैं कि "जिसका आदि और अन्त है वह मिथ्या है, जैसे मृगतृष्णिका आदि।"[1] मृगतृष्णिका मिथ्या अवश्य है, किन्तु आदिमत् और अन्तवत् होने के कारण नहीं। यदि आदिमत् और अन्तवत् होने के कारण संसार की सब वस्तुएँ मिथ्या हैं तो मृगतृष्णिका आदि का दृष्टान्त प्रस्तुत करना अनपेक्षित है। मेज़, कुर्सी, दाल, रोटी, धोती, कुरता, सेब, सन्तरे सभी आदिमत् व अन्तवत् हैं परन्तु कोई भी उन्हें मिथ्या नहीं मानता। मृगतृष्णिका में कोई स्नान नहीं करता, किन्तु सेब, सन्तरे आदि को सब खाते हैं। फिर, मृगतृष्णिका आदि भी क्यों और किस अंश में मिथ्या हैं, इसका विवेचन यथावसर आगे किया जाएगा।

यह ठीक है कि संयोजक पदार्थ संयोग से पहले नहीं होता और वियोग के बाद नहीं रहता, किन्तु संयोग और वियोग होता ही विद्यमान सत्पदार्थों का है, अभाव का नहीं। जो पदार्थ है ही नहीं उसके संयोग-वियोग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? ईश्वर के सामर्थ्य में जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। जगत् का अपनी अभिव्यक्ति-अवस्था में आना ही इसका उत्पाद है परन्तु यह सदा इस अवस्था में नहीं रह सकता, क्योंकि यह एकान्त नित्य नहीं है, अतः समय पाकर यह अभिव्यक्त अवस्था से अपेत—दूर हो जाता है और अतीत अवस्था आ जाती है, तब क्या यह अपना अस्तित्व खो बैठता है? नहीं। अपेत या अतीत अवस्था में भी इसका अस्तित्व बना रहता है। कोई भी वस्तु जो सद्रूप है, सर्वथा विनाश अथवा अभावरूप में परिणत नहीं हो सकती। यह ठीक है कि सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में अर्थात् प्रलयकाल आरम्भ होने से जबतक पुनः सृष्टिरचना होगी तबतक उपादानकारण प्रकृति के साम्यावस्था में रहने से वह अव्यक्त दशा में रहती है, जबकि वर्त्तमान में वह व्यक्त है।

वस्तुतः सृष्टि का उत्पाद और विनाश अथवा आविर्भाव और तिरोभाव एक प्रकार से संसार की प्रक्रिया के पड़ाव हैं। भूतकाल तथा

---

१. **यत् आदिमत् अन्तवच्च तत् मिथ्या मृगतृष्णिकादिवत्।**

वर्त्तमान की भाँति प्रयलावस्था तथा सर्गरचना में भी तारतम्य बना रहता है। प्रत्येक कल्प (सृष्टि की कालावधि) के प्रारम्भ में उन मूलभूत तत्त्वों का अनावरण होता है जो अपने अन्दर विविधता की सम्पूर्ण शृङ्खला को धारण किये रहते हैं। सृष्टिरचना के समय जगत् नामरूप में विकसित होता है, जबकि प्रलयावस्था में वह अविकसित रूप में रहता है। सृष्टि, देशकाल के स्तर पर उसी की अभिव्यक्ति है जो पहले से ईश्वर के अन्दर विद्यमान है।[1] प्रत्येक कल्प के अन्त में ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का प्रतिसंहार करता है, अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति में विलय हो जाता है। 'विलय' का तात्पर्य है कि उस अवस्था में कार्य अपनी आकृति व बनावट का परित्याग कर देता है जो कार्य का निजी अस्तित्व है। तब वह केवल कारणरूप में पुनः अवस्थित हो जाता है। जीवात्माएँ भी अपने भौतिक शरीर के सम्बन्ध से मुक्त हो जाने के कारण मानो प्रगाढ़ निद्रा में लीन पड़ी रहती हैं, किन्तु उनके कर्म अभी तक निःशेष न होने के कारण, उन्हें फिर दैहिक जीवन में प्रविष्ट होना पड़ता है और नई सृष्टि में एक बार फिर जन्म, कर्म, मृत्यु आदि का चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

वास्तव में इस भ्रान्ति का कारण प्रकृति और विकृति के भेद को न समझना है। विकृति का दूसरा नाम परिवर्त्तन या रूपान्तर है किन्तु नामरूप का परिवर्त्तन नाश का द्योतक नहीं है। जो सत् है, वह सत् रहेगा और जो असत् है वह असत् रहेगा। सत् से असत् अथवा असत् से सत् कभी नहीं होगा।[2] वर्त्तमान संसार लगभग दो अरब वर्ष से आज तक विद्यमान है तो उसका सत् होना निश्चित है। वस्तुतः किसी

---

१. तुलना करें, एमिली ब्राण्टे—

Though earth and man were gone,  
And suns and universes ceased to be,  
And thou were left alone,  
Every existence would exist in Thee.

यद्यपि पृथिवी और मनुष्य नष्ट हो गये,  
सूर्यों तथा विश्वों का भी अस्तित्व नष्ट हो गया,  
और तू अकेला रेह गया,  
तो भी प्रत्येक सत्ता तेरे अन्दर विद्यमान है।

२. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**—गीता २।१६

कार्यवस्तु का सर्वथा नाश या अत्यन्ताभाव कभी नहीं हो सकता।[1] अभिव्यक्तावस्था में आ जाने पर जब वह अपने रूप का परित्याग करती है तो या तो यह रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में लीन हो जाती है। इसी स्थिति को साधारणतया उस कार्यवस्तु के नाश का नाम दे दिया जाता है, परन्तु उत्पत्ति से पहले और पीछे भी उसका अस्तित्व अपने कारण में अवश्य बना रहता है। मूलतत्त्व सदा वर्त्तमान रहता है। आभूषण के आभूषणरूप में नष्ट हो जाने पर भी उसका सोना बना रहता है जो कार्यावस्था में उसका उपादान है। घड़ा फूट जाने पर घड़ा नहीं रहता, किन्तु उसका उपादान मिट्टी बनी रहती है। इसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् का अन्त हो जाने पर भी उसका मूल उपादान प्रकृति अपनी कारणावस्था में सदा बनी रहती है। आदि और अन्त में कार्य के न रहने का अर्थ उसका अपने कारण में लय होना अथवा तिरोहित होना है, अभावरूप होना नहीं।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा में परिवर्त्तित हो जाती है। इतना ही नहीं, ऊर्जा को वस्तुतत्त्व में और वस्तुतत्त्व को ऊर्जा में परिवर्त्तित किया जा सकता है। वस्तुतः ऊर्जा (एनर्जी) और वस्तुतत्त्व (मैटर) दोनों मूल में एक हैं। भारतीय दर्शन की भी यही मान्यता है कि सर्वात्मना विनाश किसी पदार्थ का नहीं होता, परिणमन के कारण उसकी अवस्था भले ही बदलती रहे। वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्त्तित हो जाता है, पर सर्वथा नष्ट कभी नहीं होता। जल का आक्सीजन और हाइड्रोजन में विभक्त होकर अदृश्य हो जाना अथवा वाष्परूप होकर उड़ जाना जल का नष्ट हो जाना नहीं है। संस्कृत व्याकरण में 'नाश' पद का धातु 'णश्' अदर्शन-अर्थ में कहा है। कारण में लय होने को लोक में नाश का नाम दे दिया जाता है।

**प्रत्यक्षं समवायसम्बन्धोपलब्धेः ॥३९॥**

पूर्वपक्ष—(कार्य-कारण में) समवाय-सम्बन्ध होने से प्रकृति का प्रत्यक्ष है।

कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होते, तथापि उन्हें यथार्थ माना जाता है। ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध में जो या तो अत्यन्त

---

१. भूतकाल तथा भविष्यत् की अवस्थाओं का नाश नहीं होता, क्योंकि उनका प्रत्यक्षज्ञान योगियों को होता है।—सांख्यप्रवचनभाष्य १।१२१

निकट हैं या अत्यन्त दूर, प्रत्यक्ष सफल नहीं होता। इन्द्रियों के दोष, मन के एकाग्र न होने, किसी अन्य पदार्थ के बीच में आ जाने, अत्यन्त सूक्ष्म होने, किसी अधिक आकर्षक पदार्थ की उपस्थिति से तेजोहत होने तथा समान पदार्थों में मिल जाने से कोई वस्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य हो जाती है।[1] किन्तु प्रत्यक्ष न होने से किसी पदार्थ का अभाव नहीं हो जाता।[2]

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता। कारण के कार्य में बने रहने से उसका प्रत्यक्ष होता है। कार्य-कारण में समवाय-सम्बन्ध होने से कारण के कार्यरूप होने पर वह कार्य में वर्त्तमान रहता है। जब हमें घड़े का प्रत्यक्ष होता है तो हम अनुभव करते हैं कि हम मिट्टी को भी देख रहे हैं, यद्यपि अग्नि में पके हुए घड़े का रूप कच्ची मिट्टी से भिन्न होता है। जब हम दही को देखते हैं तो हम दूध को उसके विकृतरूप में देख रहे होते हैं। जब एक रसायनशास्त्री साधारण नमक को देखता है तो उसे लगता है जैसे वह सोडियम और क्लोराइड के अंशों (परमाणुओं) को देख रहा है। कार्य-कारण में अविच्छिन्न सम्बन्ध होने से दोनों का एकसाथ प्रत्यक्ष होता है।

इस पक्ष का प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया है—

**कार्यदर्शनात्तदनुमानम् ॥४०॥**

विकृति से प्रकृति का अनुमान होता है।

यद्यपि प्रकृति अतीन्द्रिय पदार्थ है, पर यह समस्त त्रिगुणात्मक जगत् उसी का कार्य है। इसमें निरन्तर होनेवाले परिणाम को देखकर निश्चय होता है कि इसका त्रिगुणात्मक मूल उपादान अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कोई परिणामी तत्त्व अपने मूल उपादान के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार कार्यजगत् से उसके मूल उपादान प्रकृति का अनुमान हो जाता है। अनेक सम्भाव्यताओं से युक्त होने पर भी साम्यावस्था में प्रकृति नामरूप के बिना होती है। इस कारण उस अवस्था में वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। कार्यावस्था में आने पर ही वह अभिव्यक्त होती है। सत्त्व-रजस्-तमस् में वैषम्य होने पर वह नाम रूपात्मक विकास की ओर अग्रसर होती हुई विकृति का रूप धारण करती

१. **अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥**—सां० का० ७

२. **सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात्।**—सां० का० ८

है। विकृति की अवस्था में ही वह प्रत्यक्ष का विषय बनती है। इस प्रकार देखा जाए तो स्पष्ट है कि प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता, विकृति के प्रत्यक्ष द्वारा उसका अनुमान होता है।

**नित्यौ प्रकृतिपुरुषौ भोग्यभोक्तृभावात् ॥४१॥**

भोग्य और भोक्ता-सम्बन्ध से प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) नित्य हैं।

दृश्य प्रकृतिजन्य पदार्थ हैं। जड़ अर्थात् अचेतन होने से प्रकृति स्वतः किसी प्रवृत्ति में समर्थ नहीं है। उसके लिए चेतन सहयोग की अपेक्षा रहती है। जड़ होने के कारण वह स्वयं इस प्रसूत जगत् का भोग नहीं कर सकती। परमात्मा सत्यसंकल्प, पूर्णकाम है। वह अपने आपमें एक तत्त्व है जो 'अनश्नन्' रहता हुआ स्वप्रकाश है। तब प्रकृति का प्रसव किसके लिए? निश्चय ही दूसरे चेतन तत्त्व जीवात्मा के लिए। वही इस प्रसूत जगत् का उपभोग करता है। इसलिए प्रकृति उसका भोग्य है और वह प्रकृति का भोक्ता। न भोक्ता के बिना भोग्य की कल्पना की जा सकती है और न भोग्य के बिना भोक्ता की, अतः दोनों में नित्य सम्बन्ध है।

किसी भी वस्तु के अनेक नामों के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न होते हैं। जगत् के मूलकारण का 'प्रकृति' नाम इसलिए है कि उससे इस जगत् की रचना होती है। उसका 'प्रधान' नाम इसलिए है कि प्रलयकाल में यह सब दृश्यमान् जगत् उसमें लीन हो जाता है। प्रकृति का एक वैदिक नाम 'अदिति' है। **'अद्यत इति अदितिः'** भक्षणार्थक 'अद्' धातु से 'अदिति' पद के निर्वचन में प्रकृति की भोज्यता स्पष्ट होती है। इस नाम से प्रकृति में भोज्य अथवा भोगसाधन होने की भावना अन्तर्निहित है। समस्त अचेतन त्रिगुणात्मक जगत् की सफलता इसी में है कि उसका कोई भोक्ता हो। भोग्य स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता। इसलिए अचेतन प्रकृति का भोक्ता जीवचेतन है। जीवचेतन के द्वारा भोगी जाने—खाये जाने के कारण प्रकृति की 'अदितिः' संज्ञा है। 'मैत्रायण्युप-निषद्' में भोक्ता तथा भोज्य का वर्णन करते हुए लिखा है—"प्रधान के सम्पर्क में आया चेतन पुरुष भोक्ता है जो प्रकृति तथा उसके विकारों का—जो उसके अन्न हैं—भोग करता है। इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति

भोज्य है, अन्तःस्थ पुरुष उसका भोक्ता।"[1] यह जीवचेतन शरीर में अवस्थित रहकर सांसारिक भोगों को भोग सकता है। यह शरीर में तभी आता है जब इसका प्रकृति से सम्बन्ध रहता है। जीवचेतन की यह स्थिति 'बन्ध' कहाती है। जब चेतन-अचेतन का विवेक होने पर प्रकृति-सम्पर्क से छूट जाता है तो वह उसकी 'मुक्त' अवस्था होती है।

ऋग्वेद (१।१६४।२०), मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (४-६) में अलंकार-रूप में भोज्य और भोक्ता का वर्णन करते हुए लिखा है—"एक वृक्ष पर एक जैसे दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के फलों को भोगता है और दूसरा न भोगते हुए प्रकाशित रहता है।"[2] यहाँ परमात्मा और जीवात्मा को दो पक्षी और प्रकृति को वृक्ष कहा गया है। जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है, इसलिए उसका प्रकृति से भोग्य-भोक्तृत्व-सम्बन्ध है। समस्त जड़-जगत् प्रकृति का कार्य है, पर प्रकृति किसी का कार्य नहीं। वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं। जब वह किसी का विकार नहीं तो उसका भोक्ता जीवचेतन भी किसी का विकार नहीं। अविकारी होने से दोनों अनादि तथा अनन्त अर्थात् नित्य हैं।

कुछ लोग गीता के आधार पर जीव को अध्यास से और प्रकृति को स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। जो उत्पन्न होता है वह अनादि नहीं हो सकता। परन्तु गीताकार ने जीव और प्रकृति दोनों को स्पष्टतः अनादि बताया है।[3] जो अनादि हैं वे अनिवार्यतः अनन्त हैं और अनाद्यनन्त होने से नित्य हैं।

**प्रयोजनाभावे प्रवृत्त्यभावः ॥४२॥**

प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती।

साधारण बुद्धि रखनेवाला मनुष्य भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[4] यदि ईश्वर तात्त्विकरूप से स्वतन्त्र है तो उसे सृष्टिरचना के लिए कोई विवश नहीं कर सकता। ईश्वर के

---

१. **पुरुषश्चेता प्रधानान्तःस्थः स एव भोक्ता प्राकृतमन्नं भुङ्क्त इति तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं भोक्ता पुरुषोऽन्तःस्थः ॥**—मै० उ० ६।१०

२. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥**

३. **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**—गीता १३।१९

४. **न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते।**

पक्ष में किसी प्रयोजन का निर्देश करने से उसकी पूर्णता से विरोध होता है। यदि इस जगत् की उत्पत्ति किसी प्रयोजन से हुई अथवा वह रचयिता की किसी इच्छा को व्यक्त करती है अथवा किसी अभाव की पूर्त्ति करती है तो इसका अर्थ होगा कि उसके अन्दर किसी वस्तु की आवश्यकता का भाव है, क्योंकि अप्राप्त को प्राप्त करने अथवा प्राप्त की रक्षा करने की भावना का नाम इच्छा है। इच्छा ही मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करती है।[1] एवं उस सर्वोपरि सत्ता की अपूर्णता प्रकट होती है। यदि उसने बिना किसी निश्चित उद्देश्य के सृष्टिरचना की तो फिर उसके और किसी बच्चे के कार्यों में क्या अन्तर है? परन्तु सृष्टि की रचना तो ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। दिव्य लोक-लोकान्तरों की रचना के अवसर पर ब्रह्म ने समस्त लोकों का निर्माण इस प्रकार किया है जैसे कोई शिल्पी कार्य करता है। बिना किसी प्रयोजन के इस प्रकार की रचना का कोई अर्थ नहीं। यह कहना कि परब्रह्म मात्र अपने को अभिव्यक्त करने के लिए सृष्टिरचना करता है, उपयुक्त नहीं। निरपेक्ष ब्रह्म के 'सत्' तथा उसकी अभिव्यक्ति में भेद नहीं किया जा सकता। जैसे सूर्य सदा प्रकाशमान है, वैसे ही निरपेक्ष ब्रह्म सदा स्वतः अभिव्यक्त है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए वह सृष्टि पर आश्रित नहीं है। फिर, यह सीमित जगत् तो उसके एक अंश में है—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि।'** अनन्त ब्रह्म को वह अभिव्यक्त कर भी कैसे सकता है? यह तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

तो फिर सृष्टिरचना क्यों की?

**लीलामात्रमित्येके ॥४३॥**

(प्रभु का सृष्टि रचना) लीलामात्र है, कुछ लोगों का ऐसा मत है।

परमात्मा की क्रियाशीलता एक खेल है। सृष्टिरचना उसका स्वभाव है।[2] उसके बिना वह रह नहीं सकता। स्वाभाविक प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं रहता। बालक को घर बनाते-बिगाड़ते देखकर यदि उससे पूछा जाए कि वह ऐसा क्यों कर रहा है तो वह यही उत्तर देगा—"मैं तो खेल कर रहा हूँ।" जैसे घर का बनाना-बिगाड़ना बालक

---

१. **प्रवृत्तिप्रयोजिका इच्छा।**—विद्यानन्द
२. **स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**—श्वेत० ६।८

का स्वभाव है, वैसे ही सृष्टि को बनाना-बिगाड़ना—उत्पत्ति तथा प्रलय करना—ब्रह्म का स्वभाव है। उसमें प्रयोजन की खोज करना व्यर्थ है। ईश्वर की रचनात्मक कर्मण्यता उसकी पूर्णता का अनिच्छित अतिरेक है। अपने आह्लाद की पूर्णता के कारण ईश्वर बाहर की ओर जीवन तथा शक्ति का वितरण करता है। जैसे लोक में राजा लोग एवं उनके सदृश सम्पन्न व्यक्ति क्रीड़ाओं का आयोजन करते हैं, उसी प्रकार अपने आह्लाद की अपरिमितता के कारण परमात्मा सृष्टिरचना करता है। परमेश्वर सृष्टि को एक मनोरंजक खेल समझता है जिसका आनन्द वह स्वयं भी उठाता है और मुक्तात्मा भी उसमें भाग ले सकते हैं।

लीला का वास्तविक अर्थ अगले सूत्र में बताया है—

**अनायाससाध्येति श्वासनिमेषादिवत् ॥४४॥**

(सृष्टिरचना) श्वास-निःश्वास तथा निमेषोन्मेष की भाँति बिना प्रयास के हो जाती है (लीलामात्र का यही अर्थ है)।

साधारणतया 'लीला' पद का अर्थ क्रीड़ा करके और क्रीड़ाओं को निष्प्रयोजन बताकर ब्रह्म द्वारा जगद्रचना की उससे तुलना की जाती है, किन्तु लीला भी निष्प्रयोजन नहीं होती। संसार में राजाओं आदि द्वारा आयोजित की जानेवाली क्रीड़ाओं का भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। यदि मनोरञ्जनमात्र के लिए क्रीड़ाओं का आयोजन होता है तो वह भी सप्रयोजन है, क्योंकि मनोरञ्जन भी अपने-आपमें एक प्रयोजन है। मनोरञ्जन के अतिरिक्त हर्षोल्लास एवं ऐश्वर्य का प्रदर्शन अथवा वासनापूर्ति भी प्रयोजन ही है, परन्तु ब्रह्म द्वारा जगद्रचना का प्रयोजन अपना मनोरञ्जन करना नहीं हो सकता। मनोरञ्जन से आनन्द की अनुभूति होती है, परन्तु जो स्वरूप से ही आनन्दमय है[1] वह अपने आनन्दलाभ के लिए प्रयास क्यों करेगा? इसी प्रकार जो मुक्तात्माएँ संसार से विरक्त हो, प्रकृति से नाता तोड़कर उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को पाकर आनन्दमय हो जाती हैं[2] उनके आनन्दलाभ के लिए जगद्रचना करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

यदि ईश्वर ने सृष्टि की रचना अपने मनोरञ्जन या आनन्दलाभ के लिए की है तो समस्त संसार को सुखपूर्ण क्यों नहीं बनाया? संसार

१. **रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।**—अथर्व० १०।८।४४
२. **रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**—तै० उ० २।७

में दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न योनियों और अवस्थाओं में पड़े जीव अकारण कष्ट पा रहे हैं। क्या परमात्मा संसार को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है ? क्या अपने क्षणिक सुख=मनोरञ्जन के लिए निर्दोष प्राणियों को दुःखी करना न्याययुक्त है ?[1]

कहा जाता है कि जिस प्रकार एक कलाकार सौन्दर्य से प्रेरणा पाकर अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए चित्र बनाता है, उसी प्रकार परमेश्वर, किसी निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, प्रत्युत अपनी पूर्णता और कौशल का प्रदर्शन करने के लिए सृष्टि की रचना करता है। आपाततः आकर्षक प्रतीत होने पर भी यह युक्ति वस्तुतः त्रिवाद की पुष्टि करने में सहायक है। कलाकार की कृति किसी को आनन्द प्रदान करने के लिए होती है और बिना अपेक्षित सामग्री के वह चित्र बना नहीं सकता। सुखस्वरूप होने के कारण परमेश्वर की रचना स्वान्तःसुखाय नहीं हो सकती। तब, उसकी कला को देखकर उसकी सराहना करनेवाली उससे भिन्न कोई सत्ता होनी चाहिए। फिर, कलाकार की भाँति अपेक्षित सामग्री के रूप में उपादान तत्त्व का होना भी आवश्यक है। यही कारण है कि अद्वैतवादियों को भी ब्रह्म के अतिरिक्त माया और अन्तःकरणोपाधि से उत्पन्न जीवों की कल्पना करनी पड़ी।

वस्तुतः 'क्रीड़ा' पद का प्रयोग दो अर्थों में देखा जाता है—एक साधारण क्रीड़ा और दूसरा अनायास। 'आयास' श्रम को कहते हैं। जिसमें श्रम का अनुभव न हो, वह 'अनायास' है। इसलिए जिस कार्य के करने में श्रम न करना पड़े वह अनायास हुआ कहा जाता है। सृष्टिरचना के सन्दर्भ में 'लीला' पद का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ समझना चाहिए। 'लीला' पद के दूसरे अर्थ 'क्रीड़ा=खेल' में भी यह अर्थ ध्वनित होता है। जब किसी कार्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता है—**'लीलया कृतमेतत्'** तो उसका यही अभिप्राय होता है कि यह कार्य खेल-खेल में अर्थात् अनायास हो गया। जिस प्रकार श्वास-निःश्वास अथवा निमेष-उन्मेष मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाएँ होने से अनायास होती रहती हैं, उसी प्रकार संकल्पमात्र से अनादि उपादान-तत्त्व प्रकृति को जगद्रूप में परिणत कर देना ईश्वर के स्वभाव का

१. **एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते।**

स्वाभाविक अतिरेक है। कार्य करने में श्रम अनुभव न करना स्वभाव का द्योतक है। स्वयं शंकराचार्य ने वेदाविर्भाव के सन्दर्भ में वेदान्त-दर्शन के सूत्र **'शास्त्रयोनित्वात्'** (१-१-३) का भाष्य करते हुए 'लीला' पद का अर्थ 'अप्रयत्नेन' अर्थात् अनायास किया है।[1] इसी प्रकार मनुस्मृति में कहा है कि "मन्वन्तर असंख्य हैं, सृष्टि और संहार=प्रलय भी असंख्य हैं। इनको बार-बार प्रजापति क्रीड़ावत् (बिना श्रम के) किया करता है।"[2]

जब लीला अर्थात् क्रीड़ा भी निष्प्रयोजन नहीं होती तो बिना किसी प्रयोजन के ब्रह्म की जगद्रचना में प्रवृत्ति असम्भव है। वह प्रयोजन क्या है, इसका विवेचन अगले कतिपय सूत्रों में किया है—

**स्वपरहिताहितप्राप्तिपरिहारप्रयोजना प्रवृत्तिः ॥४५॥**

अपने या पराये हित की प्राप्ति अथवा अहित का परिहार प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है।

प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। कुछ पुरुषार्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा सुख-समृद्धि के लिए करता है और कुछ दूसरों के हित के लिए। परोपकारप्रिय चेतन स्वभाव से परसेवानिरत होता है। अनेक निरीह, निष्काम एवं निःस्पृह व्यक्ति दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वहाँ उनका निजी प्रयोजन प्रायः कुछ नहीं रहता। जहाँ लोग अपने रहने के लिए मकान बनवाते हैं, वहाँ दूसरों के लाभ के लिए धर्मशालाओं का भी निर्माण करवाते हैं। जहाँ लोग अपने लिए अपने घर में नल लगवाते या कुँआ खुदवाते हैं, वहाँ राजमार्गों और सार्वजनिक स्थानों पर दूसरों की प्यास बुझाने के लिए भी कुएँ बनवाते हैं। सार्वजनिक औषधालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों आदि के बनवाने में भी लोग इसी भावना से प्रवृत्त होते हैं। उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। यह प्रवृत्ति जड़-चेतन दोनों में पाई जाती है। सूर्य प्रकाश देता है, क्योंकि प्रकाश देना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार वृक्ष दूसरों के लिए फल देते हैं, नदियाँ

---

१. **ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः।**—शां० भा० १।१।३
**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः।**—बृहद्० २।४।१०

२. **मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।**
**क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥**—मनु० १।८०

जल देती हैं, गौएँ दूध देती हैं।[1] जिस प्रकार मनुष्य स्व अथवा परहित-साधन में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनका उद्देश्य दूसरों को हानि पहुँचाना होता है। एतद्विषयक विचारों को भर्तृहरि ने इन शब्दों में निबद्ध किया है—"जो लोग अपने स्वार्थ का परित्याग करके भी दूसरों के हितसाधन में प्रवृत्त होते हैं, वे सचमुच सत्पुरुष होते हैं। जो अपने स्वार्थ को बाधा पहुँचाए बिना दूसरों के निमित्त उद्योग करते हैं, वे साधारण मनुष्य होते हैं। जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, वे मनुष्यों में राक्षसों के समान हैं। किन्तु जो अकारण दूसरों का अहित करते हैं, वे कौन हैं, हम नहीं जानते।"[2] इस प्रकार मनुष्य की कोई भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती।

**न स्वार्था आप्तकामत्वात् ॥४६॥**

आप्तकाम होने से (जगद्रचना) अपने लिए नहीं है।

ब्रह्म में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है। न ही उसकी कोई अतृप्त इच्छा है। इसलिए ईश्वर के पक्ष में किसी प्रकार के प्रयोजन का निर्देश नहीं किया जा सकता। जगद्रचना में ब्रह्म का कोई स्वार्थ सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे अकाम, आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप कहा गया है।[3] मुण्डकोपनिषद् में उसे आनन्दस्वरूप बताया है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी उसे सर्वज्ञ एवं आनन्दमय कहा है।[5] जगन्नियन्ता परब्रह्म का यह अनादि स्वभाव है कि वह जगत् के जन्मादि में प्रवृत्त होता है। उसमें उसके किसी निजी प्रयोजन को खोजना उसके स्वभाव और उसकी पूर्णता को चुनौती देना है। सृष्टिरचना का उद्देश्य पूर्व-जन्मों में किये कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित सामग्री उपस्थित

---

१. परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥—सुभाषित।

२. एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥—नीतिशतक, ७४

३. अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
—अथर्व० १०।८।४४

४. आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।—मु० २।२।७

५. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।—बृहद्० ३।९।२८

करना है। किन्तु ब्रह्म तो क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से सर्वथा अछूता है।[१] जिसे फलोपभोग की अपेक्षा नहीं उसके लिए जगत् किस काम का ? एक पूर्ण ब्रह्म को अपने सन्तोष के लिए किसी जगत् की आवश्यकता नहीं।[२] यदि यह कहा जाए कि जगत् उसके सुखोपभोग के लिए है तो वह संसारी जीव हो जाएगा और यह मानने पर कि उसमें हमारे जैसा व्यक्तित्व है और पूर्णता उसका गुण है, उसकी निरपेक्षता की व्याख्या नहीं की जा सकती।

**आत्मानुग्रहाभावे भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ॥४७॥**

अपने स्वार्थ के अभाव में प्राणियों की भलाई (जगद्रचना का) प्रयोजन है।

इन्द्रियविहीन प्रकृति परार्थ है, क्योंकि अचेतन प्रकृति स्वयं अपना भोग्य नहीं हो सकती।[३] निश्चय ही कोई अपूर्ण चेतन सत्ता उसकी भोक्ता हो सकती है। परमात्मा से भिन्न ऐसी चेतन सत्ता जीवात्माएँ हैं। जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग तथा अपवर्ग का सम्पादन करता है। जड़ प्रकृति में स्वयं यह सामर्थ्य नहीं कि वह जीवों के हिताहित का विचार करके तदनुसार अपने को प्रवृत्त कर सके। परन्तु उसमें ओतप्रोत एक ऐसी शक्ति है जो इस कार्य को करने में समर्थ है। वह चेतन ब्रह्म है। ईश्वर की प्रेरणा से और उसके निर्देशन में प्रकृति सर्वतोभावेन जीव के लिए प्रवृत्त रहती है। वही इसमें भोक्तारूप से उपस्थित रहता है। जैसे ऊँट केसर को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है, पर उसकी यह प्रवृत्ति अपने लिए नहीं होती, अपने स्वामी अथवा दूसरे व्यक्तियों के लिए होती है जो केसर का उपयोग करते हैं। ऊँट की प्रवृत्ति केवल ढोने में ही है, स्वामी केवल प्रेरयिता है, किन्तु उसके उपभोक्ता अन्य लोग हैं। इसी प्रकार ईश्वर प्रकृति का प्रवर्त्तकमात्र है। इस प्रवृत्ति में उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। उपभोक्ता दूसरे चेतन आत्मा हैं। उन्हीं के हितार्थ जगद्रचना की गई है। ऊँट का दृष्टान्त यहाँ केवल परार्थ प्रवृत्ति की समता के लिए दिया गया है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा के हिताहित का विचार करके अपेक्षित

---

१. **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**—योग० १।२४
२. **आप्तकामस्य का स्पृहा ?**
३. **अचेतने स्थार्थानुपपत्तिः।**

व्यवस्थाएँ करता है, उसी प्रकार परमात्मा प्राणियों के हिताहित का विचार करके सृष्टिनिर्माण की व्यवस्था करता है।

परन्तु संसार में व्याप्त दुःख को देखते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि परमात्मा ने जीवात्माओं पर कोई अनुग्रह किया है? इस आपत्ति को सूत्रबद्ध करते हुए कहा—

**न दुःखसत्त्वात् ॥४८॥**

(प्राणियों पर अनुग्रह को प्रयोजन नहीं माना जा सकता) दुःख का अस्तित्व होने से।

यदि जीवात्माओं पर अनुग्रह की भावना से ईश्वर जगत् की रचना करता है तो वह उसे सुखमय बनाता, पर संसार में सुख कहाँ? आनन्द-स्वरूप ब्रह्म द्वारा निर्मित संसार अनेक प्रकार के दुःखों का घर है। **'नानक दुखिया सब संसार'**। जिधर देखो दुःख-ही-दुःख है। यह कैसा अनुग्रह है? **'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'**—जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख भोगने पड़ते हैं। सारा जीवन त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक) दुःखों से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष करने में व्यतीत हो जाता है। दुःख न होता तो कपिल मुनि ऐसी बात क्यों कहते?[1] एक दुःख से मनुष्य छूट नहीं पाता कि दूसरा सामने आ खड़ा होता है।[2] बौद्धमत में विश्व के आधारभूत पाँच स्कन्ध स्वीकार्य हैं—संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और संस्कार। ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं। इसीलिए बौद्ध और बौद्धों की भाँति अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं।

इस आपत्ति का समाधान अगले दो सूत्रों में किया है।

**सुखस्याधिक्यान्न दुःखायतनं जगत् ॥४९॥**

(दुःख की अपेक्षा) सुख की अधिकता होने से संसार दुःखमय नहीं है।

आनन्दस्वरूप परमात्मा की सृष्टि में दुःख-ही-दुःख हो—सुख कहीं हो ही नहीं—यह कैसे सम्भव है? दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। सुख-दुःख सापेक्ष होने से सुख का अस्तित्व माने बिना दुःख

---

१. **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥—सां० १-१**

२. **एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।**
**तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे........................॥—हितोपदेश १।१६३**

की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सुख को बड़ी जल्दी भूल जाता है, जबकि दुःख की स्मृति देर तक बनाये रखता है। सुख में बीते महीने क्षण-भर में बीत गये लगते हैं, किन्तु दुःख की एक रात बहुत लम्बी जान पड़ती है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का अंश रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है, अतः अपवर्ग की अपेक्षा भोग हेय है और भोग की अपेक्षा अपवर्ग ग्राह्य है। ऐसा जानकर और **'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्'** के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधन के रूप में अपनानेवाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष है और इसका उपाय है विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार। इस प्रकार दुःख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है। परमात्मा ने तो संसार की अनन्त विभूतियाँ जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दी हैं। आत्मा का यह अपना प्रयास है कि वह उनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। सुख-दुःख तो आत्मा की अपनी कमाई है। उसे ब्रह्म पर आरोपित करना अपने-आपको धोखे में रखना है। जगत् की रचना का प्रयोजन प्राणियों पर अनुग्रह ही है।

**जीवात्मनस्तत्र प्रवर्त्तनाच्च ।।५०।।**

और, जीवात्मा की संसार में प्रवृत्ति होने से (संसार दुःखरूप नहीं है)।

प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे विरत होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। कोई व्यक्ति संसार को छोड़ना नहीं चाहता। सर्वथा दुःखी दीखनेवाला व्यक्ति भी यहाँ बना रहना चाहता है। किसी कवि ने कहा था कि जीवों में जीने की लालसा बड़ी बलवती होती है।[1] एक अन्य विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि मनुष्य इन्द्रपद के बदले भी शरीर का परित्याग करना नहीं चाहता।[2] जहाँ शरीर दुःखों का कारण है वहाँ सुख और आनन्द की प्राप्ति का साधन भी है। मानव-शरीर प्राप्त होने पर ही जीवात्मा उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है जिनके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। यदि संसार में दुःख-ही-दुःख

---

१. **अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा बलीयसी।**
२. **देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदमपि न वाञ्छति।**

होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक-से-अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करते रहने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के लिए आवश्यक साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। **'जीवेम शरदः शतम्'** से सन्तुष्ट न रहकर **'भूयश्च शरदः शतात्'**—सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीते रहने की कामना करता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने तथा असह्य कष्ट अनुभव करते हुए भी येन-केन-प्रकारेण मौत को भगाकर कुछ और काल तक यहाँ बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। ऐसा क्यों ? इस-लिए कि उसे विश्वास है कि संसार में दुःख की तुलना में सुख की मात्रा कहीं अधिक है।

प्राणियों पर अनुग्रह के उद्देश्य से संसार की रचना नहीं हुई, इस पक्ष को पुष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में तर्क उपस्थित करते हुए कहा—

**न वैषम्यनैर्घृण्यप्रसंगात् ॥५१॥**

वैषम्य तथा नैर्घृण्य के कारण (अनुग्रह) नहीं है।

ब्रह्म द्वारा जगद्रचना में यथाकथञ्चित् भूतानुग्रह प्रयोजन माना जा सकता था, यदि जगत् में समानता होती और सदा बनी रहती। ईश्वर ऐसे जगत् का कारण नहीं हो सकता जिसमें कुछ के साथ अच्छा और कुछ के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। जगत् में सर्वत्र अनेकविध विषमता व्याप्त है। आत्माओं को लाखों योनियों में डाल रक्खा है। मनुष्य-योनि में भी सबके दैहिक रूप व सामर्थ्य में समानता नहीं। एक आत्मा अत्यन्त सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान होकर जीवन-भर दर-दर की ठोकरें खाता रहता है। ऐसा क्यों ? बाढ़, भूचाल, अग्निकाण्ड, महामारी आदि के कारण अनेक बार लहलहाते संसार में अचानक संहार का दृश्य उपस्थित हो जाता है, मनुष्य तथा अन्य प्राणी निर्दयता के साथ नष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म वैषम्य तथा निर्दयता के दोषों से नहीं बच सकता। इन दोषों से युक्त परमात्मा की सृष्टि में अनुग्रह नाम की वस्तु कहाँ हो सकती है ?

इस आपत्ति का समाधान करते हुए कहा—

**वैषम्यनैर्घृण्ये प्राणिकर्मापेक्षितत्त्वात् ।।५२।।**

वैषम्य और निर्दयता प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा से है।

ईश्वर में विषमता अथवा निर्दयता का दोष नहीं आता। यदि ईश्वर निरपेक्ष भाव से मात्र अपनी इच्छा से संसार बनाता तो उसमें वैषम्य दोष का आना सम्भव था। यह जगत् ईश्वर के संकल्प का परिणाम है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसने वैषम्य तथा नैर्घृण्य की सृष्टि स्वेच्छा से, अपनी प्रसन्नता के लिए की है। एक ऐसा ईश्वर जो आनन्दमय होता हुआ दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है, ईश्वर कहाने का अधिकारी नहीं है। परमात्मा प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि का सर्जन व संहार करता है।

स्वभावतः आत्माओं की स्थिति समान है, मूलकारण की स्थिति भी समान है। अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रकार के कर्म ही प्राकृत रचना की विलक्षणता में निमित्त बनते हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि "आत्मा के किये हुए धर्म-अधर्म के कारण शरीर नहीं हैं। शरीर का सम्बन्ध तो सिद्ध ही नहीं, और धर्म-अधर्म आत्मकृत हैं, यह भी सिद्ध नहीं।"[1] परन्तु वही शंकर अन्यत्र मान लेते हैं कि "मनुष्यजाति में जो विषमता पाई जाती है, उसका निर्णय जीवों के अपने कर्मों के आधार पर होता है। उसके लिए ईश्वर दोषी नहीं है।"[2] शुभकर्म से सुख और पाप से दुःख प्राप्त होता है।[3] जीवात्मा पुण्यकर्म से उच्च योनियों को, पापकर्म से पापयोनियों को तथा दोनों शुभाशुभमिश्रित कर्मों से मनुष्य-योनि को पाता है।[4] साधारणतया शरीरधारी जीवात्माओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है--देवता (जीवन्मुक्त) जो अनन्त सुखभोग की अवस्था में हैं; मनुष्य जिनका भोग्य सुख-दुःख दोनों का मिश्रण है; और पशु जिनके भाग्य में अनन्त दुःख है। जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तबतक सूक्ष्म शरीर के साथ जीवात्मा शरीर-रूप में बना रहता है।

---

१. तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न; शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद् धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः।—शां० भा० १।१।४

२. सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः।
—शां० भा० २।१।३४

३. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।—बृहद्० ३।२।१३

४. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।
—प्रश्न० ३।७

इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों के वैलक्षण्य से संसार में वैषम्य है। सांख्यदर्शन में कहा है कि कर्मों की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है।[1] इसी प्रकार न्यायदर्शन में बताया है कि शरीर आदि कार्य-जगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार हुआ करती है।[2]

जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति के हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उनको उन कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जीव के शरीर तथा शरीरों द्वारा प्राप्त भोग अदृष्ट की प्रेरणा से होते हैं। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्षरूप होता हुआ कालान्तर में फल लाता है, इसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न हुआ अदृष्टरूपी बीज ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार कालान्तर में सुख-दुःखरूपी फलों को प्राप्त कराता है। बीज का वृक्षरूप होना प्राकृतिक नियमों के अनुसार है जो दृष्ट हैं। कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट आचारसम्बन्धी नियमों के अनुसार है।[3]

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके फलों को उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता जब वे उसके प्रतिकूल हों। इसलिए यह व्यवस्था ईश्वर के कार्यक्षेत्र में आ जाती है। जगत् की रचना तथा प्राणियों के कर्मफल-प्रदान का नियन्ता वही है। नानाविध कर्मों के यथायोग्य उपभोग के लिए उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती और उपयोग में आती है। जगत् की रचना प्राणियों के लिए है। इसलिए परमात्मा ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो उनके अनुकल हो, परन्तु इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मों के आधार पर होता है। वर्षा से पौधों के बढ़ने में सहायता मिलती है, किन्तु बढ़-कर वे क्या बनेंगे, यह वर्षा पर नहीं, अपितु बीज की प्रकृति पर निर्भर करता है। धरती, खाद, जलवायु आदि सबमें समानता होने पर भी गन्ने से गन्ना, मिर्च से मिर्च और आम से आम पैदा होते हैं। उसी प्रकार नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता का निर्णय जीवात्माओं के पूर्वजन्मों के नैतिकगुणों के द्वारा होता है। यह निश्चय हो जाने पर कि ईश्वर न्यायकारी है, इसलिए वह अकारण किसी को सुखी-दुःखी

---

१. **कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्** ।—सां० ६।४१
२. **पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः** ।—न्याय० ३।२।६०
३. देखें—**वैशेषिक**—५।१।१५; ५।२।२; ५।२।७; ५।२।१३; ५।२।१७, १८; ६।२।२; ६।२।१३

नहीं बना सकता, उसकी न्यायव्यवस्था में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ होने के कारण वह प्रत्येक जीव के विषय में—उसकी अल्पज्ञता, अल्पशक्ति, अन्त:स्थिति, परिस्थिति आदि के विषय में इतना जानता है जितना वह (जीव) स्वयं नहीं जानता। इस प्रकार परमात्मा की न्यायबुद्धि में आस्था रखने और कार्य-कारण-भाव को जाननेवाला व्यक्ति उसपर वैषम्य अथवा नैर्घृण्य का आरोप नहीं लगा सकता।

सृष्टि में उपलब्ध वैषम्य का एक अतिरिक्त कारण प्रस्तुत करते हैं—

**त्रिगुणेतरेतरोपाश्रयत्वाच्च ।।५३।।**

और, त्रिगुणों के एक-दूसरे में मिथुनीभूत हो जाने से (वैषम्य है)।

संसार में विषमता आदि की स्थिति जहाँ प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से है, वहाँ मूल उपादानतत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य तथा उनका अनन्त विविधताओं के साथ अन्योन्यमिथुनीभूत होकर सम्मिश्रण भी प्राकृत जगत् की विलक्षणता अथवा विविधता में महान् कारण है। गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ होने पर ये गुण एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। गुणों की नानाविध प्रतिक्रिया के कारण जगत् में विविधता पाई जाती है। कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति में तीनों गुण एक-साथ भाग लेते हैं। पारस्परिक प्रभाव तथा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्त्तन होता है और वे परस्पर मिलते तथा पृथक् होते रहते हैं। सत्त्वादि सभी द्रव्य सहकारिभाव से सृष्टि करते हैं। सर्वत्र एक की प्रधानता और अन्य दो की सहकारिता रहती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियों के अनुकूल हो, इसलिए पृथिव्यादि भूतों, अन्य तत्त्वों, ओषधि-वनस्पतियों आदि की रचना में उनके कर्म भी सहयोगी रहते हैं। ब्रह्म केवल उनकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार संसार की विषमता एवं विलक्षणता में प्राणियों के नानाविध कर्मों के अतिरिक्त सत्त्व-रजस्-तमस् की विविध क्रियाओं का अर्थात् अन्योन्यमिथुनता का विविध रूपों में उपस्थित होना भी कारण है। ये उपादान तत्त्व एक-दूसरे के साथ जितने रूपों में मिथुनीभूत होते हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलकर बनने के कारण पदार्थों में वैविध्य अनिवार्य है।

कर्म और कर्मफल के विषय में एक आपत्ति का उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

**शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वेनानवस्थादोषप्रसंगः ॥५४॥**

शरीर के सम्बन्ध और आत्मकृत धर्म-अधर्म के एक-दूसरे के आश्रय होने से अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी।

जीवात्मा देहादि के सहयोग से कर्म कर सकता है, अन्यथा नहीं। प्रलयावस्था में जीवात्माओं के साथ शरीरों का अभाव रहता है, इसलिए देहादि का होना सर्ग के अनन्तर सम्भव है। प्रलयदशा में देहादि के न होने से जीवात्माओं के कर्मों की सम्भावना नहीं। ईश्वर ने जब प्रारम्भ में सृष्टि की रचना की तो जीवों के पाप-पुण्य निर्णायक के रूप में विद्यमान नहीं थे। उस समय ईश्वर को ऐसे जगत् की रचना करनी चाहिए थी जो वैषम्य, दुःख और कष्ट से मुक्त होता। जितना यह सत्य है कि पाप व पुण्य-कर्मों के बिना विभिन्न देहों व योनियों की प्राप्ति नहीं होती, उतना ही सत्य यह भी है कि बिना शरीर प्राप्त किये जीवात्मा पाप-पुण्य नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह भी है कि कर्म होंगे तो फलस्वरूप शरीर मिलेगा और शरीर होगा तो उसके द्वारा कर्म होंगे। इस प्रकार दोनों के एक-दूसरे पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष की प्राप्ति होगी।

इसी विषय में एक अन्य अन्योन्याश्रय-दोष को प्रस्तुत किया है—

**कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गश्च ॥५५॥**

कर्म और ईश्वर के एक-दूसरे में प्रवृत्ति उत्पन्न करने से अन्योन्याश्रय-दोष उपपन्न होगा।

यदि परमात्मा कर्मविधान के अनुसार कार्य करने को विवश है तो इसके द्वारा उसपर प्रतिबन्ध लग जाता है। मनुष्य का संकल्प ईश्वर की निरपेक्षता को सीमाबद्ध कर देता है, क्योंकि यदि ईश्वर कर्म का विचार करके तदनुसार कार्य करने को बाध्य है तो वह निरपेक्ष नहीं रहता। ईश्वर के स्वातन्त्र्य की रक्षा बिना कर्मसिद्धान्त के निषेध के नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि कर्म अपना फल पाने के लिए ईश्वर के अधीन हैं, अर्थात् कर्मविधान ईश्वर पर निर्भर करता है तो कर्मों का क्या महत्त्व रह जाता है ? ईश्वरेच्छा के बिना मनुष्य के कितने ही

कर्म व्यर्थ रह जाएँगे। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहेगा देगा और जिसका नहीं देना चाहेगा नहीं देगा। इससे कर्मफल सर्वथा ईश्वरेच्छा पर निर्भर हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर के कर्मों पर और कर्मों के ईश्वर पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष उपपन्न होता है।

इन आपत्तियों का विवेचन करते हुए तदर्थ प्रस्तुत युक्तियों का प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया गया है।

**न प्रवाहेणानादित्वात् ।।५६।।**

(सृष्टि के) प्रवाह से अनादि होने के कारण (ये दोष उपपन्न नहीं होते)।

प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस कारण वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक-दूसरे के अनन्तर आवर्त्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता। वर्त्तमान में संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। इसलिए वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा। परन्तु उसका सदा अपने वर्त्तमान रूप में बना रहना आवश्यक नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। संसार का प्रत्यन्त उच्छेद हो जाए तो ईश्वर में सृष्टि-कर्त्तृत्व आदि गुणों का अभाव हो जाए। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व आदि, जीव का कर्मफलभोक्तृत्वादि) अनादि हैं, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।

सृष्टि को प्रवाह से अनादि मानने पर 'आद्य' कर्म का प्रश्न नहीं उठता। जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं। अनादि काल से वे कर्म करते और फल भोगते चले आ रहे हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना—यह क्रम अनादि काल से निरन्तर चालू है। प्रत्येक जन्म अपने अन्दर किसी-न-किसी पूर्वजन्म के स्वरूप को धारण करता है। समय-समय पर होनेवाली सृष्टिरचनाओं तथा विलय की अवस्थाओं में भी कर्म का विधान देखा जाता है। इसलिए यह कहना कि सर्ग से पूर्व जीवात्माओं के कर्म सम्भव नहीं, सर्वथा असंगत है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है वे समाप्त हो जाते हैं। शेष वासनारूप से अथवा धर्माधर्म-संस्काररूप से जीवात्माओं में अवस्थित रहते हैं और अगले जन्म का कारण बनते हैं। जबतक कर्म का फल

भोग नहीं लिया जाता तबतक वह बना रहता है।[1] इसलिए यदि सर्ग के अन्त में कुछ अनुपभुक्त कर्म शेष रह जाते हैं वो उन्हें भोगने के लिए जीवात्माओं को आगामी सर्ग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किसी एक सर्ग से पूर्व प्रलयदशा में गत सर्ग-अवस्था में किये गये कर्मों का अस्तित्व आत्मा में बना रहता है। उन्हीं को भोगने के लिए जीवात्माओं को अगले सर्ग में शरीर धारण करना पड़ता है।

आत्माओं का विभिन्न देहों के साथ सम्बन्ध कर्मों के बिना सम्भव नहीं तथा देहादि-सम्बन्ध के बिना कर्म सम्भव नहीं। इसलिए चालू संसार की रचना से पहले आत्माओं के कर्मों का माना जाना आवश्यक है, अन्यथा सर्ग के आदि में विभिन्न देहों के साथ आत्माओं का सम्बन्ध निर्निमित्तक हो जाएगा। कर्मों से पूर्व आत्माओं का देहादि-सम्बन्ध मानना होगा, क्योंकि इसके बिना कर्मों का होना सम्भव नहीं। इस प्रकार चालू सर्ग से पहले भी संसार का होना, आत्माओं का देहादि-सम्बन्ध और उनके कर्मों का होना निश्चित होता है। फलतः इन सबको अनादि मानना युक्तियुक्त है। वस्तुतः कर्म और देहादि संसार का क्रम बीज-अंकुर के समान सदा से चला आ रहा है। बीज से अंकुर होता है और वह वृक्ष बनकर पहले के समान अन्य बीजों को उत्पन्न करता है। वे बीज अन्य समान वृक्षों को उत्पन्न करते हैं। आत्मा के कर्म देह के साथ सम्बन्ध का कारण बनते हैं। वह देह-सम्बन्ध अन्य कर्मों का साधन बनता है। यह क्रम अनादि है। इसलिए इसमें अनवस्था-दोष नहीं आता। अनुपभुक्त, अवशिष्ट कर्म आनेवाली सर्गरचना में वैषम्य और तथाकथित नैर्घृण्य का कारण बनते हैं।

संसार में प्रत्यक्ष वैषम्य तथा नैर्घृण्य-दोष का परिहार शंकराचार्य भी संसार के अनादित्व के आधार पर ही करते हैं। वे कहते हैं—"संसार अनादि है, इसलिए यह दोष नहीं है। यदि संसार आदिमान् होता तो दोष आ सकता था। अनादि संसार में कर्म और सृष्टि के वैषम्य में विरोध नहीं पड़ता। बीज से अंकुर होता है, अंकुर से बीज।"[2]

प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य कर्म करने का अधिकार है। प्राप्त

---

१. **नाभुक्तं क्षीयते कर्म।**

२. **नैष दोषः अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवद्धेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते।**—शां० भा० २।१।३५

अधिकार में बाधा पड़ने पर ही किसी की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है। विधान के अनुसार कार्य करने से ईश्वर की निरपेक्षता का व्याघात नहीं होता। फलसिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा अनिवार्य है और उनका नियमन ईश्वर के अधीन है। यदि ईश्वर कर्मों की अपेक्षा से फल देता है तो इसमें अन्योन्याश्रय-दोष कहाँ है ? सृष्टि की रचना ईश्वर के अधीन केवल उन नियमों के अनुसार रही जिनका निर्माता वह स्वयं है। इस प्रकार उसकी निरपेक्षता भी अक्षुण्ण रहती है और वह वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषों से भी मुक्त रहता है।

संसार में दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। ईश्वर की दयालुता और न्यायप्रियता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में दुःख अकारण—निष्प्रयोजन नहीं हो सकता।

**नाहेतुकं दुःखम् ॥५७॥**

दुःख बिना हेतु के नहीं होता।

कार्य-कारण-सम्बन्ध त्रिकालाबाधित है। दुःख का कारण तो होता ही है, वह निष्प्रयोजन भी नहीं होता। कर्म में प्रवृत्त होना जीवात्मा का स्वभाव है। कर्म शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी। उचित-अनुचित, सराहनीय-निन्दनीय, धर्म-अधर्म वस्तुतः शुभ-अशुभ के ही पर्याय हैं। धर्म में प्रवृत्त होने और अधर्म से विरत होने की प्रेरणा होना ईश्वरीय व्यवस्था है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी शुभ कर्मों के निमित्त प्रोत्साहन देने और अशुभ कर्मों से निरुत्साहित करने के लिए क्रमशः पुरस्कार और दण्ड दिया जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था में वह सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होता है। दोनों का प्रयोजन एक है—मनुष्य का कल्याण। सुख-दुःखादि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उनके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय होता है। जैसे रोगग्रस्त होने पर रोगी यह अनुभव करता है कि यह किसी-न-किसी कुपथ्य का परिणाम है, वैसे ही संसार में व्याप्त सुख-दुःख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं। अपने-आपको या दूसरों को दुःखी देखकर और इसका कारण अशुभ कर्मों को जानकर मनुष्य को दुष्कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों में प्रवृत्त होने में सहायता मिल सकती है। यदि सबको समान रूप से सुखी रक्खा जाए तो कृतहानि तथा अकृताभ्यागम-दोष आने से यह ईश्वर की न्याय-व्यवस्था को दूषित करेगा, परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा।

इसलिए मनुष्य का हित इसी में है कि जहाँ उसे शुभकर्मों के फलस्वरूप सुख की उपलब्धि हो, वहाँ दुष्कर्म करने पर दुःख के रूप में उसे समुचित दण्ड दिया जाए।

जिस जगत् की रचना परार्थ हुई है, उसके स्वरूप का निर्देश अगले सूत्र में किया है।

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं दृश्यम् ॥५८॥**

भूत तथा इन्द्रियरूप से परिणाम को प्राप्त प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति स्वभाववाले सत्त्व आदि गुणों को दृश्य कहते हैं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच स्थूल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध से लक्षित पाँच सूक्ष्म, इन दशों का नाम 'भूत' है। वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण और मन, इन ग्यारह का नाम 'इन्द्रिय' है। सत्त्व प्रकाशशील, रजस् क्रियाशील तथा तमस् स्थितिशील है[1] अर्थात् प्रकाशशक्ति का नाम 'सत्त्व', क्रियाशक्ति का नाम 'रजस्' और प्रकाश व क्रियाशक्ति की प्रतिबन्धक आवरणशक्ति का नाम 'तमोगुण' है। ये सब गुण परस्पर उपरक्त-अविभाग, संयोग-विभागरूप धर्म से युक्त हैं और अन्योऽन्याश्रय द्वारा पृथिवी आदि का उत्पादन करते हैं। आन्तर तथा बाह्य सभी पदार्थ प्रकाश, क्रिया और स्थिति—इन तीन भावों का स्वरूप हैं, अतः सत्त्व, रजस् और तमस् जगत् के मूल उपादान हैं। प्रकाश, क्रिया और स्थिति परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। एक भाव रहने से अन्य दो भाव भी रहते हैं। इनमें से किसी एक भाव की प्रधानता रहने से उसी गुण के अनुसार पदार्थ की आख्या होती है। यह आपेक्षिकता को ही सूचित करती है—जैसे ज्ञान में 'प्रकाश' गुण अधिक होने से ज्ञान को सात्त्विक कहा जाता है; यह कर्म की अपेक्षा 'अधिक' सात्त्विक होता है। किसी को सात्त्विक कहने से तद्वर्गीय राजस और तामस भी हैं, यह समझना चाहिए। केवल सात्त्विक कोई वस्तु नहीं हो सकती। सात्त्विक द्रव्य राजस तथा तामस की अपेक्षा अधिक सात्त्विक होता है। राजस और तामस के सम्बन्ध में भी यही नियम है। अतएव सत्त्वादि गुण, जाति तथा व्यक्ति, प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान

---

१. प्रकाशशीलं सत्त्वं क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तमः।

—योग० व्यासभाष्य, २।१८

हैं। इस प्रकार समस्त दृश्य सत्त्व-रजस्-तमस् का परिणाम है। प्रत्येक दृश्य जो अनुभव के रूप में प्रकाशित हो रहा है, वह उसके उपादान सत्त्व के प्रभाव से है। प्रत्येक दृश्य क्रियाशील है, यह रजस् का परिणाम या प्रभाव है। प्रत्येक दृश्य को सीमित काल तक एक ही स्थिति में रहते हुए अपरिवर्त्तित अनुभव किया जाता है, यह तमस् का परिणाम है। इस प्रकार समस्त त्रिगुणात्मक जगत् प्रकाश, क्रिया और स्थिति-स्वभाववाला है। वस्तुतत्त्व की दृष्टि से यह दृश्य भूतस्वरूप तथा इन्द्रियस्वरूप है, अर्थात् वस्तुतत्त्व की दृष्टि से भूत तथा इन्द्रियों को ही 'दृश्य' पद से कहा गया है। जिस प्रकार भूतभाव अथवा पृथिव्यादि सूक्ष्म-स्थूलरूप में परिणत होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियभाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार भूत तथा इन्द्रिय-रूप से परिणत सत्त्वादिगुणरूप विकृति का नाम 'दृश्य' है।

जीवात्मा के लिए इस सृष्टि का क्या उपयोग है अथवा जगद्रचना में परमात्मा के अनुग्रह का क्या स्वरूप है, इसका विवेचन अगले सूत्र में किया है।

**तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य ॥५६॥**

और, वह (जगत्) पुरुष (जीवात्मा) के भोग तथा अपवर्ग के लिए है।

जैसा पहले कहा गया है, जगत् के उपादान कारण प्रकृति का एक पर्याय 'अदिति' है। प्रकृति के 'अदिति' नामकरण में एक यह भी भावना है कि वह भोगी जाती है—'अद्यते इति अदितिः'। भक्षणार्थक 'अद्' धातु से इसका निर्वचन किया जा सकता है। वस्तुतः प्रकृति का यह मुख्य स्वरूप है जो उसके 'अदिति' नाम का आधार है। नित्य रहते हुए असीम ऐश्वर्यों को प्रस्तुत करने की भावना इसमें अन्तर्निहित है।

दृश्य की प्रवृत्ति द्विविध है—एक प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति और दूसरी निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति। प्रथम का फल भोग या संसार है और द्वितीय का फल अपवर्ग या संसार-निवृत्ति। पुरुष अर्थात् जीवात्मा दोनों का प्रयोक्ता है।[1] किसी कार्य के सम्पादान के लिए साधन का होना आवश्यक है। सामान्य से लेकर उपासना तथा अन्य अनुष्ठान आदि समस्त कार्यों के सम्पादन के लिए आत्मा के साथ देह का सम्बन्ध उसके आवश्यक

---

१. पुरुषः सुख-दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।—गीता १३।२०

साधन के रूप में होता है। इसी के सहयोग से आत्मा ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त अपने समस्त कार्यों को सम्पन्न करता है और मोक्षलाभ करता है। इसलिए इस देह को बनाये रखने के लिए उसके भोग्य पदार्थों का होना और इस प्रकार सुरक्षित देह के द्वारा आत्मा के चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करना मनुष्य-जीवन का ध्येय है।

जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति के हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जो अदृष्ट रहती है। उसी की प्रेरणा से उनको उन कामों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जीव के शरीर और शरीरों द्वारा प्राप्त भोग अदृष्ट की प्रेरणा से मिलते हैं। जैसे भूमि में बोया बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्षरूप होकर कालान्तर में फल देता है, इसी प्रकार कर्मों के करने से उत्पन्न हुआ अदृष्ट बीज ईश्वरीय व्यवस्था द्वारा कालान्तर में सुख-दुःखरूपी फलों को प्राप्त कराता है। परमाणुओं में ओतप्रोत सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान् ब्रह्म जीवों के कर्मफल को दृष्टि में रखकर उनके कर्मक्षेत्र और भोगक्षेत्र के रूप में परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण करता है। भिन्न-भिन्न आत्माओं के कर्म और कर्मफल जो मृत्यु के समय अनुप-भुक्त रह जाते हैं, नये जन्म में वापस लौट आते हैं, किन्तु एक-दूसरे के साथ गड़बड़ी में नहीं पड़ते।[1] जीवात्माओं की पहचान भौतिक देह के द्वारा होती है। इसीलिए उसे देही अथवा शरीरी कहते हैं।

चेतन तत्त्व—जीव का प्रयोजन है—भोग और अपवर्ग। एतदर्थ साधन जुटाने अर्थात् जीवों के पाप-पुण्यों का फल देने तथा मोक्ष-प्राप्ति कराने के लिए ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। तदनुसार जीवात्मा देहादि के सम्बन्ध द्वारा प्रकृति के सम्पर्क में आते हैं। जीवात्मा के दो दर्शन हैं—बाहर देखे या अन्दर देखे। पहला 'भोग' है, दूसरा 'अपवर्ग'। उपनिषत्कार का कहना है—"परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खुला बनाया है, इसलिए वे बाहर की ओर देखती हैं, अन्दर की ओर नहीं। कोई धैर्यशाली पुरुष ही, अमर होने की इच्छा रखता हुआ, इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़कर आत्मा का दर्शन करता है।"[2]

---

१. ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति।—शां० भा० २।३।४९

२. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥—कठ० २।१।१

जीवात्मा का अनुकूल भावनाओं के साथ प्रकृति से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना अथवा अविवेक की स्थिति में बाहर के भौतिक दृश्यों में लिप्त रहना 'भोग' है। इसके विपरीत प्रकृति के साथ सम्पर्क को विच्छिन्न करने की तीव्र भावना के जाग्रत् हो जाने पर, इन्द्रियों को बाहर की ओर से रोककर दृश्य साधनों के सहयोग से विच्छेद की दिशा में उत्कृष्ट प्रयास करते हुए अपने स्वरूप को पहचानकर ब्रह्म का साक्षात्कार करना 'अपवर्ग' है। इस प्रकार दृश्य के दोनों प्रयोजन-भोग व अपवर्ग—सम्पन्न हो जाते हैं।

संसार में रहते हुए समस्त करण अपने-अपने विषयों को यथावसर बाहर से बटोर-बटोरकर क्रमानुसार बुद्धि को अर्पित करते रहते हैं। बुद्धिसहित समस्त करण जड़ होने से जीवात्मा के भोगादि के लिए साधनमात्र हैं। वे स्वयं भोक्ता नहीं हो सकते। भोक्ता केवल चेतन-तत्त्व हो सकता है। इसलिए जीवात्मा बुद्धि के माध्यम से विषयों का अनुकूल या प्रतिकूल रूप में अनुभव करता है। सुख-दुःख के इसी अनुभव का नाम भोग है। प्राकृत पदार्थों से आत्मा का भोग प्रत्यक्ष सम्पन्न होता है। अपवर्ग की सिद्धि समाधिलाभ से आत्मसाक्षात्कार होने पर होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग से आत्मा समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्मा के अपवर्ग के लिए सृष्टि का यही उपयोग है। विवेकज्ञान हो जाने पर परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। किन्तु ऐसा समय कोई नहीं आता जब भोक्ता आत्माओं का सर्वथा अभाव हो जाए। (समस्त असंख्य जीवों का एकसाथ मुक्त हो जाना सम्भव नहीं और मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाने पर मुक्तात्माओं की मुक्ति से पुनरावृत्ति होने से समय-समय पर उनका प्रत्यागमन होता रहता है।) जबतक भोक्ता आत्मा विद्यमान हैं, तबतक सृष्टि की अपेक्षा बनी रहेगी। इस प्रकार नित्य जीवों के बन्ध-मोक्ष के कारण सृष्टिरचना का क्रम अनवरत सदा बना रहेगा।

यहाँ ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता मानकर विवेचन किया गया है। परन्तु उपनिषद् आदि में कहीं-कहीं ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई सत्ता नहीं है और समस्त आनुभविक जगत् उसी का रूप है। ऐसे ही

एक सन्दर्भ का संकेत करके अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की गई है—

**सर्वं खल्विदं ब्रह्म शब्दात् ॥६०॥**

शब्दप्रमाण से यह सब (जगत्) ब्रह्म है।

छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट लिखा है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् यह जगत् यथार्थ में ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगद्रूप है। कार्य-कारण में अनन्यत्व होने से ब्रह्म से पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं। इसलिए दोनों में तादात्म्यभाव है।[1] प्रलयदशा में एकमात्र सत्ता सर्गकाल में नामरूपात्मक जगत् में परिणत हो जाती है। वस्तुतः यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने, उसी में अभिप्राणित होने और उसी में लीन होने से ब्रह्म है। दृश्यमान् जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, जैसे अँधेरे में रस्सी का साँप।

इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया है—

**न कल्पितार्थवत्त्वात् ॥६१॥**

कल्पित (मिथ्या) अर्थ होने से (शब्द-प्रमाण से ब्रह्म जगत्) नहीं।

जिस प्रकार शरीर के अंग तभी तक सार्थक होते हैं जबतक वे शरीर के साथ जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार प्रकरणस्थ शब्द ही ठीक अर्थ देने में समर्थ होते हैं। प्रकरण से कटकर वे अनर्थ का कारण बन जाते हैं। 'यह सब जगत् ब्रह्म का ही रूप है'—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का यह अर्थ प्रसंगानुकूल न होने से सर्वथा अशुद्ध है। छान्दोग्योपनिषद् का यह सन्दर्भ इस प्रकार है—

**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥"**—छां० ३।१४।१

इसका सीधा अर्थ है—"यह सब ब्रह्म ही है (**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**)। तज्ज+तल्ल+तदन् (तज्जलानिति) अर्थात् यह सब जगत् उसी से उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में प्राण धारण करता है। ऐसा जान, शान्त होकर उसी की उपासना करे (शान्त उपासीत)। अब निश्चय ही (अथ खलु) मनुष्य वासनामय है (क्रतुमयः पुरुषः)

---

१. **अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वात्।**—शां० भा० २।१।२०

अर्थात् जैसा वह विचार करता है वैसा ही वह बन जाता है। जैसी वासना इस लोक में होती है (यथा क्रतुरस्मिल्लोके भवति) वैसी ही यहाँ से मरकर (पश्चात् की योनि में) होती है। इसलिए वह उत्तम कर्म करे (स: क्रतुं कुर्वीत)।

यहाँ स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है। ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहाँ जीव को वासनामय बताकर शान्तभाव से ब्रह्म की उपासना के लिए कहा गया है, वहाँ ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण कहा गया है। जैसे 'मञ्चा: क्रोशन्ति' में 'मञ्चा:' का तात्पर्य 'मञ्चस्थ-पुरुषा:' होता है, वैसे ही तात्स्थ्योपाधि से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है कि यह सब जगत् 'ब्रह्म' अर्थात् 'ब्रह्मस्थ' है। साहचर्य तथा पूर्वा-पर प्रसंग और अभिप्राय को देखते हुए 'इदम्' पद का अन्वय 'सर्वम्' के साथ न होकर 'ब्रह्म' के साथ ही हो सकता है। जैसे **'इदं सर्वं घृतम्'** का अर्थ होता है– 'यह सब घृत है' अर्थात् इसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण नहीं है, वैसे ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है—'निश्चय ही यह सब ब्रह्म शुद्ध (शुद्धमपापविद्धम्) ब्रह्म है' अर्थात् इस चेतन अखण्डैकरस ब्रह्म में माया, अविद्या आदि कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि ब्रह्म प्रलयकाल में अपने भीतर सूक्ष्मरूप में स्थित कारणरूप प्रकृति से सर्गकाल में सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थितिकाल में उसे धारण करता तथा प्रलयकाल में पूर्व की भाँति उसे समेटकर पुन: अपने भीतर धारण कर लेता है। यहाँ उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव तथा उसके भोगापवर्ग के लिए उत्पन्न जगत् तीनों का एकसाथ उल्लेख होने से यह सन्दर्भ स्पष्टत: त्रिवाद का प्रतिपादक है।

आचार्य शंकर और तदनुयायी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पदों की योजना में यह स्पष्ट नहीं होता कि 'उपासीत' क्रिया का कर्म क्या है? उपासक किसकी उपासना करे? फिर, यदि सब जगत् ब्रह्म ही है अर्थात् दोनों में तादात्म्यभाव है तो जगत् की उपासना में ही क्या दोष है? इसके अतिरिक्त सब जगत् को ब्रह्म मानकर उसकी उत्पत्ति आदि का कथन निरर्थक है। ब्रह्म तो सदा वर्त्तमान है। उसकी उत्पत्ति कैसी? वस्तुत: 'उपासीत' क्रिया का कर्म 'ब्रह्म' है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का सम्बन्ध 'तज्जलान्' के साथ होना चाहिए। इस प्रकार इस सन्दर्भ

का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—"**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तः (सन् जिज्ञासु) ब्रह्म उपासीत ।**"

साधारणतया मनुष्य सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहता है। अपने सुख के निमित्त संसार के ऐश्वर्यों को सब-कुछ समझता है। इसी भावना से उपनिषत्कार कहता है—जिस जगत् को तुम अपना सब-कुछ मान रहे हो, जिसकी प्रेरणा से वह उत्पन्न होता, स्थिर रहता तथा विलय को प्राप्त होता है उस ब्रह्म को सर्वोपरि जानो और ऐसा मानकर अनित्य संसार की ओर से चित्त को हटा, शान्तचित्त होकर उसी की उपासना करो। तदनुसार इस सन्दर्भ की योजना इस प्रकार होगी—"**सर्वं खल्विदं तज्जलानिति ज्ञात्वा शान्तः सन्नुपासकः ब्रह्म उपासीत ।**" इसी भाव को लेकर गीता में कहा—"काम, क्रोध, मोह आदि का परित्याग कर उपासक ब्रह्मप्राप्ति में समर्थ होता है।"[1]

---

१. **विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।**—गीता १८।५३

# द्वितीयोऽध्यायः

**शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् वैशिष्टयात् ॥१॥**

विशेषता के कारण जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है।

संसार के मूलतत्त्व दो पदार्थ हैं—जड़ तथा चेतन। इन चेतन तथा अचेतन पदार्थों के संयोग से संसार का निर्माण होता है। देहादि समस्त पदार्थ जड़, परिणामी एवं नश्वर हैं, किन्तु जीवात्मा नित्य, चेतन तथा अपरिणामी है। देहादि पदार्थ भोग्य अथवा भोग का साधन हैं, पर आत्मा स्वयं भोक्ता है। शरीर का परिणामी और आत्मा का अपरिणामी होना हम हर समय अनुभव करते हैं। शरीर के परमाणु हर समय बदलते रहते हैं। बुढ़ापे तक पहुँचते-पहुँचते शरीर पूरी तरह बदल जाता है। फिर भी हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है जो कभी बालक था, क्योंकि हम समझते हैं कि इस नित्य परिवर्त्तनशील शरीर में कुछ ऐसा है जो किंचित् नहीं बदलता, क्योंकि शरीर के साथ जीवात्मा की उत्पत्ति और उसके विनाश के साथ जीवात्मा का नाश नहीं होता, इसलिए जन्म-जन्मान्तरों में शरीरभेद होने पर भी जीवात्मभेद नहीं होता।

बौद्धों का विचार है कि अस्थायी मानसिक अवस्थाओं की शृङ्खला के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं। यह विचारों की एक ऐसी शृङ्खला है जिसमें से प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्त्तियों से अपने भूतकाल के विचार संगृहीत करता है। ऐसा मानने पर आत्मचैतन्य, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, इच्छा, सुख-दुःख आदि सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या नहीं हो सकती। यदि इस समस्त जगत् को शून्य घोषित करें तो भी यह शून्यता अपने बोध को ग्रहण करनेवाले की पूर्वकल्पना कर लेती है। सुषुप्ति-अवस्था में भी आत्मा उपस्थित रहती है, क्योंकि जागने पर मनुष्य को इस बात का ज्ञान रहता है कि वह प्रगाढ़ निद्रा में था जिसमें स्वप्नों ने विघ्न नहीं डाला। उस अवस्था में आनुभविक मन निष्क्रिय रहता है। केवल विशुद्ध चेतना उपस्थित रहती है। जब ज्ञान के विषय में परि-

वर्त्तन हो जाता है तब भी ज्ञाता अपरिवर्त्तित रहता है। उसका अस्तित्व भूत, वर्त्तमान और भविष्य में यथावत् रहता है। यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। इसलिए एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो विचारों की सम्भाव्य क्षमता को धारण करती हो, नित्य हो और प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की सम्भावना की व्याख्या करने में समर्थ हो।

जीवात्मा द्रव्य है। द्रव्य भौतिक-अभौतिक तथा नित्य-अनित्य दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि आत्मा को भौतिक माना जाएगा तो उसे अनित्य भी मानना होगा। भौतिकवादियों के मत में आत्मा जड़ व अनित्य है। भारतीय दर्शन में चार्वाक इसी मत का पोषक था। संसार में जितने मत केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, वे सभी आत्मा को भौतिक व अनित्य मानते हैं, क्योंकि उनके मत में केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है, इसलिए वे लोग केवल उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं जिनका प्रत्यक्ष हो सकता है। प्रत्यक्ष केवल जड़ वस्तुओं का होता है। इसलिए यदि आत्मा का अस्तित्व है तो उसका जड़ होना अनिवार्य है। परन्तु प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—बाह्य तथा आन्तरिक। आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा हम आन्तरिक भावों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आन्तरिक भावों के ज्ञान से चैतन्य का भी प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि चैतन्य बाह्य जड़ पदार्थों में नहीं पाया जाता। तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि हमारे भीतर एक अभौतिक सत्ता है जिसे हम 'आत्मा' कहते हैं? इसके उत्तर में चार्वाक का यह कहना है कि यद्यपि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है तो भी चैतन्य को किसी अभौतिक द्रव्य अर्थात् आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। चैतन्य का प्रत्यक्ष शरीर में होता है, इसलिए शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए।[1]

स्थूल देह पाँच भूतों से मिलकर बना है। इन भूतों का विश्लेषण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व में चेतन की प्रतीति नहीं होती। भूतों का मूल उपादानतत्त्व सर्वथा जड़ है। जब उनमें से प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तो उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा? जो है ही नहीं, वह व्यक्त कैसे होगा? तिल के एक-एक दाने में तेल है

---

१. चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा।

तो इन दानों के संघात से तेल की धार निकलेगी। बालू के एक कण में भी तेल नहीं तो उसके ढेर से भी तेल की एक बूंद न टपकेगी। शरीर के सभी अवयव—इन्द्रियादि भौतिक होने से जड़ हैं, तब उनका संघात चैतन्य को कैसे उत्पन्न कर सकता है? चार्वाक इसके उत्तर में कहता है कि जिन अनेक द्रव्यों के मेल से मद की उत्पत्ति होती है उनमें से किसी में भी पृथक् रूप में मादकता की प्रतीति नहीं होती। फिर भी सबके सम्मिश्रण से तैयार घोल में मादकता आ जाती है। ऐसे ही जड़ मूलतत्त्वों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है।[1] परन्तु वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि मद्य को तैयार करने में प्रयुक्त प्रत्येक पदार्थ में मादकता का अंश है। इसी कारण उनके संघात में मादकता उत्पन्न हो जाती है। यदि उन द्रव्यों में मादकता नहीं है तो उनके संघात से मादकता की जगह कुछ और क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता? अथवा मद्य बनाने में द्रव्यविशेष का ही प्रयोग क्यों किया जाता है? मादक घोल के तैयार करने में प्रयुक्त द्रव्य में मादकता के अंश की तरह जगत् के मूलतत्त्वों—सत्त्व-रजस्-तमस् में किसी भी रूप में चेतना का अंश नहीं पाया जाता। इसलिए इन तत्त्वों के संघात से भी चेतना नहीं आ सकती। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि वस्तुतः मद्य में मद उत्पन्न नहीं होता, मद तो मद्य पीने से चेतन को होता है और सेवन करनेवाले की अपेक्षा से होता है। यही कारण है कि जिस एक प्याले-भर मद्य को पीने से एक व्यक्ति पागल हो उठता है, उसी के पीने से दूसरे को पता तक नहीं चलता। यदि चेतन के बिना मद्य में नशा हो सकता तो मुर्दे के मुँह में शराब उँडेलने से भी नशा हो जाना चाहिए था, परन्तु ऐसा होना असम्भव है।

यदि पञ्चभौतिक देह को आत्मा मान लिया जाए तो मरण आदि अवस्थाओं का अभाव हो जाना चाहिए। देह में चेतना का न रहना अथवा चेतन का देह को छोड़कर चले जाना मृत्यु है। यदि समस्त देह स्वतःचेतन है तो किसी के छोड़कर चले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। जहाँ तक आत्मा के प्रत्यक्ष न होने

---

१. तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति···तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।—सर्वदर्शनसंग्रहे चार्वाकदर्शनम्, पृष्ठ २

का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष गुणों का होता है और गुण-गुणी का समवाय-सम्बन्ध होने से गुणों के द्वारा गुणी का प्रत्यक्ष होता है। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसके गुणों की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही उसका प्रत्यक्ष है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिङ्ग हैं। जबतक शरीर में जीवात्मा रहता है तबतक ये प्रत्यक्ष रहते हैं। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी, इन सबका लोप हो जाता है।[1] यदि चेतना देह का धर्म होता तो मृत देह में भी रहती। उसके न रहने से स्पष्ट है कि चेतना देह का धर्म नहीं है। जिसके होने से जो हो, और न रहने से न हो, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे सूर्य, दीपादि के होने से प्रकाश होता और न होने से नहीं होता, क्योंकि सूर्यादि प्रकाश होने के कारण हैं। इसी से जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यदि देह से भिन्न कुछ न हो तो देह के रहते ज्ञानादि का अभाव न होना चाहिए, अतः जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है, वही जीवात्मा है। इस प्रकार चेतन तत्त्व देह से सर्वथा अतिरिक्त है। इसी तत्त्व का नाम 'आत्मा' है। इस देहातिरिक्त आत्मा का ही ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है।

गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहता है और स्वयं उसमें दूसरे गुण नहीं रह सकते।[2] जीवात्मा में गुणों का होना प्रत्यक्ष है। उन्हीं के कारण जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है, अतः जीवात्मा द्रव्य है। यदि उसे द्रव्य न माना जाए तो उसमें गुणों की कल्पना करना सम्भव न होगा। वस्तुतः जो पदार्थ समवाय-सम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण कहाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे का भी यही मत था कि जीवात्मा द्रव्य है। परन्तु अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने जीवात्मा के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया। उनके मत में जीवात्मा द्रव्य नहीं है। बौद्धमतानुसार आत्मा चेतना का प्रवाह (Stream of Consciousness) है। कुछ ऐसा ही मत ह्यूम का था। उसके विचार में आत्मा विचारों तथा प्रत्यक्षों का योगमात्र है। उसका कथन है—"मैं जब कभी 'अपने' विषय में विचार करता हूँ तो सदैव गरमी या सरदी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, सुख या दुःख आदि के किसी विशेष विचार पर अटककर रह

१. व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।—वे० द० ३।३।५४
२. द्रव्याश्रय्यगुणवान्···।—वै० १।१।१६

जाता हूँ। बिना प्रत्यक्ष या विचार के मैं कभी अपने 'स्व' को नहीं पकड़ पाता और सिवाय विचार के और कुछ देख भी नहीं सकता। जब किसी समय (जैसे प्रगाढ़ निद्रा में) मेरे सभी विचार समाप्त हो जाएँ तो कम-से-कम उतने समय तक तो मुझे अपनी प्रतीति नहीं होती और एक प्रकार से मेरा अस्तित्व ही नहीं रहता।"[1] ह्यूम ने अपने इस कथन से आत्मा के अस्तित्व को नकारने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः उसके इस कथन का आधार बर्कले द्वारा प्रतिपादित वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता उसके प्रत्यक्ष पर निर्भर करती है।[2] द्रव्यरूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि इस रूप में उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। ह्यूम के मत का सार यही है।

किन्तु ये विचार तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। आत्मा का प्रत्यक्ष, गुण-गुणी के समवाय-सम्बन्ध से होता है, यह हम सिद्ध कर चुके हैं। ह्यूम के अनुसार यदि उसका अस्तित्व गाढ़ निद्रा में समाप्त हो जाता है, तो वह जागने पर कैसे कह सकता है कि रात 'मुझे' बड़ी अच्छी नींद आई ? बिना किसी स्थायी आधार के निद्रा से पहले की कोई भी बात 'उसे' कैसे स्मरण रह जाती है ? आत्मा को 'चेतना का प्रवाह' माननेवालों से भी यही कुछ पूछा जा सकता है। इस विचार-धारा के अनुसार आत्मा चेतना, ज्ञान या विचारों का प्रवाह है जो नदी की भाँति निरन्तर बहता रहता है। जैसे जल के नये बिन्दु प्रतिक्षण आते रहते हैं और बहते जाते हैं, उसी प्रकार मानसिक विचार उत्पन्न होते रहते हैं और समाप्त होते रहते हैं। नदी के प्रवाह में जो जल-बिन्दु बह गया, सो बह गया। वह कभी लौटकर नहीं आ सकता। इसी प्रकार यदि आत्मा को जल के प्रवाह के समान माना जाए तो एक बार उत्पन्न विचारों की स्मृति या प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं होनी चाहिए। फिर, नदी का प्रवाह भी तो किसी द्रव्य पर आश्रित है। प्रतिक्षण

---

१. When I enter most intimately into I call MYSELF, I always stumble on some particular perception or other, of hot or cold, light or shade, love or hatred, pleasure or pain. I never catch myself at anytime without a perception and can never observe anything but the perception. When my perceptions are removed for anytime, as by sound sleep, so long are insensible of MYSELF and may truly be said not to exist."

२. Essest percepi.

परिवर्त्तित होनेवाले जलप्रवाह की तह में एक स्थायी द्रव्य—धरती है जिसके ऊपर यह जलप्रवाह जारी रहता है। यही कारण है कि प्रवाह के बदलते रहने पर भी नदी की पहचान बनी रहती है, अर्थात् नदी वही रहती है। इसी प्रकार मानसिक विचारों का एक प्रवाह है जो क्षणिक व परिवर्त्तनशील है, परन्तु उसकी तह में विचार करनेवाला एक स्थायी तत्त्व रहता है; उसी को आत्मा कहते हैं।

आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञानसामग्री का संश्लेषण-विश्लेषण करती, भिन्न-भिन्न अनुभवों में एकत्व स्थापित करती और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करती है, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण और प्रतिसन्धान कर सकती है, अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का नहीं। किन्तु जिस वस्तु को हम आँख से देखते हैं, उसीको हाथ से छूकर कहते हैं कि जिसे आँख से देखा था उसी को हाथ से छू रहे हैं। खाद्य-पदार्थ को आँख से देखते ही रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियाँ ही ज्ञाता होतीं तो ऐसा कभी न होता, क्योंकि एक के देखे-सुने का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस वस्तु को बाईं आँख से देखा हो उसे दाईं आँख से देखकर यह कहना कि यह वही वस्तु है जिसे पहले बाईं आँख से देखा था, उस वस्तु का प्रत्यभिज्ञान है। यदि देह से भिन्न आत्मा को न माना जाए तो प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है, वह इनसे भिन्न आत्मतत्त्व है। इन्द्रियाँ भौतिक (प्रकृति से उत्पन्न) हैं, अतः चेतना उनका गुण नहीं हो सकता। वे साधन-मात्र हैं इसलिए उनका उपयोग करने के लिए कर्त्ता के रूप में चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। इन्द्रियों तथा आत्मा को एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में जितनी इन्द्रियाँ होंगी उतनी ही आत्माएँ होंगी और इससे व्यक्ति की पहचान एक समस्या बन जाएगी। यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ मिलकर एक आत्मा बनती हैं तो दृष्टि, श्रवण, रस आदि का एकसाथ उपभोग सम्भव होगा जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

हरेक बोध में हमें ज्ञाता की शरीर से भिन्नता की अभिज्ञा रहती है। इन्द्रियों के क्षत हो जाने, नष्ट हो जाने अथवा दृष्ट पदार्थ का अभाव हो जाने पर भी उसके संस्कार का बना रहना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समस्त भौतिक पदार्थों से परे एक चेतन सत्ता है जो

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधनरूप में शरीर का संचालन और उपयोग करती है।

आत्मा और मन को भी एक नहीं माना जा सकता। मन भी साधनरूप आन्तरेन्द्रिय है जिसके द्वारा आत्मा मनन करता है और बाह्येन्द्रियों से काम लेता है। जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के निमित्त अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करने के लिए मन की आवश्यकता है, उसी प्रकार आन्तरिक अर्थों तथा व्यवहारों—मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प आदि के ग्रहण करने के लिए भी अन्तःकरण अथवा आन्तरेन्द्रिय के रूप में मन की आवश्यकता है। स्थूलभूतों का विकार न होने से मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि उसे देखा नहीं जा सकता, इसलिए मन अभौतिक है। परन्तु वह प्रकृति के सूक्ष्म अंशों से बना है, अतः वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार अभौतिक होने से वह आत्मा के निकट है और भौतिक होने से इन्द्रियों के निकट है। इस कारण वह आत्मा और शरीर दोनों के बीच सम्पर्क-अधिकारी का काम करता है।[1]

हम देखते हैं कि जिस प्रकार जीवित देह को जलानेवाले को अपराधी मानकर दण्ड दिया जाता है, वैसे मृत देह को जलानेवाले को नहीं, क्योंकि यह माना जाता है कि मरने के बाद जो कुछ रह जाता है, उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। इसलिए उसे जलाने में कोई दोष नहीं है। यदि देह से भिन्न आत्मा न होता तो मृत देह को जलाने में भी पाप होता।

यदि देहादि संघात को आत्मा माना जाए तो उसके न रहने पर कोई पाप-पुण्य भी न रहेंगे, क्योंकि जिस शरीररूपी आत्मा ने पाप-पुण्य किये थे वह तो भस्म हो गया और भस्म हुआ शरीर तो फिर

---

१. The west never had the idea of soul until they got it through Sanskrit philosophy. What we call Manas (मनस्) or mind, the western people called soul. The body is here, beyond that is the mind, yet the mind is not the Atman; it is the fine body, the Sukshma Sharira—made of fine paritcles, which goes on from birth to death and so on. Behind the mind is the Atman, the soul or the Self as designated by western philosophers. —Vivekanand : Himduism, P. 29

आने से रहा।[1] इसलिए कर्त्ता शरीर के अभाव में पाप-पुण्य का अभाव और पाप-पुण्य के अभाव में संसार में सुख-दुःख का अभाव होगा। प्रत्यक्ष के विपरीत होने से यह स्थिति मान्य नहीं हो सकती।

खानपान आदि आहार पर अवलम्बित होने से देह में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। प्रतिक्षण शरीर के कुछ अंश नष्ट होते रहते हैं और कुछ नये उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में शरीर अन्य का अन्य होता जाता है। शरीर-विज्ञानियों के अनुसार हर सात वर्ष में शरीरस्थ समस्त परमाणु बदल जाते हैं। इस प्रकार मृत्यु तक पहुँचते-पहुँचते शरीर बिल्कुल दूसरा हो जाता है, इसलिए यदि शरीर को आत्मा माना जाए तो आज की देह के किये कर्म के फल को कल आनेवाला शरीर भोगेगा और जिस शरीर ने किया था वह दण्ड पाने से बच जाएगा। इस प्रकार देहादि संघात को आत्मा मानने पर देहादि प्राणी का प्रतिक्षण भेद होते रहने से कृतहानि तथा अकृताभ्यागम दोषों की प्राप्ति होगी।

अगले सूत्र में जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है—

**ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टो जीवः॥२॥**

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व की विशेषताओं से युक्त जीव कहाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व के विषय में आश्वस्त है। कोई यह नहीं सोचता कि 'मैं नहीं हूँ।'[2] यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता तो प्रत्येक मनुष्य यह सोचता कि 'मैं नहीं हूँ।' 'मैं क्या हूँ' इस विषय में मतभेद हो सकता है, किन्तु 'मैं हूँ' इसमें किसी को सन्देह नहीं होता। फ्रांस के सुप्रसिद्ध दार्शनिक डिकार्टे (Descarte) का कथन है कि "मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ।"[3] ज्ञान के समस्त साधन अर्थात् प्रमाण आत्मा के अस्तित्व पर निर्भर करते हैं और क्योंकि इस प्रकार का अनुभव अपना प्रमाण स्वयं है, इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। साधारणतया 'जीव'-पद आत्मा के पर्यायरूप में प्रयुक्त होता आया है। श्वेताश्वतरोपनिषद्

---

१. **भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।**—चार्वाक
२. **सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति।**—शां० भा० १।१।१
३. Cogito ergo sum.

में आत्मा के लिए केवल जीव पद का प्रयोग हुआ है।[1] छान्दोग्य में भी कहा है कि "जब देह से जीव निकल जाता है तो इस देह को मृत कहा जाता है। पर जीव नहीं मरता।"[2] छान्दोग्य में ही एक अन्य स्थान पर 'आत्मा' के साथ 'जीव' पद का प्रयोग इन पदों के पर्यायवाची होने की पुष्टि करता है।[3] वेदसंहिताओं में आत्मा के लिए जीव पद का प्रयोग अनेकत्र हुआ है। ऋग्वेद में कहा है कि "दस मास माता के गर्भ में शयन कर बालरूप में वह अविनाशी जीव बाहर आता है और उसके अनन्तर माता के आश्रय रहता है।"[4] इसी प्रकार अथर्ववेद में आता है कि "जैसे जीव प्रकृति के दिये हुए शरीर में प्राणायाम के द्वारा सौ वर्ष तक सुरक्षित रहता है।"[5]

धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति करने से जीव का अर्थ प्राणी होता है।[6] प्राण धारण करना अन्तःकरण तथा बाह्यकरण समस्त करणों की सामान्य वृत्ति है। इसलिए वस्तुतः 'जीव' पद उस आत्मा के पर्यायरूप में प्रयुक्त होता है जो देह में अभिमानी होकर अधिष्ठित होता है। केवल 'आत्मा' एक साधारण पद है जो ईश्वर और जीव दोनों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है। आचार्य यास्क ने 'आत्मा' पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—**"आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्याद् यावद्व्याप्तीभूत इति।"** प्रथम निर्वचन 'अत् सातत्यगमने' (उणादि० ४-१५३) से मनिन् प्रत्यय लगाकर किया गया है। व्याख्याकारों ने लिखा—**'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा योऽन्तराणि स आत्मा'** अर्थात् जो निरन्तर कर्मफलों को प्राप्त करता तथा एक देह से देहान्तर को प्राप्त होता रहता है, वह आत्मा है। एतद-नुसार 'आत्मा' पद जीवात्मा का वाचक है। द्वितीय निर्वचन 'आप्लृ व्याप्तौ' से निष्पन्न है। परमात्मा के सर्वव्यापक तथा सर्वान्तिर्यामी होने से इस अर्थ में 'आत्मा' पद परमात्मा का वाचक है। तृतीय निर्वचन के

---

१. **भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।**—श्वेत० ५।६
२. **जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।**—छां० ६।११।३
३. **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य।**—छा० ६।३।२
४. **दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।**
**निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥**—ऋ० ५।७८।६
५. **यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः।**
—अ० २।२८।४
६. **जीव बलप्राणधारणयोः।**

अनुसार भी 'आत्मा' शब्द जीवात्मा का वाचक है। वह व्याप्त तो नहीं, किन्तु व्याप्तीभूत है उससे व्याप्त-सा है। जीवात्मा एकदेशी होने से समस्त शरीर में व्याप्त नहीं है, किन्तु शरीर के रोम-रोम में उसकी शक्ति व्याप्त होने और उसके न रहने पर शरीर के किसी भी अंग में क्रिया न होने से वह व्याप्त न होने पर भी व्याप्त जैसा प्रतीत होता है। यास्क की इस व्याख्या से दार्शनिकों के अणुवाद-विभुवाद का पारस्परिक भेद नहीं रहता। तात्पर्य यह कि 'आत्मा' पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए किया जाता है। कहाँ कौन-सा अर्थ अपेक्षित है, इसका निश्चय प्रयोग के पूर्वापर प्रसंग के आधार पर किया जाना चाहिए। तथापि उसके प्रयोग में विभेद करने के लिए 'आत्मा' के साथ 'जीव' तथा 'परम' दो विशेष पदों को जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार एक को 'जीवात्मा' और दूसरे को 'परमात्मा' कहा जाता है। शरीर से सम्बद्ध रहने के कारण सर्गकाल में यह आत्मा जीवात्मा ही बना रहता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि शरीर (स्थूल व सूक्ष्म) से विशिष्ट आत्मा की जीव संज्ञा होती है।

शरीर को चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय कहा जाता है। चेष्टा उस क्रिया का नाम है जो ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नपूर्वक होती है। जबतक शरीर आत्मा से अधिष्ठित रहता है, तभी तक चेष्टा का होना सम्भव है। इन्द्रियों की भी अपने विषयों में प्रवृत्ति शरीर के बिना सम्भव नहीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमि, कीट आदि के भी स्वतन्त्र शरीर होते हैं, क्योंकि शरीर के बिना कोई आत्मा भोगदशा को प्राप्त नहीं कर सकता। 'अर्थ' पद का तात्पर्य यहाँ सुख-दुःख आदि का उपभोग है। इन्द्रिय और उनके विषयों के सन्निकर्ष से प्राप्त सुख-दुःख आदि का अनुभव जिस आयतन में होता है, वह शरीर है। शरीर के द्वारा ज्ञान, क्रिया और भोग तभी तक सम्पन्न होते हैं जबतक उसमें जीवात्मा का वास रहता है, अतः ज्ञान, कर्म और भोग आत्मा की विशेषताएँ हैं। न्यायदर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिङ्ग या चिह्न हैं।[1] इनके द्वारा, गुण-गुणी समवाय-सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है, फिर

१. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।—न्याय० १।१।१०

भी आँख से देखकर रसना द्वारा गृहीत रसास्वाद का स्मरण होना किसी ऐसी तीसरी सत्ता के अस्तित्व का परिचायक है जो अकेली दोनों को ग्रहण करने में समर्थ है। इस प्रकार ज्ञान का संग्राहक इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र=आत्मा है। दुःख के कारणों को दूर कर सुख के साधनों को जुटाना प्रयत्न है। सुख-दुःख के कारणों को स्मरण कर सुख-दुःख की अनुभूति भोग है। इस प्रकार ज्ञान, प्रयत्न तथा सुख-दुःख की अनुभूति क्रमशः जीव के ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व गुणों का निर्देश करते हैं।

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता स्टाउट ने लिखा है कि "प्रत्येक मानसिक अवस्था के विश्लेषण में ज्ञान, भाव व प्रयत्न स्पष्ट वृत्तियाँ हैं। परन्तु वे भिन्न नहीं हैं, वे एक-दूसरे से पृथक् घटित नहीं होतीं।"[1] भाव यह है कि प्रत्येक मानसिक अवस्था में ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तीनों वृत्तियाँ उपस्थित रहती हैं। यह और बात है कि किसी समय कोई वृत्ति मुख्य होती है और किसी समय वह गौण हो जाती है, परन्तु ऐसी कोई अवस्था नहीं होती जब वे तीनों किसी-न-किसी अंश में उपस्थित न हों। स्टाउट ने ये वृत्तियाँ मन की बताई हैं, क्योंकि वर्त्तमान पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक आत्मा का अध्ययन नहीं करता। वह मन को चेतन मानकर उसी को ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता मानता है। भारतीय दर्शन मन को जड़ मानता है। ज्ञान सदा चेतनतत्त्व को होता है, अतः उसके अनुसार ये सभी धर्म आत्मा के हैं। मन उसके लिए मात्र साधन-रूप है।

ज्ञाता आत्मा अपनी इच्छा के कारण किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति उसकी इच्छा और द्वेष के कारण होती हैं। इसलिए ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा इनके फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुःख का आश्रय एक होना चाहिए। ज्ञान का आश्रय निश्चित रूप से आत्मा है, अतः इच्छा आदि का भी आश्रय आत्मा ही हो सकता है।

आत्मा तथा बाह्येन्द्रियों को जोड़नेवाली आभ्यन्तर इन्द्रिय अन्तःकरण है। आत्माओं के अनेक होने से यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति

---

१. Cognition, feeling and conation are abstractly and analytically distinct phases in any psychosis; but they do not occur in isolation.—A Manual of Psychology.

में भिन्न है। इसलिए एक व्यक्ति का बोध सब मनुष्यों का बोध नहीं हो सकता। इसे अन्तःकरण के नाम से इसलिए अभिहित किया जाता है, क्योंकि यह इन्द्रियों के व्यापार का स्थान है और उनके लिए बाह्य गोलकों से भिन्न है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो सामग्री इसे प्राप्त होती है, उसे क्रमबद्ध करके व्यवस्थित करना इसका काम है। प्रमेय पदार्थों का चेतन प्रमाता के साथ सम्बन्ध हो जाना ज्ञान है। यह सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से होता है। यदि अन्तःकरण की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो परिणाम में या तो निरन्तर प्रत्यक्ष होगा या निरन्तर अप्रत्यक्ष। पहली अवस्था में आत्मा से इन्द्रियों तथा विषय का संयोग होगा, क्योंकि ये तीनों प्रत्यक्ष के साधन हैं और यदि इन तीनों के संयोग से कार्य सम्पन्न नहीं होता तब निरन्तर प्रत्यक्ष का अभाव होगा, किन्तु यह तथ्य के विरुद्ध है। अन्तःकरण की सत्ता को स्वीकार किये बिना अवधान तथा अनवधान के कारण होनेवाले प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं की जा सकती।

ग्राह्य वस्तु बाहर विद्यमान रहती है। करण सत्त्वप्रधान होने से अर्थ के प्रकाशक होते हैं। उनमें ग्राह्य विषय को ग्रहण करने की शक्ति होती है। बाह्य विषय इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा चित्त पर प्रतिबिम्बित होता है। इसी रूप में करण बाह्य वस्तु का बोध कराते हैं, परन्तु यह सब प्रक्रिया चेतन आत्मा के सान्निध्य में सम्भव है। इसलिए सब प्रक्रिया का कर्त्ता अथवा अधिष्ठाता चेतन आत्मा है। बुद्धि किसी विषय को आत्मा को समर्पित कर देती है। आत्मा उस विषय को अनुभव करता है। यही उसका ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व है। द्रष्टा आदि होना आत्मा का स्वरूप है, करणत्व इन्द्रियों का धर्म है।[1] लोहे के गोले के साथ अग्नि का सम्पर्क होने पर गोले में दाहकता की प्रतीति होती है, किन्तु यह दाहकता अग्नि की होती है, लोहे की नहीं। इसी प्रकार यद्यपि प्रवृत्तियों का उद्भव अन्तःकरण में होता है, किन्तु वह चेतन के सम्पर्क अथवा सान्निध्य के कारण होता है[2], क्योंकि अन्तः-करण के अचेतन होने से उसमें स्वतः किसी प्रकार की प्रवृत्ति सम्भव नहीं। बोध या अनुभूति केवल चेतन आत्मा का धर्म या स्वरूप है। बुद्धि केवल साधनरूप है, उसे अनुभूति नहीं हो सकती।

१. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्।—सां० २।२९
२. अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्।—सां० १।९४

ज्ञान का पर्यवसान कर्म में है। कहीं जाने के लिए ही रास्ता पूछा जाता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराने में ही शास्त्र का प्रयोजन है। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधात्मक वचन जीवात्मा को लक्ष्य कर कहे गये हैं। उनका अनुष्ठाता होने से ही वह कर्त्ता है।[१] आत्मा कर्त्ता न होता तो उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध निरर्थक होता। प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि यह "विज्ञानमय जीवात्मपुरुष द्रष्टा, श्रोता, स्प्रष्टा, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा और कर्त्ता है।"[२] इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया कि "संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिए कर्मों का कर्त्ता है।"[३] वैदिक साहित्य में अनेक वाक्य जीवात्मा के कर्त्तृत्व के पोषक हैं। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'** (यजुः ४०।२), **'कृषिमित्कृषस्व'** (ऋ० १०।३४।१३), **'गां मा हिंसीः'** (यजु० १३।४३), **'अक्षैर्मा दीव्यः'** (ऋ० १०।३४।१३), **'सत्यं वद, धर्मं चर'** (तै० १।११), **'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत् धर्माथौं चानुचिन्तयेत्'** (मनु० ४।९२) इत्यादि वाक्यों के द्वारा कर्मों का विधान तथा निषेध जीवात्मा के कर्त्ता होने का निश्चायक है। बृहदारण्यकोपनिषद् की स्पष्ट घोषणा है कि "यह जीवात्मपुरुष इन प्राणों को अपने साथ लेकर अपने शरीर में इच्छानुसार आचरण करता है।"[४]

वस्तुतः "मनुष्य कुछ-न-कुछ किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) से विवश होकर सबको कर्म करना पड़ता है।"[५] जबतक प्राकृत शरीर है तबतक कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता।[६] कर्म के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। देखना, सुनना, निमेषोन्मेष, श्वास-प्रश्वास, उठना-बैठना,

---

१. **कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।**—वे० द० २।३।३३

२. **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**—प्र० ४।९

३. **गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता।**—श्वेत० ५।७

४. **एष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते।**—बृ० २।१।१८

५. **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥**—गीता ३।५

६. The eye cannot choose but see,
We cannot bid the ear be still.
Our bodies feel wherever they be,
Against or with our will.—Wordsworth

सोना-जागना आदि सभी तो कर्म हैं। कर्मशून्यरूपी नैषकर्म्य असम्भव है, क्योंकि कर्त्तृत्व आत्मा का स्वभाव है।[1]

शंकराचार्य का मत है कि ज्ञान कर्म का विरोधी है और स्वप्न में भी साथ नहीं रह सकता। यदि धर्मशास्त्रों में लेखबद्ध ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें कर्म करनेवाले गृहस्थ पुरुष भी पवित्र ज्ञान रखते थे तो इस प्रकार के कथन एक प्रत्यक्ष तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते, क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार को सैकड़ों नियमों के द्वारा भी एकसाथ नहीं रक्खा जा सकता।[2] गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि संसार का नियम ही क्रिया है। यह संसार है—'संसरति' निरन्तर चल रहा है। गति के कारण वह 'जगत्' कहाता है। यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[3] इस गतिमय संसार में अकर्मण्यता का अर्थ ह्रास अथवा विनाश है। भगवान् ने हमारे शरीर में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों दी हैं। वे एक-दूसरे की पूरक हैं; विरोधी नहीं। इसलिए न तो ज्ञान के बिना कर्म रह सकता है और न कर्म के बिना ज्ञान।[4] ज्ञाननिष्ठ ही कर्मनिष्ठ होकर '**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**' का पालन कर सकता है।

जिस कर्म के बिना शरीर-निर्वाह तक नहीं हो सकता, शास्त्र उसका निषेध कैसे कर सकता है?[5] श्वासोच्छ्वास की क्रिया के बिना तो जीवन पलभर भी नहीं ठहर सकता। दो दिन निरन्तर उपनिषदों का पाठ करता रहे, किन्तु रोटी न खाये अथवा श्वासक्रिया बन्द हो जाए तो स्पष्ट प्रतीत होने लगे कि अँधेरा ज्ञान के बिना होता है या कर्म के बिना। अन्यत्र ईशोपनिषद् के भाष्य में दूसरे मन्त्र की व्याख्या करते

---

१. **कर्तृत्वस्वभावत्वे हि आत्मनो न कर्त्तृत्वान्निर्मोक्षः अग्नेरिव औष्ण्यात्।**

२. **विद्याकर्मविरोधाच्च न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्। यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्त्तृत्वादि लिङ्गं न तत् स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते। न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्र सम्भवः शक्यते कर्त्तुम्।**—मुण्डक० शा० भा० प्रस्तावना

३. What is this universe but an infinite conjugation of the verb 'to do.'—Carlyle

४. **न कर्मरहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।**—अभिनवगुप्त

५. **शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥**—गीता ३।८

हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इस मन्त्र में कर्म करने का उपदेश केवल उन लोगों के लिए है जो अनात्मज्ञ हैं, अर्थात् जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ और जो अशक्त अर्थात् सामर्थ्यहीन हैं।[1] कर्म करना मूर्खों का काम है। जो ज्ञानी हैं उनके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस मन्त्र की व्याख्या के अन्त में शांकर भाष्य में एक प्रश्न उठाया गया है कि "यह कैसे ज्ञात हुआ कि इस मन्त्र (ईशा वास्यम्···) से संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा और दूसरे से अज्ञानी की कर्मनिष्ठा अभिप्रेत है ?"[2] दोनों मन्त्रों में किसी शब्द से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि पहला ज्ञानियों के लिए है और दूसरा अनात्मज्ञों के लिए। भाष्यकार ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया है—"क्या तुमको हमारी यह बात याद नहीं रही कि ज्ञान और कर्म का परस्पर विरोध तो पहाड़ की तरह अटल है ?"[3] किन्तु यह शंका का समाधान नहीं, समाधानाभास है और प्रत्यक्ष के सर्वथा विपरीत है। ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी न होकर पंग्वन्धन्याय के अनुसार एक-दूसरे के पूरक हैं। पहले मनुष्य आँख से रास्ता देखता है, फिर पैरों से आगे बढ़ता है। समस्त उपनिषदों का सार मानी जानेवाली गीता का सार क्या है ? गीता के उपदेश द्वारा अर्जुन को अकर्म की भावना से मुक्त **'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्'** (४-१५) अथवा **'सततं कार्यं कर्म समाचर'** (३-१९) के लिए तैयार करना। ज्ञान और कर्म में पर्वत के समान अकम्प्य विरोध होने का अर्थ है मस्तिष्क और हाथ-पैरों में विरोध होना। ज्ञान के विरुद्ध आचरण करना पागलपन का लक्षण है, स्वस्थ मनुष्य का नहीं। वस्तुतः इस प्रकार के निराधार भाष्य और कल्पित भावनाओं का अध्यारोप वेदमन्त्रों के आशय को न समझने का परिणाम है।

कर्म के सर्वथा त्याग का कोई कितना ही यत्न क्यों न करे, वे छट नहीं सकते—यह निश्चय हो जाने पर नैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य कर्म करना तो न छोड़े, पर ज्ञान के

---

१. अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः कुर्वन्नेवेहेति।

२. कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ?

३. उच्यते ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?

द्वारा आसक्ति का क्षय करके कर्म में प्रवृत्त रहे।[1] लोकमान्य तिलक के शब्दों में "कर्मरूपी बिच्छू कभी नहीं मरता, इसलिए ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि जिससे वह विषरहित हो जाए। कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना ही इसका एकमात्र उपाय है।" यह भी कहा जाता है—यदि कर्तृत्व आत्मा का तात्त्विक रूप होता तो उससे कभी मुक्ति न मिल सकती और जबतक मनुष्य अपने को कर्तृत्व से मुक्त नहीं कर लेता तबतक वह अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व अनिवार्यरूप से दुःखद है। यदि कर्म से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जिसे एक व्यक्ति किसी निजी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है तो यह आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से असंगत हो सकता है। इसके विपरीत अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के अनन्तर यदि कोई पुरुष सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे स्वीकार करता है तो वह कर्ता के बन्धन का कारण नहीं बनता। यदि ज्ञान और कर्म प्रकाश तथा अन्धकार के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं तो यहाँ कर्म से तात्पर्य स्वार्थपरक कर्तृत्व से हो सकता है और ज्ञान से तात्पर्य निःस्वार्थ ज्ञान से। शंकर भी यह स्वीकार करते हैं कि जिसे हम साधारणतया कर्म कहते हैं, वह कर्म नहीं, क्योंकि कर्म का आधार अहङ्कार है।[2] इसलिए ऐसे पुरुष के लिए जो ज्ञानी है, कोई कर्म आसक्ति का कारण नहीं बनता, चाहे वह जीवनभर कर्म करता रहे।[3] मुक्तात्मा (जीवन्मुक्त) अपनी स्वार्थपरक इच्छा का दमन कर लेता है। इसलिए स्वार्थपूर्ण आसक्ति जो कर्म की प्रेरक है, मुक्तात्मा में नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के कर्म, बन्धन का कारण नहीं बनते। उसका कर्म सामान्य अर्थों में कर्म नहीं होता।[4] मुक्तात्मा केवल जीवन-धारण के लिए ही न्यून-से-न्यून कर्म करने का व्रत लेते हैं।

जीवात्मा साधन-सामग्री के बिना अपने कर्तृत्व को नहीं निभा

---

१. तुलना करें—To be free from desire, from the illusion of personal interest is the true non-action, and not the physical abstention from activity. When it is said that works cease for a man who is liberated, all that is meant is that he has no further personal necessity for works.

२. **कर्महेतुः कामः स्यात्।**—तैत्ति० उप०, शां० भा० प्रस्तावना

३. **न कर्म लिप्यते नरे।**—यजु० ४०।२

४. **विदुषः क्रियमाणमपि कर्म परमार्थतोऽकर्मैव।**—गीता शां० भा० ४।२०

सकता। वस्तुतः जीवात्मा के कर्त्तृत्व का स्पष्टरूप साधन-सामग्री की उपस्थिति में ही प्रतिफलित होता है। सब कार्यों की सिद्धि के लिए सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार गीता (१८।१३—१५) ने पाँच साधन बताये हैं।[1] यद्यपि यहाँ जीवात्मा को स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता (स्वतन्त्रः कर्त्ता—अष्टा० १।४।५४) बताया है। परन्तु अन्य साधन-सामग्री के अभाव में केवल आत्मा अपने कर्त्तृत्व को सम्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार खेती केवल किसान के यत्न पर निर्भर नहीं—उसकी सफलता के लिए धरती, बीज, पानी, खाद, बैल आदि साधन अपेक्षित हैं—इसी प्रकार मनुष्य को प्रयत्न की सफलता के लिए अनेक साधनों की अनुकूलता आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि जो कर्म किये जाते हैं उनके सम्पन्न होने में जीव के साथ उनका शरीर, इन्द्रिय, प्रारब्ध कर्म और परमात्मा ये पाँच कारण होते हैं। किसी क्रिया के लिए मूल भावना का उद्भव जहाँ हो, वस्तुतः वही कर्त्ता है। ऐसा चेतन तत्त्व वह है जिसे हम आत्मा; जीव या पुरुष के नाम से अभिहित करते हैं। वस्तुतः वही कर्त्ता और भोक्ता है। फिर भी, कर्म विषय में उक्त पाँच कारणों का प्रतिपादन इसलिए किया है कि जो व्यक्ति कर्म के उक्त पाँच हेतुओं को जान लेता है उसमें कर्म करने में अहंकार का भाव नहीं आता और अहंकार का भाव न आने से वह कर्मबन्धन में नहीं आता। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए गीता के अगले श्लोक में कहा है कि "कर्म के विषय में ऐसा होने पर (उक्त पाँच हेतुओं को जान लेने पर) जो केवल जीवात्मा को कर्त्ता मानता है, वह मन्दबुद्धि मनुष्य, अज्ञानी होने से, ठीक नहीं देखता।"[2]

मायावादी के मत में जीवात्मा में कर्त्तृत्व अविद्या से आता है, अतः वे 'अकृतबुद्धि' का यह अर्थ कहते हैं कि जबतक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं ब्रह्म हूँ, तबतक वह अकृतबुद्धि रहता है और जब वह

---

१. पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥—गीता १८।१३-१५

२. तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न पश्यति स दुर्मतिः ॥—गीता १८।१६

अविद्या के कारण उत्पन्न कर्त्तृत्व बुद्धि को मिथ्या समझ लेता है तब वह कर्त्ता नहीं रहता, परन्तु गीताकार को यह सिद्धान्त अभीष्ट नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा दैव—कर्म में इन पाँच हेतुओं का कथन न करता।

प्रकृति अचेतन एवं परिणामिनी है और प्रकृतिनिर्मित यावज्जगत् संघात है। संघात परार्थ—किसी अन्य के प्रयोजन के लिए—होता है। इसलिए प्रकृति के अनन्त निर्माण की सार्थकता इसी में है कि उसका उपयोग करनेवाला कोई चेतन तत्त्व हो। भोक्ता वही हो सकता है जो द्रष्टा और कर्त्ता हो। द्रष्टा अन्य हो, कर्त्ता अन्य और भोक्ता अन्य, यह सम्भव नहीं। आत्मा के विषय में जो बौद्धों की मान्यता है कि यह विचारों की एक शृङ्खला है जिसमें प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्त्तियों से अपने भूतकाल के विचार संगृहीत करता है, किसी प्रकार संगत नहीं है। यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान का होना अनिवार्य है। बौद्ध सिद्धान्त प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की व्याख्या करने में असमर्थ है। विचारों की शृङ्खला-सम्बन्धी बौद्ध-मत के आधार पर आत्मचैतन्य, इच्छा, स्मृति तथा सुख-दुःख का प्रपञ्च बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। इसलिए एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो नैरन्तर्य के कारण विचारों की सम्भाव्य क्षमता को धारण करती हो, नित्य हो और इस कारण पुनर्जन्म की व्यवस्था सम्भव हो।

विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश किये जाने से स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्त्तृत्व न होता तो उसमें भोक्तृत्व भी न होता। कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर यदि जीव परमात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छा और आदेश के अनुसार करने पर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा। स्वतन्त्र वह है जिसका शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण उसके अधीन हों। इन्हीं कारणों के द्वारा जीव को भोग प्राप्त होता है। बिना कर्त्ता के करण निरर्थक हैं। इसलिए चक्षु आदि करणों के होने से जीवात्मा का कर्त्तृत्व और कर्त्तृत्व के कारण उसका भोक्तृत्व सिद्ध है। ये समस्त करण तथा जगद्रचना आत्मा के लिए है। देहों में सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म के रहते हुए भी उनके पाप-पुण्यरूप कर्मों के अभाव

में करणों अथवा अन्य साधनों से किसी भोग की प्राप्ति नहीं होती, यद्यपि चक्षु आदि करणरूप में जिससे सम्बद्ध हैं, उसी के लिए भोगादि का सम्पादन करते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि "जीवात्मा तथा परमात्मा इन दोनों में केवल एक जीवात्मा कर्मानुसार फल भोगता है, अन्य-परमात्मा अभोक्ता रहता हुआ प्रकाशित होता है।"[1] छान्दोग्य-उपनिषद् में बताया है—"जहाँ यह कृष्णतारा से उपलक्षित छेद जैसा विद्यमान है, वह चक्षु है। वहाँ चक्षु द्वारा देखनेवाला पुरुष अन्य है। जो यह जानता है कि मैं सूँघूँ, वह आत्मा है। गन्धग्रहणव्यापार के लिए घ्राण है। जो जानता है कि मैं बोलूँ, वह आत्मा है। ध्वनि-व्यापार के लिए वाक् है। जो यह जानता है कि मैं सुनूँ, वह आत्मा है। श्रवणव्यापार के लिए श्रोत्र हैं।"[2] यहाँ स्पष्ट ही चक्षु, श्रोत्र आदि को करण बताया है। ये करण जिससे सम्बद्ध हैं, उसी के लिए भोगादि का सम्पादन करते हैं। इसीलिए ऋषियों ने कहा कि "इन्द्रिय अन्तः-करण आदि के सहित आत्मा को मननशील विद्वानों ने भोक्ता कहा है।"[3] यही स्थिति आत्मा के कर्त्ता कहे जाने की है। जैसे सूर्य आदि के होने से प्रकाश होता है और न होने से नहीं होता, वैसे ही जीवात्मा के शरीर में रहने पर इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान आदि के द्वारा उसकी प्रतीति होती है, किन्तु पार्थिव शरीर के न रहने पर भी ये गुण आत्मा में रहते हैं। प्रकारान्तर से यही जीवात्मा के ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व की अभिव्यक्ति है।

**परिच्छिन्नश्च ॥३॥**

(जीवात्मा) परिच्छिन्न (अणुपरिमाण) है।

परिमाण तीन प्रकार के माने जाते हैं—विभु, मध्यम और अणु। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह विभु, जो शरीरमात्र में व्याप्त हो वह मध्यम तथा जो नियत स्थान में वर्तमान हो वह अणु कहाता है।

जीवात्मपुरुष परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं अणुपरिमाण है।

---

१. **तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।**—ऋ० १।१६४।२०

२. **अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम् अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा अभिव्याहाराय वाक् अथ यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्।**—छा० ८।१२।४

३. **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।**—कठ० १।३।४

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि यह 'अणु' आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है।[1] आत्मा के माप का उल्लेख मिलने से भी उसके अणु होने की पुष्टि होती है। जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद में कहा है—"जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक (प्रकृति) है जो दीखती नहीं। इन दोनों में व्याप्त जो देवता है वही मेरा प्रिय है।"[2] इस मन्त्र में कथित जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्वेता० उपनिषद में कहा है—"बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जाएँ फिर उनमें से एक भाग के सौ भाग किये जाएँ, तो उनमें से एक के बराबर जीव का परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ है।"[3] उपनिषदों में अनेकत्र (कठ० ४।१२,१३; ६।१७; श्वेत० ५।८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर (**अंगुष्ठमात्रः पुरुषः**) बताया है। अंगूठे के बराबर कहने का यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अंगूठे के परिमाणवाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अंगूठे जैसी होने के कारण तात्स्थ्योपाधि से ऐसा कह दिया है। तथापि किसी सम्भावित भ्रान्ति का निवारण कर देने के उद्देश्य से 'अंगुष्ठमात्र' के साथ ही 'आराग्रमात्र' (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये वाक्य जीवात्मा के किसी नियत परिमाण का निर्देश न करके उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने का बोध कराने के लिए कहे गये हैं।

आत्मा के अणु-परिमाण होने से यह स्वतः सिद्ध है कि वह शरीर में किसी नियत स्थान पर रहता है। वह कौन-सा स्थान है? जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है उन्होंने आत्मा को हृदयदेश में स्थित बताया है। जीवात्मा का यह स्थान शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—'**हृदि ह्येष आत्मा**' यह आत्मा निश्चितरूप से हृदय में निवास करता है।[4] इसी प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र जीवात्मा के अणु होने और हृदय-

---

१. **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः**।—मु० ३।१।९

२. **बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।**
**ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया**।—अथर्व० १०।८।२५

३. **बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।**
**भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते**॥—श्वेत० ५।९

४. **हृदयं हि आत्मनिवासस्थानम्**।—सायणः अथर्व० १९।९।५

देश में निवास करने का वर्णन मिलता है।[1] इन्द्रियों के गोलक स्थूल शरीर का अङ्ग हैं, जबकि उनकी शक्ति का स्रोत हृदयस्थित आत्मा में निहित है, किन्तु जिस हृदय में आत्मा का वास है, वह रक्त का आक्षेप-प्रक्षेप करनेवाला हृदय नहीं, किन्तु वह मस्तिष्कगत प्रदेश है जिसका विस्तृत वर्णन अथर्ववेद (१०।२।३१-३३) में किया गया है। सुश्रुत में लिखा है—"हे सुश्रुत! देहियों का चेतनास्थान हृदय कहा जाता है। वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है तो देही निद्रा-वस्था में प्रवेश करता है।"[2] रक्त का प्रक्षेप करनेवाला हृदय तो जाग्रत् और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में अनवरत अपना काम करता रहता है, अतः उसके तमस् से अभिभूत होकर निद्रा का प्रयोजक बनने का प्रश्न ही नहीं है। निश्चय ही इस हृदय का स्थान मस्तिष्क में है। जिस प्रकार सामान्य हृदय तीन कार्य करता है अर्थात् 'हृ' से हरति=शरीर के अशुद्ध रक्त को लेता, 'द' से ददाति=फेफड़ों द्वारा शुद्ध करके शरीर को देता और इस उद्देश्य से हर समय 'य' से याति=गति करता रहता है, उसी प्रकार मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता, तदनुसार कर्मेन्द्रियों को कार्य में प्रवत्त करता और इस उद्देश्य से सदा गति करता रहता है।

मस्तिष्कगत हृदयदेश की वह क्रिया तमस् से अभिभूत होने पर शिथिल हो जाती है जो ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा बाह्य इन्द्रियों का सम्पर्क मस्तिष्कगत उस प्रदेश के साथ जोड़ती है जहाँ अन्तःकरण के सहयोग से आत्मा बाह्य विषयों की अनुभूति करता है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में होने से वहीं आत्मा का वास है जहाँ से वह ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है। जीवात्मा का शरीर से निकल जाना मृत्यु है। चिकित्साशास्त्र के अनुसार मनुष्य की मृत्यु रक्तप्रक्षेपक हृदय की गति बन्द हो जाने के साथ न होकर मस्तिष्क के काम बन्द करने पर होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि

---

१. स वा एष आत्मा हृदि।—छा० ८।३।३
कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।
—बृहद्० ४।३।७
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
—अथर्व० १९।९।५

२. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥—शरीर० ४।३४

आत्मा का आवास मस्तिष्कगत हृदय में अथवा 'ब्रह्मगुहा' (योग की भाषा में) में है।[1]

सांख्य के प्राचीन सन्दर्भ और जीव-सम्बन्धी अन्य विवेचनाओं के आधार पर सांख्य के मूलभूत आचार्यों का यही मत बनता है कि जीव परिच्छिन्न है। पातंजल योगदर्शन के व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिख के मतानुसार जीवात्मा अणुपरिमाण है और सर्वाधिक सूक्ष्म है।[2] न्यायदर्शन में, यद्यपि स्पष्ट रूप से आत्मा के अणुपरिमाण होने का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि वहाँ प्रकारान्तर से आत्मा का एकदेशी होना स्वीकार किया गया है। न्यायदर्शन के अनुसार एक समय में एक से अधिक इन्द्रिय से काम लेना और इस प्रकार एक से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना मन के सामर्थ्य से बाहर है। जब आत्मा जानना चाहता है तो वह मन से संयुक्त होता है और मन को ज्ञेय विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय से जोड़ता है। इस ज्ञान-प्रक्रिया की संगति जीवात्मा को परिच्छिन्न मानकर ही लग सकती है। यदि आत्मा समूचे शरीर में व्यापक हो तो मनादि के साथ उसका सम्पर्क सदा बना रहे और उक्त ज्ञान-प्रक्रिया समाप्त होकर समस्त ज्ञान एकसाथ सम्भव हों, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। वेदान्तानुयायी सम्प्रदाय एवं शंकर तथा शांकर मत के विद्वान् जीवात्मा को अपनी स्थिति में अर्थात् स्वरूप से अणु मानते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा वस्तुतः, ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व न होकर, उसका अपना रूप है, अतएव इस दृष्टि से उसे विभु मानते हैं।

मध्यम-परिमाण होने पर प्रत्येक शरीर के साथ जीव का परिमाण बदलेगा। इस प्रकार जीव का अपना कोई परिमाण न रहेगा। जिस शरीर में जाएगा उसी के बराबर उसका परिमाण हो जाएगा। जैन दार्शनिकों ने जीव को मध्यम-परिमाण स्वीकार किया है, अर्थात् देह के अनुरूप जीव का परिमाण माना है। एतदनुसार हाथी के शरीर में जीव हाथी जितना विशाल और चींटी के शरीर में चींटी जितना सूक्ष्म होता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुरूप आत्मा को मध्यम-परिमाण मानने

---

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत 'सांख्यसिद्धान्त' तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वैदिक सिद्धान्त' में देखें।

२. **तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते।**

—योग० व्यासभाष्य १।३६

पर उसमें संकोच-विकास के आवश्यक होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के अनुसार होगा तो मनुष्य-शरीर में ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर का विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर में जीवात्मा भी फैलता जाएगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा; कृशकाय व्यक्ति का छोटा और स्थूलकाय पहलवान का जीव बड़ा होगा। इससे जीव अवयवी हो जाएगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ में घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। साव-यव होने पर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जाएगा। जो पदार्थ विकारी अथवा परिवर्तनशील होगा वह नाशवान् होगा, अतः जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर उसे नश्वर मानना होगा। मैं छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और बड़े में भी। हाँ, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर कमरे से छोटा हो। अणुपरिमाण होने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मानकर जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समायेगा और चींटी का शरीर हाथी के शरीर में कैसे कार्य करेगा? जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी।

जीवात्मा के विभु होने की अवस्था में 'कौन शरीर किस आत्मा का है' यह निश्चय नहीं हो सकेगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में वर्तमान रहेंगे, परिणामतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी। जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानने पर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा। जीवात्मा का एक-एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना सिद्ध है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—"अपने उस चेतन स्वरूप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है।"[2] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं।[3] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में भी जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है। सूक्ष्मशरीर में परि-

---

१. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।—न्याय० १।१।१९
२. तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीर-देशेभ्यः।—बृहद्० ४।४।२
३. सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति।—मु० १।२।११

वेष्टित जीवात्मा जब इस शरीर से निकलता है तो सब करणों के साथ ही निकलता है।[१] अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अव्यसः' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः" अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का।[२] इस प्रकार उत्क्रान्ति, गति और आगति के प्रमाणों से आत्मा का परिच्छिन्न अथवा अणुपरिमाण होना सिद्ध है।[३] एक स्थान को छोड़ना अथवा एक स्थान से निकलना उत्क्रान्ति है।

गति का नियम है कि कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह है और उस स्थान पर भी गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है। कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है।[४] गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में नहीं। जब पक्षाघात हो जाता है तो तन्तु-सम्बन्ध में विकार आ जाने पर प्रभावित क्षेत्र में काँटा चुभना अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था। जीवात्मा को विभु मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत-प्रोत है। तब, एक ही आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा और सब जीवों के सुख-दुःख और समस्त क्रियाओं में समानता होगी। उस अवस्था में जन्म-मरण, संयोग-वियोग कुछ भी न होगा, परन्तु यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ये सब युक्तियाँ और प्रमाण आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करते हैं।

इस परिच्छिन्न जीव की शक्तियाँ शरीर में स्थित प्राण आदि के साथ संयुक्त होकर कार्य करती हैं। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना उसकी इस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्मरूप में व्याप्त है जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ जुड़ा रहता है। यह केन्द्र आत्मा के निवास-स्थान मस्तिष्कगत हृदय-

---

१. **स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति।**—कौ० ब्रा० उ० ३।४
२. अथर्व० सायणभाष्य १६।६८।१
३. **उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्।**—वेदान्त० २।३।१६
४. A thing does not move, where it is. It cannot move where it is not. It can move from where it is, to where it is not.

देश में है। इन साधनों के द्वारा एकदेशस्थित आत्मा देहव्यापी अनुभव कर लेता है, दीपक की भाँति अपनी शक्ति से समस्त शरीर का नियमन करता है। जिस प्रकार शरीर के एक अंग में संपृक्त चन्दन-बिन्दु ज्ञानवहा नाड़ियों के समस्त शरीर में व्याप्त होने के कारण समस्त देह में नवीन चेतना, शैत्य तथा आह्लाद उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार देह के एकदेश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में संवेदना का ग्रहण करता है। शंकर इस दृष्टान्त का खण्डन यह कहकर करते हैं कि काँटा भी तो, जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है, सारे शरीर की संवेदन-शक्ति के साथ सम्बद्ध है, फिर भी दुःख केवल पैर के तलवे में ही अनुभव होता है, सारे शरीर में नहीं। ऐसा कहते हुए शंकर यह भूल जाते हैं कि पैर केवल काँटा चुभने का स्थान है। दर्द की अनुभूति का स्थान पैर नहीं, हृदयदेश है जहाँ स्वयं आत्मा बैठा है। शरीर के समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों की भाँति पैर जड़ है। जड़ को दुःख की अनुभूति कैसे सम्भव है? इसलिए, जैसे वायु के सहयोग से मनुष्य तीव्र गन्धवाले दूरस्थ पदार्थ से प्राप्त गन्ध का अनुभव करता है, वैसे ही हृदयदेश में बैठा आत्मा अपने साधनों द्वारा पैर में लगे काँटे की अनुभूति करता है।

जैसे एक स्थान पर रक्खे दीपक की शिखा बहुत छोटी होते हुए भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है अथवा जैसे एकत्र स्थित सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा संसार को आलोकित करता है, उसी प्रकार देह में एकत्र स्थित अणुपरिमाण आत्मा अपने विभिन्न करणों=साधनों के द्वारा समस्त देह को सचेत एवं सक्रिय बनाये रखता और सारे शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव करता है।[1] लोक में जैसे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि अपने सहायकों द्वारा अपने विस्तृत राज्य की व्यवस्था करता है और हर प्रकार की जानकारी रखते हुए उसपर शासन करता है, वैसे ही हृदय में स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। इस प्रकार समझने पर जीवात्मा को अणुपरिमाण मानने में कोई बाधा नहीं आती।

ब्रह्म का विभु होना निर्विवाद है। ब्रह्म विभु है तो जीव विभु होना अनिवार्य है, क्योंकि—

---

१. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥—गीता० १३।३३

**जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।४।।**

पूर्वपक्ष जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं ।

तात्त्विक रूप में जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीवरूप दिखाई पड़ता है। वस्तुतः ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है। वही माया के कारण नामरूपात्मक जगत् के रूप में दृष्टिगोचर होता है। पंचदशी के अनुसार सर्ग के आदि में अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म ही माया के कारण जगद्रूप हो, जीव बनकर प्रादुर्भूत होता है।[1] ब्रह्म स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूप है। अविद्या की उपाधि के कारण जीव के रूप में उसकी प्रतीति होती है। अविद्या के कारण ही जीव अपने स्वरूप को नहीं समझ पाता। आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को आवृत्त करनेवाली अविद्या का लोप होने पर लौकिक आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को धारण कर लेती है। जीवात्मा ब्रह्म का परिणमित रूप अथवा विकार नहीं है। अविद्योपाधि से युक्त ब्रह्म ही लौकिक रूप में जीवरूप है। प्रत्येक जीवात्मा का अपना अन्तःकरण है जो जन्म-जन्मान्तर में उसके साथ रहता है, केवल प्रलयकाल अथवा मोक्षावस्था में ही वह उससे छूटता है। यद्यपि ब्रह्म एक है, जीवात्मा अनेक हैं, किन्तु यथार्थ में वे सब ब्रह्म का विवर्त्त हैं। परिवर्त्तनशील नामरूप का जीव के तात्त्विक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अविद्या से उत्पन्न उपाधिमात्र हैं। इस प्रकार लौकिक जीवात्माओं का ब्रह्म से सर्वथा अभेद है।

अगले सूत्र में इसका प्रत्याख्यान किया है।

**मिथो भिन्नौ ब्रह्मजीवौ ।।५।।**

ब्रह्म और जीव एक-दूसरे से भिन्न हैं।

शरीर को जीवात्मा का रथ और स्वयं जीवात्मा को रथी कहा है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि साधनरूप से उसके सहयोगी हैं। जब आत्मा, मन और इन्द्रियाँ सब मिलकर कार्य करते हैं, तब मनुष्य 'भोक्ता' कहाता है।[2] जीवात्मा का वर्णन सर्वत्र भोक्ता के रूप में मिलता है। वैसे ही परमात्मा अभोक्ता होने से जीवात्मा से सर्वथा भिन्न है।

प्रश्नोपनिषद् की छठी कण्डिका में जीवात्मा की सुषुप्ति-अवस्था

१. **परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।**
**स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः ।।**—पंचदशी १०।१

२. **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।**—कठ० ३।४

का वर्णन है। वहाँ बताया है कि उस अवस्था में जीवात्मा ज्योतिः-स्वरूप परमात्मा से सर्वथा अभिभूत रहता है। यह वर्णन सुषुप्ति-अवस्था में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सिद्ध करता प्रतीत होता है। माण्डूक्य० (११) में सुषुप्ति-अवस्था को प्राज्ञस्वरूप माना है। 'प्राज्ञ' पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त है। इसलिए सुषुप्ति में जीवात्मा की ब्रह्म के साथ एकता अथवा एकरूपता की प्रतीति होती है, परन्तु सुषुप्ति में जीवात्मा का ब्रह्म से भेद शास्त्रकारों ने अनेकत्र कथन किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस विषय का काव्यात्मक वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ कहा है—"जैसे अनुकूल भार्या से सम्बद्ध पुरुष को उस अवस्था में बाहर-भीतर का कोई ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही यह पुरुष सुषुप्ति-अवस्था में प्राज्ञ आत्मा के साथ सम्बद्ध हुआ (सम्परिष्वक्तः) किसी अन्य बाह्य या आन्तर विषय को नहीं जानता।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में 'पुरुष' पद जीवात्मा तथा 'प्राज्ञ' पद ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ शारीर आत्मा (जीवात्मा) का प्राज्ञ परमात्मा से भेद सर्वथा स्पष्ट है। सम्बन्ध सदा दो या दो से अधिक वस्तुओं के बीच सम्भव है। एक वस्तु में सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। शंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि सम्बन्ध दो के होने पर होता है।[2] 'बन्ध बन्धने' धातु से निष्पन्न होने से 'सम्बन्ध' शब्द स्वयं कम-से-कम दो वस्तुओं की सत्ता की घोषणा कर रहा है। बृहद्० के प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सम्परिष्वजन' (सम्बन्ध) का निर्देश किये जाने से प्राज्ञ (परमात्मा) तथा पुरुष (जीवात्मा) का भिन्न होना सर्वथा स्पष्ट है। फिर, ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसका नित्य प्रज्ञा से वियोग किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं, किन्तु यहाँ पुरुष के बाहर-भीतर से अनभिज्ञ होने की बात कही गई है और यह अवस्था भी सुषुप्ति की नियत अवधि में कही गई है। इसलिए यह वर्णन उस अवस्था में जीवात्मा की पृथक् स्थिति अथवा भिन्न सत्ता का निर्देश करता है।

जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं—"ईश्वर भी शरीर में है, यह ठीक है; परन्तु शरीर में ही है, ऐसा नहीं (अर्थात्

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् ॥

—बृ० ४।३।२१

२. शां० भा० २।२।१७

शरीर से बाहर भी है) किन्तु जीव तो शरीर में ही है। ईश्वर की भाँति शरीर से बाहर उसकी वृत्ति नहीं जाती। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है।"[1]

वरुण राजा (परमेश्वर) की गुप्तविज्ञता तथा सर्वव्यापकता को दर्शाने के लिए अथर्ववेद में कहा है—"जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन दोनों के बीच तीसरा वरुण उनकी बातों को जान लेता है।"[2] इस मन्त्र में जीवात्माओं के अनेक होने और उनके समस्त कर्मों को जाननेवाले उन सबसे भिन्न परमात्मा का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसी भाव की पुष्टि करते हुए, न्यायाधीश के सामने साक्षी देनेवाले व्यक्ति को सच बोलने की प्रेरणा करते हुए मनुस्मृति में कहा है—"हे भले मानस ! यदि तू यह समझता है कि तू अकेला है और तेरे किये कर्म को देखने या जाननेवाला कोई नहीं है, तो तू भूल कर रहा है। बुरे-भले को देखनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। वह तेरे समस्त मनोभावों को जानता है। इसलिए उसके विपरीत कुछ मत कहना।"[3] न्यायाधीश के सामने साक्षी देनेवाला निश्चय ही जीवात्मा है। भगवान् मनु स्पष्ट कह रहे हैं कि साक्षी के हृदय-प्रदेश में स्थित जीवात्मा से अतिरिक्त उसके पाप-पुण्य का द्रष्टा सर्वज्ञ परमात्मा है। आप्तवचन की दृष्टि से मनु का कथन सर्वोपरि है। उपर्युक्त श्लोक के अनुसार मनु को जीव-ब्रह्म का भेद अभिमत है।

जीव-ब्रह्म के अभेद के पक्ष में एक तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं—

**ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात् ॥६॥**

चेतन होने से (जीव) ब्रह्म से अभिन्न है।

समानधर्मी (दोनों चेतन) होने से जीव और ब्रह्म एक हैं। ब्रह्म के

---

१. नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्। —शां० भा० १।२।३

२. यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥—अथर्व० ४।१६।२

३. एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे। नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥—मनु० ८।९१

सत्, चित् और आनन्द तथा जीव के अस्ति, भाति और प्रिय रूप से दोनों में अभेद है। किन्तु चेतन होनेमात्र से जीव और ब्रह्म में तादात्म्य नहीं हो सकता—इसका विवेचन अगले दो सूत्रों में किया है।

**न किञ्चित्साधर्म्येणैकात्म्यम् ।।७।।**

किञ्चित् साधर्म्य से ऐकात्म्य नहीं होता।

निश्चलदास ने 'वृत्तिप्रभाकर' (२-६) में यही लिखकर अद्वैतवाद की स्थापना करने का यत्न किया है। आचार्य शंकर कहते हैं कि ईश्वर और जगत् में सत्ता का सामान्य लक्षण है, अतः दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं और यदि ईश्वर के अन्दर कुछ अतिशय है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि कारण में ऐसी विशेषता सर्वत्र पाई जाती है।[1] किन्तु किंचित् साधर्म्य से दो पदार्थों में तादात्म्य नहीं हो सकता। सत्ता सामान्य धर्म होने पर भी सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृत पदार्थ एकरूप नहीं हैं। ऐसे ही चैतन्य सामान्य धर्म होने पर जीवात्मा का ब्रह्म से तादात्म्य सिद्ध नहीं होता। किसी एक धर्म के समान होने अर्थात् थोड़ी-सी समानता पाये जाने से पदार्थों में अभिन्नता नहीं होती। पृथिवी और जल दोनों जड़ भी हैं और दृश्य भी, किन्तु इन गुणों की समानता होने पर भी वे एक नहीं माने जा सकते। अनेक प्रकार के हीरे और मणियाँ, पत्थर और कोयला आदि सब पृथिवी में पाये जाते हैं। इन सबमें पार्थिव धर्म समान है, फिर भी वे एक नहीं हैं। न पत्थर हीरा बन सकता है और न कोयले के बदले कोई हीरा दे सकता है। मनुष्य और चींटी दोनों पैरों से चलते और मुँह से खाते हैं, फिर भी मनुष्य को चींटी और चींटी को मनुष्य नहीं माना जा सकता। नमक और चीनी में सफ़ेदी का सामान्य गुण होने पर भी दूध में चीनी की जगह नमक नहीं डाला जा सकता। इसी प्रकार चैतन्य धर्म समान होने पर भी जीवात्मा का ब्रह्मरूप उपपन्न नहीं होता। दोनों के चेतन (ज्ञ) होने पर भी एक के साथ 'अल्प' और दूसरे के साथ 'सर्व' सदा लगा रहेगा। दोनों के निराकार होने पर भी एक सदा 'अकाय' और दूसरा मोक्षावस्था को छोड़कर सदा 'सकाय' रहेगा। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के चैतन्य अथवा कुछ अन्य गुणों में समान होने पर भी वे दोनों एक नहीं हो सकते। जीवात्मा कितना भी प्रयत्न

---

१. शां० भा० २।१।६

करे, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वान्तर्यामी, जगत्स्रष्टा आदि नहीं हो सकता। शंकर तो कारण और कार्य में अनन्यत्व मानते हैं। तब कार्य की अपेक्षा कारण में किसी विशेषता (अतिशय) होने अथवा कारण और कार्य में किंचित् भी भेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**वैधर्म्येण पार्थक्यात् ॥८॥**

वैधर्म्य से पार्थक्य या भेद होता है।

वैधर्म्य—भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों का होना एकता में बाधक है। पृथिवी और जल में जड़त्व गुण समान होने पर भी पृथिवी में कठिनत्व एवं गन्धत्व तथा जल में द्रवत्व एवं रसत्व आदि की भिन्नता के कारण वे एक नहीं माने जा सकते। मनुष्य और चींटी में पैरों से चलने और मुँह से खाने की समानता होने पर भी आकृति, आकार, पैरों की संख्या तथा देह, मुँह आदि के परिमाण आदि में भेद होने के कारण भिन्न ही माने जाएँगे। चीनी और नमक के रंग में समानता होने पर भी चीनी की मिठास और नमक का खारापन चीनी की जगह नमक से काम लिये जाने में बाधक होगा। इसी प्रकार दोनों के चेतन होने पर भी परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, बल, क्रिया, आनन्द तथा निर्भ्रान्तित्व जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, भ्रान्तित्व आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। जीवात्मा परिच्छिन्न अर्थात् अणु-परिमाण है, जबकि परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक-सर्वान्तर्यामी है। जीव एकदेशी= अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वदेशी=सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है और जीव शुद्ध, चेतन, अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म के सर्वज्ञ-सर्वव्यापक होने से वह कभी भ्रम या अविद्या से ग्रस्त नहीं होता, जबकि जीव कभी ज्ञानी और कभी अज्ञानी होता है। जीव कर्मफल भोगने के लिए बार-बार शरीर धारण करता है, जबकि ब्रह्म जन्म-मरण के बन्धन में न पड़ने के कारण क्षुधा-तृषा-रोग-भय आदि से सदा मुक्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् में अक्षर (प्रकृति) उपादान से जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि "ब्रह्म अपने प्रकाशमय स्वरूप में सदा अवस्थित रहता है (दिव्य), कभी किसी मूर्ति या आकार को धारण नहीं करता (अमूर्त्त), अन्दर और बाहर समस्त विश्व में व्याप्त है (बाह्याभ्यन्तर), जो स्वरूप या उपाधि द्वारा कभी जन्म नहीं लेता (अज), देहादि बन्धन में नहीं आता—इस कारण प्राण तथा मन एवं इन्द्रियरहित है

(अप्राण-अमना) तथा सर्वात्मना शुद्ध एवं क्लेश, कर्म, विपाक आदि से सर्वथा अछूता है।[1] दिव्य, अमूर्त्त आदि विशेषणों द्वारा जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है वह इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, क्लेश-कर्मादि से अभिभूत जीवात्मा कैसे हो सकता है? वेदान्तदर्शन (१।२।२२) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् से प्रस्तुत मन्त्र को उद्धृत करके कहते हैं कि "इस मन्त्र में दिये हुए 'दिव्य' आदि विशेषण जीवात्मा के नहीं हो सकते।" यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु तभी उन्हें अपने अद्वैतभाव का स्मरण हो आया और तत्काल कह डाला—"जीवात्मा अविद्या के कारण अपने-आपको नामरूपवाला समझता है।"[2] शंकर की यह अपनी कल्पना है, क्योंकि न मन्त्र में इस बात का कोई संकेत है और न पूर्वापर प्रसंग में।

कठोपनिषद् में कहा है कि जैसे सूर्य सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्य दोषों से दूषित नहीं होता, वैसे ही परमात्मा समस्त प्राणियों के भीतर रहता हुआ भी उनके दुःख से दुःखी नहीं होता।[3] स्पष्ट है कि जहाँ जीवात्मा संसार में लिप्त रहकर भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्मों को करता और उनके फलों को भोगता है, वहाँ परमात्मा उनका अन्तरात्मा रहता हुआ भी उनके दोषों से लिप्त नहीं होता। उपनिषदों में अनेकत्र ब्रह्म के आनन्दस्वरूप होने का कथन किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली में परमात्मा का जीवात्मा से भेद दर्शाते हुए कहा है—"उस विज्ञानमय (जीवात्मा) से अन्य अन्तरात्मा आनन्दमय है।"[4] जीवात्मा का लक्ष्य आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है। उसी को पाने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है और जब उसे पा लेता है तो वह भी आनन्द से भर जाता है।[5]

जीवात्मा में आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा प्रत्यक्ष देखी जाती है। कामना सदा अप्राप्त वस्तु की होती है। यदि परमात्मा की भाँति

---

१. दिव्योऽह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो अजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥—मुण्डक० २।१।२

२. न ह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते।—शां० भा० १।२।२२

३. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥—कठ० २।२।११

४. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।—तै० २।५

५. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।—तै० २।७

जीवात्मा भी स्वरूपतः आनन्दमय हो तो वह उसे पाने की चेष्टा क्यों करे ? वस्तुतः उस आनन्दमय को पाकर जीवात्मा की समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। जो व्यक्ति गुहा (मस्तिष्क हृदय) में बैठे उस ब्रह्म को जान लेता है वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।[1] इसके विपरीत ब्रह्म को शास्त्र ने 'अकाम' और 'रस से भरपूर' बताया है।[2] तब आनन्दप्राप्ति की कामना से अभिभूत जीवात्मा का स्वतः आनन्दस्वरूप परमात्मा से तादात्म्य कैसे सम्भव है ?

जीवात्मा और परमात्मा में अभेद या तादात्म्य नहीं हो सकता— यह सिद्ध करने के लिए कतिपय युक्तियाँ अगले सूत्रों में दी गई हैं।

**सापेक्षत्वात् ॥९॥**

सापेक्षता के कारण [जीव और ब्रह्म एक नहीं हो सकते]।

पूर्व के बिना पश्चिम की, दूरी के बिना सामीप्य की, सुख के बिना दुःख की, हानि के बिना लाभ की, जीवन के बिना मृत्यु की, सरदी के बिना गरमी की, छोटे के बिना बड़े की और ऐसे ही शिष्यों के बिना गुरु की, अध्येताओं के बिना अध्यापक की, श्रोताओं के बिना वक्ता आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। इन सबका अस्तित्व एक दूसरे की अपेक्षा से है। सर्वज्ञत्वादि सापेक्ष गुण हैं। यदि कोई ऐसी सत्ता है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अनन्त है तो उससे भिन्न (क्योंकि परस्पर-विरोधी गुण एक अधिकरण में नहीं रह सकते) कोई ऐसी सत्ता भी होनी चाहिए जो अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा एकदेशी हो। यदि परमात्मा सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्म' है तो कोई उससे छोटा भी अवश्य होगा। वस्तुतः एकदेशी के बिना सर्वदेशी अथवा सर्वव्यापक की, अल्पज्ञ के बिना सर्वज्ञ की, अल्पशक्ति के बिना सर्वशक्ति की, मूर्त्त के बिना अमूर्त्त की, बद्ध के बिना मुक्त की, अणुपरिमाण या परिच्छिन्न के बिना महत्परिमाण या विभु की, प्रजा के बिना प्रजापति की, कर्मों के बिना कर्माध्यक्ष की, ज्ञाता के बिना ज्ञेय की और इसी प्रकार आत्मा के बिना परमात्मा की अथवा जीव के बिना ब्रह्म की कल्पना नहीं की जा सकती।

अपने स्वरूप अथवा स्वभाव को कोई छोड़ नहीं सकता। जीवात्मा स्वरूप से अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति है। इसलिए वह चाहे जबतक और चाहे जितना अपना ज्ञान तथा सामर्थ्य बढ़ाता जाए, उसका ज्ञान सदा

१. **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान्।**
२. **अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः॥**—अथर्व १०।८।४४

परिमित और सामर्थ्य सीमित रहेगा। अपने सीमित साधनों के बल पर वह चाहे जितना पुरुषार्थ करे, परमेश्वर के समान सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् नहीं बन सकता। योगाभ्यास के द्वारा जीव ब्रह्म को जानकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह भी सत्य है कि ब्रह्म को जानने के बाद जानने को कुछ नहीं रह जाता। इतने पर भी जीव 'सर्ववित्' एवं 'सर्वकर्त्ता' नहीं हो सकता। वह **'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्र० १-१-२) के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण नहीं हो सकता। जहाँ अल्पज्ञता है, वहाँ अज्ञान है और अज्ञान अथवा अविद्या के कारण ही जीवात्मा अपवित्र में पवित्रता की, दुःख में सुख की, अनित्य में नित्य की और अनात्म में आत्मतत्त्व की ख्याति के कारण जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा हुआ उससे छूटने का प्रयत्न करता रहता है। इसके विपरीत परमात्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है।

सन्त तुकाराम ने लिखा है—'अन्धकार के कारण प्रकाश का महत्त्व है, विष के कारण अमृत का महत्त्व है, पीतल की अपेक्षा से स्वर्ण मूल्यवान् है, रोगों के कारण धन्वन्तरि का महत्त्व है। तुकाराम का कहना है कि—"हे परमात्मदेव ! तुम यह समझ लो कि हम आत्माएँ हैं, इसीलिए तुम परमात्मा कहाते हो। यदि हम (जीवात्माएँ) न होतीं तो तुम्हें कौन पूछता ?"'[1]

**व्याप्यव्यापकसम्बन्धात् ॥१०॥**

व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होने से [जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं]।

व्याप्य के बिना व्यापक की और व्यापक के बिना व्याप्य की कल्पना नहीं की जा सकती। व्याप्य एकदेशी है और व्यापक सर्वदेशी। इस भेद के कारण व्याप्य जीव और व्यापक ब्रह्म एक नहीं हो सकते। लोहे के गोले में अग्नि होते हुए और गोले के अग्निसदृश दीखने पर भी लोहे का गोला और अग्नि एक नहीं है। समान आकारवाले दो पदार्थों

---

१. **अंधारे दीपका आणियेली छोभा।**
**अमृता सी मोल विषाचिया गुणें।**
**पितले तरी सोने उंचनिच।**
**धन्वन्तरी रोगे आणिला उजेड़ा।**
**तुका ह्मणे आम्ही असोनिया जाण।**
**तुज देवपण आणियेले।**
**आम्ही नाहीं तरी तुज कोण हे पुसले॥**—तुकाराम यां चे अभङ्ग

में व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध सम्भव नहीं। अग्नि लोहे से सूक्ष्म है, इसलिए वह लोहे में रह सकती है। जीव परमेश्वर की अपेक्षा स्थूल और परमेश्वर जीव की अपेक्षा सूक्ष्म होने से जीव व्याप्य और परमेश्वर व्यापक है। वस्तुतः परमेश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से चराचर जगत् के कण-कण में ओत-प्रोत है। आकाश सबमें व्यापक है, किन्तु उसके व्याप्य घटपटादि एकदेशी हैं। इसलिए जैसे आकाश अदृश्य-अस्पर्श्य है, वैसे घटपटादि अदृश्य-अस्पर्श्य नहीं। इसी प्रकार चेतन परमेश्वर के सबमें व्याप्त होने से सब चेतन नहीं है।

**उपास्योपासकभेदात् ॥११॥**

उपास्य और उपासक में भेद होने से (जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं)।

उपासना करनेवाले व्यक्ति (आराधक) और उपास्य विषय (आराध्य) के बीच जो सम्बन्ध है वह इस बात का संकेत करता है कि दोनों में भेद है। भक्ति परमात्मा में आस्था और प्रेम का नाम है। नारद ने उसे 'परमप्रेमरूपा' कहा है। शाण्डिल्य के अनुसार परमेश्वर के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा भक्ति है।[1] योगशास्त्र में उसे ईश्वरप्रणिधान के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार उपासक और उपास्य में द्वैत अनिवार्य है। वस्तुतः ईश्वर के प्रति आस्था और मुक्ति के लिए तीन का होना आवश्यक है— जीवात्मा जो मुक्त होना चाहता है, प्रकृति का बन्धन जिससे उसे मुक्त होना है और परब्रह्म जिसने उसे बन्धन से मुक्त करना है। इसलिए अद्वैत का प्रतिपादन करनेवालों को भी स्वीकार करना पड़ा कि "यथार्थ में अद्वैत होते हुए भी भक्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है।"[2] यह भी कहा जाता है कि "ज्ञानप्राप्ति से पूर्व द्वैत मोह का कारण है, किन्तु बोध हो जाने पर पता चलता है कि अद्वैत से द्वैत कहीं अधिक सुन्दर है और भक्ति के लिए अनिवार्य है।"[3] जीवात्मा और परमात्मा में अभेद अर्थात् अनन्यत्व होने पर 'भक्ति' शब्द ही निरर्थक हो जाता है। एक ही व्यक्ति उपासक और उपास्य दोनों कैसे हो सकता है? कौन किसकी उपासना करेगा? स्वयं अपनी स्तुति या

---

१. **सा परानुरक्तिरीश्वरे।**
२. **पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।**
३. **द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग्जाते बोधे मनीषया।**
**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्॥**

उपासना करना अथवा ब्रह्म का ब्रह्म की उपासना करना सर्वथा हास्यास्पद है। यदि मैं स्वयं ब्रह्म हूँ जो अविद्योपाधि के कारण बन्धन में आ गया हूँ तो उससे छुटकारा पाने के लिए किसके पास जाऊँ, क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कोई है ही नहीं। ज्ञानमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य भक्ति की आवश्यकता तथा उपादेयता का निषेध नहीं कर सके। ईशोपनिषद् (१५) के भाष्य में 'सत्यधर्माय' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा—"तुझ सत्यस्वरूप की उपासना से मैं सत्यनिष्ठ हो गया हूँ।"[१]

वस्तुतः दो के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए उपासक जीव और उपास्य ब्रह्म दोनों को भिन्न तथा नित्य मानना आवश्यक है। जब तक उपासक को अपनी तुच्छता की तथा अपने उपास्य की महानता की अनुभूति न हो, तबतक भक्तिभावना जाग्रत् नहीं हो सकती। मध्व के मत में परमेश्वर के प्रति प्रेम का अनवरत प्रवाह भक्ति है। यह समस्त पदार्थों से चित्त को हटाकर निरन्तर ईश्वर के चिन्तन में प्रवृत्त रहना है।[२] मध्व ने यहाँ प्रकारान्तर से तीनों सत्ताओं को स्पष्ट स्वीकार किया है—चिन्तक या उपासक (जीव), चिन्तन का विषय (ब्रह्म) और इतर समस्त पदार्थ (प्रकृति)। छान्दोग्य के प्रसिद्ध सन्दर्भ **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (३।१४।१) का विवेचन पहले किया जा चुका है। इसी मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि मनुष्य कर्ममय अर्थात् वासनामय है। जैसा वह विचार करता है वैसा बन जाता है और जैसी वासना इस लोक में होती है वैसी ही यहाँ से मरकर होती है अर्थात् जिस प्रकार के कर्म मनुष्य इस लोक में करता है, मरने के पश्चात् उसे तदनुसार ही योनि प्राप्त होती है।[३] निश्चय ही ये सब बातें जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में पड़े हुए जीव को लक्ष्य करके कही गई हैं, अभोक्ता ब्रह्म को नहीं। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'** में 'उपासीत' क्रिया का

---

१. **सत्यधर्माय तव सत्यस्यापासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्।** —ईश० शां० भा० १५

२. **ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः।** —मध्वसिद्धान्तसार ५।२

३. **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति।** —छां० ३।१४।१

कर्म 'ब्रह्म' होने से वही उपास्य है। इसी प्रकार 'उपासीत' क्रिया का कर्त्ता 'शान्त' उपासक जीवात्मा है। प्रकरणान्तर्गत चौथे मन्त्र में कहा गया है—'मेरे हृदय के भीतर जो यह आत्मा विराजमान है, वह ब्रह्म है, यहाँ से शरीर को त्यागकर मैं उसी ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला हूँ।''[1] कितना स्पष्ट वर्णन है व्याप्य आत्मा में व्यापक ब्रह्म का और प्रापक जीवात्मा के प्राप्य परमात्मा से भिन्न होने का! एक उपासक जीवात्मा अपने हृदय में स्थित उपास्य आत्मा (ब्रह्म) को विराजमान कहता है। स्पष्ट है कि व्याप्य तथा व्यापक और उपास्य तथा उपासक परस्पर भिन्न हैं। 'एतद् ब्रह्म' से यह भी पष्ट है कि हृदय में स्थित उपास्य ब्रह्म है जिसे शरीर-त्याग के अनन्तर प्राप्त करने की उपासक को आशा है। ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला जीवात्मा प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता है और प्राप्त होनेवाला ब्रह्म उसका कर्म है। यदि जीव और ब्रह्म एक होते तो किसी के किसी को प्राप्त होने या करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उपासक या प्रापक स्वयं ही उपास्य या प्रापक नहीं हो सकता। फिर, यहाँ शरीर का त्याग करने के अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कही गई है। शरीर का परित्याग करने और उससे पहले उसे धारण करनेवाला, अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाला तो निश्चय ही जीवात्मा है। **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः'** ईश्वर से उसका तादात्म्य कैसे सम्भव है? यहाँ सर्वत्र अध्यात्म तथा उपासना-प्रसंगों में निश्चित रूप से उपास्य ब्रह्म का उपदेश है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी 'ब्रह्म उपासीत—ब्रह्म की उपासना करे—यह उपक्रम करके ब्रह्म की उपासना का विधान किया है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र (२।१।१) के भाष्य में मनुस्मृति के एक श्लोक के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समस्त विश्व ब्रह्मरूप है और ब्रह्मात्मतत्त्व से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मनु का वह श्लोक इस प्रकार है—

**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥**[2]—मनु० १२।९१

---

१. **एष म आत्माऽन्तर्हृदये एतद् ब्रह्म एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि।** —छां० ३।१४।४

२. तुलना करें—**यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।**
**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥** —ईश० ६

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'आत्मा' पद परमात्मा का तथा उत्तरार्द्ध में जीवात्मा का वाचक है। श्लोक का सीधा अर्थ इस प्रकार है—'सब भूतों में आत्मा (परमात्मा) को और आत्मा (परमात्मा) में सब भूतों को यथार्थरूप में देखनेवाला आत्मयाजी (आत्मा का—अपने-आपका यजन करनेवाला अर्थात् ब्रह्मार्पण-बुद्धि से आत्मज्ञान के लिए सतत प्रयत्नशील जीवात्मा) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।" 'सब भूतों में परमात्मा को और परमात्मा में सब भूतों को' बताना **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (यजु० ४०-५) के भाव की अभिव्यक्ति है। सब भूतों में परमात्मा की स्थिति उसकी अन्तर्यामिता को और परमात्मा में सब भूतों की स्थिति उसकी सर्वाधारता को स्पष्ट करती है। यह सब 'ईशावास्यम्' का व्याख्यान है। अन्दर व्याप्ति की भावना 'वस् निवासे' तथा बाहर से आच्छादित करने की भावना 'वस् आच्छादने' से व्यक्त होती है। अन्तर्यामी होने से परमात्मा सब-कुछ जानता है और सब ओर से आच्छादित करने के कारण जैसे गर्भस्थ शिशु की वैसे सबकी रक्षा करता है। इस प्रकार परमात्मा को सर्वत्र ओतप्रोत जानकर जो आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करता है वह प्रभु की छत्रछाया में पापभावना से निवृत्त हो निर्भीक होकर संसार में विचरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ 'अधिगच्छति' क्रिया का कर्त्ता 'आत्मयाजी' और कर्म 'स्वाराज्य' है। मोक्षप्राप्ति में सचेष्ट होने की बात जीवात्मा के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है, नित्यमुक्त परमात्मा के लिए नहीं है। इस श्लोक में समस्त विश्व के ब्रह्मरूप होने का आभास तक नहीं है। प्रत्युत, इसके विपरीत स्वाराज्य (मोक्ष) की प्राप्ति और आत्मयाजी की तत्सम्बन्धी भावना आत्मयाजी और परमात्मा को परस्पर भिन्न सिद्ध करती है। इस प्रकार यहाँ 'आत्मयाजी'—जीवात्मा उपासक और 'आत्मा' (ब्रह्म) उसका उपास्य एवं प्राप्य है।

अन्यत्र बृहद्० (१।४।७) में **'आत्मेत्येवोपासीत्'** तथा मुण्डक० (२।२।५) में **'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'** इत्यादि शब्दों से केवल (एव) आत्मा—परब्रह्म की उपासना का विधान है। मध्यमपुरुष रूप में निर्दिष्ट उपदेश्य तथा 'उपासीत' एवं 'जानथ' क्रियाओं का कर्त्ता 'जीवात्मा' तथा कर्म 'परमात्मा' होने से उपासक तथा उपास्य का भिन्न होना उपपन्न है। मुण्डक० (३।१।१) में दो चेतन सत्ताओं—भोक्ता

जीवात्मा तथा द्रष्टा परमात्मा का दो पक्षियों के रूप में तथा उनसे भिन्न अचेतन प्रकृति का वृक्ष के रूप में आलंकारिक वर्णन प्रसिद्ध है। वहीं पर दूसरे मुण्डक के दूसरे खण्ड की चौथी कण्डिका में जीवात्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए एक सुन्दर रूपक के द्वारा कहा गया है—"प्रणव (ओङ्कार) रूपी धनुष पर आत्मारूपी बाण को रखकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य की ओर प्रमादरहित होकर छोड़ने से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।"[1] यहाँ भी जीवात्मा को उपासक, ब्रह्म को उपास्य और प्रणव को उपासना का साधन बताया है। इसके अनन्तर छठी और सातवीं कण्डिकाओं में जीवात्मा का स्वरूप वर्णन करके ओंकार की उपासना के द्वारा उसका साक्षात्कार किये जाने का निर्देश है और साक्षात्कार हो जाने पर आनन्दस्वरूप परमात्मा के दर्शन किये जाने का उल्लेख किया गया है। इन वर्णनों से जीवात्मा और परमात्मा की पृथक् सत्ता होना स्पष्ट है।[2]

बृहद्० के तृतीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कुषीतक के पुत्र कहोल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु से परे अन्तर्यामी आत्मा कौन है?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"यह वही आत्मा है जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा से मुक्त होकर उसी की आराधना में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त और दुःख ही है। उसी का साक्षात् करनेवाले ब्राह्मण कहाते हैं।" इस प्रसंग में द्वन्द्वातीत ब्रह्म उपास्य और शोकमोहादि से आवृत्त जीवात्मा उपासक है। दोनों का परस्पर भिन्न रूप में स्पष्ट कथन है। प्रसंगवश 'इसके अतिरिक्त और दुःख है' कहकर चेतन ब्रह्म तथा जीव दोनों से भिन्न दुःखरूप तीसरे तत्त्व-जगत् के मूल उपादानतत्त्व प्रकृति का भी उल्लेख हो गया है।

१. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥—मु० २।२।४

२. अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः,
स एषोऽन्तरश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥—मु० २।२।६-७

**उपकार्योपकारकभावात् ॥१२॥**

उपकार्य तथा उपकारक में भेद होने से (जीव-ब्रह्म एक नहीं हैं)।

परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने की अभिलाषा और चेष्टा में मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और, जैसा वह न है और न कभी हो सकेगा, वैसा अपने-आपको बनाने या बताने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह परमात्मा के सिंहासन पर अपना पूर्ण अधिकार जमाना चाहता है और, यदि यह सम्भव न हो सके तो, कम-से-कम उसमें अपने-आपको भागीदार बनाना चाहता है। इस महत्त्व-आकांक्षा के चक्रवात में पड़कर हम वह सब भूल जाना चाहते हैं जो परमात्मा ने हमारे लिए किया है। उसने जो कुछ किया है, हमारे लिए किया है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पशु, पक्षी, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि जो कुछ भी जगत् में विद्यमान है, वह सब हमारे लिए है। यह कहना कृतघ्नता होगी कि परमात्मा ने यह सब अपने ऐश्वर्य तथा सामर्थ्य के प्रदर्शन के लिए किया है। जिस ज्योतिःस्वरूप से प्रकाश पाकर सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि और विद्युत् आदि स्वयं प्रकाशित होते हैं उसके ऐश्वर्य को यह सब मिलकर भी क्या बढ़ा पाएँगे?[1]

यदि हम जीवात्मा न होते तो उसे सृष्टि रचने की क्या आवश्यकता थी? हम भूखे न रहें, इसलिए, जैसे हमारी माता हमारे लिए भोजन बनाती है, वैसे ही जगज्जननी ने हमारे भोग के लिए समस्त पदार्थों की सृष्टि की। मात्र परोपकार की भावना से उसने हमारे लिए यह सब किया है। हम उसे माता, माता, बन्धु, मित्र आदि नामों से पुकारते हैं, किन्तु यह सब कहकर भी हम केवल अपनी भावना को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। उसके महान् उपकारों को पूरी तरह व्यक्त करने के लिए हमारी भाषा में शब्द नहीं हैं। उपकारक परमात्मा और उपकार्य जीवात्मा न एक हैं, न हो सकते हैं।

**कर्मफलापत्तेः ॥१३॥**

कर्मफल की प्राप्ति होने से [जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं]।

---

१. **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**
—कठ० २।५

यद्यपि सर्वगत होने से ब्रह्म जीवात्मा में रहता है और ब्रह्म के सर्व-व्यापक होने से जीवात्मा ब्रह्म के अन्तर्गत है,[1] तो भी जीव के दोषों के कारण ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता। एक ही वृक्ष पर रहनेवाले दो पक्षियों (ऋ० १।१६४।२०) की तरह जीवात्मा तथा परमात्मा के एक ही हृदयदेश में निवास करने पर भी, जीवात्मा सुख-दुःखादि का भोग करता है, परन्तु ब्रह्म उस भोग से सदा अलिप्त रहता है। कारण यह है कि दोनों स्वरूपतः परस्पर भिन्न हैं। बादरायण का स्पष्ट मत है—"यदि ऐसा कहो कि (जीवात्मा के समान ब्रह्म को भी) सम्भोग की प्राप्ति होनी चाहिए तो ऐसा नहीं होगा, क्योंकि दोनों में विशेष—अत्यन्त भेद है।[2] इस सूत्र के भाष्य में जीवात्मा और परमात्मा में भेद दर्शाते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—"एक (जीवात्मा) कर्त्ता, भोक्ता है, धर्म-अधर्मरूप कर्मों को करता और उनके सुख-दुःखरूप फलों को भोगता है। इसके विपरीत दूसरा (ब्रह्म) अपहतपाप्मा व पूर्णकाम है। इस भेद के कारण एक कर्मफलों को भोगता है, दूसरा नहीं।"[3] जब जीवात्मा कामना के वशीभूत होकर दुःख भोगता है तो ब्रह्म दुःख का भागीदार नहीं होता। भोग अपने किये धर्माधर्मरूप कर्मों का परिणाम है। शरीरधारी जीवात्मा कर्म करता तथा पाप-पुण्य का संचय करता है। इसलिए वही सुख-दुःख में लिप्त होता है। सर्वोपरि ब्रह्म जीवात्मा के समान धर्माधर्म का अनुष्ठान न करने के कारण क्लेशकर्म तथा उनके परिणामों से अछूता रहता है। इसलिए पाप से परे होने के कारण उसे दुःख भोगना नहीं पड़ता।

जब आचार्य शंकर की लेखनी से सत्यार्थ अनायास प्रकट हो गया तो उन्हें अद्वैत की बात स्मरण हो आई और तब सूत्रार्थ में अपनी मान्यता को बलात् आरोपित करके कह डाला कि "जीव और ब्रह्म

---

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानम्।
—यजु० ४०।६;

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।—तैत्ति० २।६

अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे करवाणि।—छां० ६।३।२

२. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्।—वे० द० १।२।८

३. एकः कर्त्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुख-दुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।
—शां० भा० १।२।८

को एक मानने पर भी जीव के भोक्ता होने से ब्रह्म भोक्ता नहीं हो जाता, क्योंकि जीवात्मा को भोग मिथ्याज्ञान के कारण होता है और ब्रह्म को मिथ्याज्ञान न होने के कारण भोग की प्राप्ति नहीं होती।"[1] परन्तु सूत्र में अथवा उसके पूर्वापर प्रसंग में कहीं भी मिथ्याज्ञान होने न होने का संकेत तक नहीं है। वस्तुतः सृष्टि की रचना ही जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग के लिए हुई है। अपवर्ग को सत्य मानकर भोग को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। सुख-दुःख देहादि-सम्बन्ध का परिणाम है। यदि जीवात्मा के समान ब्रह्म का सम्बन्ध होता तो वह निश्चय ही कर्मानुष्ठान तथा तदनुसार फलभोग के लिए विवश होता। किन्तु वह तो स्वरूपतः अजन्मा एवं कायादि से रहित होने के कारण कभी भी देहादि के बन्धन में नहीं आता। इस वैशेष्य के कारण ही उसे भोग की प्राप्ति नहीं होती। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह भी मान लिया जाए कि जीवात्मा को मिथ्या ज्ञान के कारण भोग होता है और ब्रह्म को मिथ्या ज्ञान न होने के कारण भोग नहीं होता तो भी ज्ञान (मिथ्या-ज्ञान-यथार्थज्ञान) के आधार पर द्वैत की प्राप्ति होने से दोनों में भेद सिद्ध होता है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—"दो समान चेतन तत्त्व एक प्रकृतिरूप वृक्ष से सम्बद्ध है (समष्टि रूप में वृक्ष प्रकृति है, व्यष्टिरूप में उसी का प्रतीक शरीर है)। इसमें बैठा जीवात्मा असामर्थ्य के कारण सन्तप्त रहता है, क्योंकि वह अज्ञान से अभिभूत होकर उसके फल खाने में व्यस्त रहता है। जब वह भोगों से पृथक् होकर साक्षीमात्र रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परमात्मा को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तो दुःख-शोक आदि से मुक्त हो जाता है।[2] यहाँ 'पश्यति' क्रिया का कर्त्ता 'पुरुष' तथा कर्म 'अन्यमीशम्' है। इस प्रकार जीवात्मा के ज्ञाता तथा परमात्मा के ज्ञेय कथन किये जाने से भी जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

जीव तथा ब्रह्म का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने

---

१. नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः। मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः।

—शां० भा० १।२।८

२. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥—मु० ३।१।२

से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उसके फलोपभोग की व्यवस्था सम्भव न होगी। समस्त जीवात्माओं के ब्रह्मरूप होने से समस्त कर्मों का भोग समान रूप से ब्रह्म को ही प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य होगा। कर्मफलभोग की व्यवस्था जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने पर ही सम्भव है।

कुछ लोगों का कहना है कि "हम तो मात्र एक यन्त्र हैं, यन्त्री अर्थात् यन्त्र से काम लेनेवाला तो परमात्मा है। जैसे कठपुतली का तार दूसरे के हाथ में होता है—उसी के तार हिलाने से कठपुतली नाचती है, इसी प्रकार हमारी डोर तो भगवान् के हाथों में है, जैसे वह नचाता है वैसे ही हम नाचते हैं। इसलिए अपने किसी भी कर्म के लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं।"[1] इस नियतिवाद की धारणा ने बड़े-बड़े विद्वानों को भ्रमित कर दिया। अरविन्द घोष जैसे ऋषिकल्प विद्वान् भी लिख बैठे—"तुम पहले अपने-आपको परमात्मा का हथियार समझो। तलवार यह नहीं पूछती कि मुझे किसको मारना है। तीर यह जानना नहीं चाहता कि मुझे किसकी छाती में जाकर लगना है। यह निश्चय करना तलवार चलानेवाले या तीर फेंकनेवाले का काम है। तुम अपने-आपको आँधी में उड़नेवाला पत्ता समझो, लड़नेवाले के हाथ में पकड़ी तलवार या तीर समझो।"[2]

जीव की कर्म करने की स्वतन्त्रता का निषेध होने पर उसे कर्म-फल भोगने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। कर्त्ता ही भोक्ता है, यह न्यायसंगत है। यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं होगा तो उसमें भोक्तृत्व भी नहीं होगा। कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर यदि जीव परमात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छानुसार करने को बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा, जीवात्मा नहीं। 'मेरे भीतर बैठी कोई

---

१. **यन्त्रोऽहं यावद् यन्त्री मम दोषो न विद्यते।**

२. Learn thou first to be the instrument of God. The sword does not choose where it shall strike; the arrow does not ask whither it shall be driven. Be as a leaf in the tempest; put thyself in His hand and be as the sword that strikes and the arrow that leaps to its target.

—Aurobindo's Essay on 'The Superman.

शक्ति मुझसे जो चाहती है, कराती है[1] के सिद्धान्त को स्वीकार करके यदि यह मान लिया जाए कि अपराध करने या न करने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, अपितु जैसा परमात्मा चाहता है वैसा उसे करना पड़ता है, तो किसी भी मनुष्य को किसी अपराध के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता। किसी की हत्या हो जाने पर हत्या करनेवाले मनुष्य को फाँसी लगती है, हत्या में साधनभूत शस्त्र को नहीं। शासन के आदेश से अपराधी को फाँसी देनेवाले जल्लाद को कभी हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** इत्यादि वचन इस बात की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और उत्तरदायी वही होता है जो **'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्'**—करने, न करने या उल्टा-सीधा कुछ भी करने में समर्थ हो। स्वतन्त्र वह होता है जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन हों। परमात्मा की सत्ता में विश्वास रखनेवाले सभी लोगों की यह मान्यता है कि जीवात्मा को उसके शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला परमात्मा है। यदि यह मान लिया जाए कि संसार का समस्त व्यापार परमात्मा की इच्छा से होता है और मनुष्य जो कुछ करता है उसी की प्रेरणा से करता है तो इसका अर्थ होगा कि पहले पाप करानेवाला और फिर उसके कारण दण्ड देनेवाला परमात्मा ही है। ऐसा परमात्मा न केवल अन्यायकारी, अपितु निर्दयी भी सिद्ध होगा।

यदि समस्त जीव ब्रह्मरूप हैं तो क्या कारण है कि मनुष्यों की भाँति पशुओं को उनके अपराधों के लिए न्याय-व्यवस्था के अनुसार दण्डित नहीं किया जाता? हम जानते हैं कि पशु जो भी करता है, अपनी नैसर्गिक वृत्तियों के अनुसार करता है। वह हल में या तेली के कोल्हू में जुते बैलों की तरह दास्यभाव से चलते रहने के लिए विवश है। उसकी बुद्धि कर्मानुसारिणी है, परन्तु मनुष्य में विवेकबुद्धि है जिसके कारण वह किसी कार्य को करने से पूर्व उसके पक्ष-विपक्ष में सम्भावित परिणामों पर विचार करके उसे करने, न करने या अन्यथा करने में स्वतन्त्र है। यदि जीवात्मा परमात्मा के हाथ की कठपुतली है और जैसे वह चाहता है वैसे ही उसे नाचना पड़ता है, तब तो मनुष्य की

१. केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

वही दशा होगी जो नदी के प्रवाह में बहती लकड़ी की अथवा हवा में उड़ते तिनके की होती है। प्रवाह उसे जिधर खींच ले जाएगा, उसे चुपचाप उधर ही चले जाना होगा। फिर मनुष्य में और मनुष्य द्वारा संचालित मशीन में क्या अन्तर रहेगा!

फिर भी, जैसे सर्वशक्तिमान् होते हुए भी परमात्मा, जो चाहे और जैसा चाहे, नहीं कर सकता, वैसे ही अपने सामर्थ्य के अनुरूप हमारी स्वतन्त्रता की भी सीमाएँ हैं। कुछ काम हम अपनी इच्छानुसार आसानी से कर सकते हैं। कुछ काम ऐसे भी हैं जो हम कर सकते हैं, किन्तु आसानी से नहीं और कुछ काम ऐसे भी हैं जिन्हें करना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। मुसलमानों के चौथे ख़लीफ़ा अली ने इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। एक व्यक्ति ने अली के पास आकर इस विषय में जिज्ञासा की। अली ने उसे अपना एक पैर उठाने के लिए कहा। वह व्यक्ति अपना दायाँ पैर उठाकर खड़ा हो गया। तब अली ने उसे बायाँ पैर उठाने को कहा। यह असम्भव था। तब अली ने उसे समझाया। पहले वह अपना कोई-सा पैर उठाने के लिए स्वतन्त्र था, किन्तु एक बार एक पैर उठा लेने के बाद वह दूसरा पैर नहीं उठा सका। निस्सन्देह हम स्वतन्त्र हैं, तथापि हमारी स्वतन्त्रता की सीमाएँ हैं।

यह कहा जा सकता है कि यतः ईश्वर विश्वनियन्ता है और समस्त चराचर जगत् का संचालन उसके हाथों में है, अतः मनुष्यादि प्राणी भी जो कुछ करते हैं, उसी के आदेशानुसार करते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन व उनका नियन्त्रण करता है।[1] यजुर्वेद में और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमेश्वर हमें श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त करे।[2] माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि आत्मा से भिन्न (परमात्मा) आत्मा में रहता हुआ आत्मा का नियन्त्रण करता है।[3] इसी प्रकार श्वेत० में बताया है—"धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो।"[4] इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि समस्त प्राणियों

१. य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः।—ऋ० १०।१२१।३
२. सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।—यजु० १।१
३. य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तर आत्मानमन्तरो यमयति।
—शत० १४।६।७।३०
४. धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम।—श्वेत० ६।६

का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवों की पुण्य में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है। किन्तु जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य-विषयक आधारभूत सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में इन उद्धरणों पर विचार करने से पता लगता है कि ये सब वचन मात्र प्रेरणामूलक हैं। इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती। प्रेरयिता से प्रेरणा पाकर भी कर्त्ता की स्वतन्त्रता में व्याघात नहीं आता। प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता। कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में करने-वाला स्वतन्त्र है। जीवात्मा ईश्वर के हाथों की कठपुतली नहीं है। परमेश्वर जीवों को सदसत्कर्म का निर्देश कर सकता है, उन्हें कुछ करने या न करने के लिए विवश नहीं कर सकता।[1] फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में ईश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी उसका कर्त्तव्य निर्बाध बना रहता है।

वस्तुतः परमेश्वर सर्वोपरि राजा होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं हैं। 'विधाता'[2] होने के कारण वह विधान के अन्तर्गत ही प्रभुसत्ता-सम्पन्न है। वह सृष्टि का संचालन तथा नियमन करता है, किन्तु मन-माने ढंग से न करके नियमों के अनुसार करता है। न स्वयं नियमों का उल्लंघन करता है और न दूसरों द्वारा किया जाना सहन करता है। गीता के १८वें अध्याय के ६०वें श्लोक में **'कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्-करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** शब्दों को लेकर यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि इच्छा न होते हुए भी मनुष्य को विवश होकर कर्म-विशेष में प्रवृत्त होना पड़ता है। ऐसा पूर्वापर प्रसंग पर ध्यान न देने के कारण हुआ है। इसी श्लोक के पहले चरण में **'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः'** होने की बात कही गई है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य अपने स्वभाव के कारण किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। और इसी अध्याय के ४३वें श्लोक में क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वभावज कर्म **'युद्धे चाप्यपलायनम्'** अर्थात् शस्त्रप्रहार के समय युद्ध से न भागना बताया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढंग से अर्जुन को समझाकर युद्ध में

---

१. तुलना करें—The universe consists of active choosing individuals who can be influenced, but not controlled; for God is not a dictator.

—Radhakrishnan : Bhagwadgita, Introduction, P. 24

२. **स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।**—यजु० ३२।१०

प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक विशेष रूप से द्रष्टव्य है जिसके आधार पर जीव के कर्म करने में स्वतन्त्र न होने की मान्यता की पुष्टि की जाती है—

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।**
**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥**—३।३६

अर्थात्—इच्छा न होने पर भी जिससे बलात् धकेला हुआ मनुष्य पाप करता है, वह कौन है ? इस श्लोक से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य को ऐसा ईश्वरीय इच्छा के अधीन होकर करना पड़ता है किन्तु यहाँ भी अर्जुन के इस प्रश्न 'केन प्रयुक्तः' का उत्तर 'ईश्वरेण प्रयुक्तः' अथवा गीता की परम्परा में 'मया प्रयुक्तः' न कहकर रजोगुण से उत्पन्न काम, क्रोध आदि दोषों को ही मनुष्य के पाप-कर्म में प्रवृत्त होने में कारण बताया है। गीता की भावना उसके अन्त में कहे गये— "**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु**" (१८।६३) शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण को जो कुछ कहना था, कह दिया और अन्त में "इस-पर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर" कहकर ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र होने की घोषणा कर दी।

**विधिनिषेधार्थवत्त्वात् ॥१४॥**

विधि-निषेध के सार्थक होने से [आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं]।

ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिए वह ज्ञानपूर्वक इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है। ऐसा न मानने का अर्थ जीवात्मा को उसके स्वाभाविक गुणों से वंचित करना होगा। गुणों को खोकर उसका अस्तित्व ही कहाँ रहेगा ? अनादि-अनन्त जीव के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्म-स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मन में यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई-बुराई सोचकर उन्हें करूँ, परन्तु वह अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति है, इसलिए उसे किसी के मार्गदर्शन की अपेक्षा है। वेदादि शास्त्रों तथा आप्तपुरुषों के वचन उसके लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करते हैं। शास्त्रों में अनेकत्र निहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के

परित्याग का उल्लेख मिलता है। इन विधिनिषेधपरक वचनों का लक्ष्य क्या ब्रह्म हो सकता है ? क्या सर्वज्ञ ब्रह्म को **'किं कर्म किमकर्म'** का निर्देश करने की आवश्यकता है ? ब्रह्म का अपने-आपसे **'असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय'** की प्रार्थना करना क्या उपहासास्पद नहीं होगा ? क्या ब्रह्म **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** कहकर बुद्धि की माँग करेगा ? स्पष्ट है कि इस प्रकार के विधिनिषेधात्मक अथवा प्रार्थनापरक वाक्य सर्वज्ञ तथा नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म को लक्ष्य करके नहीं कहे जा सकते। निश्चय ही ये सब अल्पज्ञ जीव के लिए हैं जो सर्वज्ञ ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है।

जीवात्मा के लिए कहे गये ये सब विधिनिषेध जीवात्मा के देह के साथ सम्बन्धित होने पर सम्भव हैं।[1] यद्यपि जीवात्मा सदा चेतन है और इस किंचित् साधर्म्य के आधार पर ब्रह्म के साथ उसके अंशांशिभाव की कल्पना की जाती है, पर चेतन होते हुए भी विधिनिषेध के अनुष्ठान की प्राप्ति उसे देहसम्बन्ध से होती है। स्वकृत कर्मों के भोग व कर्म के लिए जीवात्मा का देह से सम्बन्ध अवश्यम्भावी है। यह स्थिति ब्रह्म के लिए नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे जीवात्माओं का देहसम्बन्ध होता है, वैसे ब्रह्म का कभी नहीं होता। इसलिए विधिनिषेध ब्रह्म के लिए न होकर जीवात्मा के लिए है।

यदि समस्त अस्तित्वरूप जगत् ब्रह्म है तथा अनेकत्वविशिष्ट जगत् केवल आभासमात्र है तो फिर किसी नीतिशास्त्र के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। पाप-पुण्य के बीच की दीवार ही ढह जाती है। न जड़-चेतन में कोई भेद रहता है, न मूर्ख-विद्वान् में, न कोई उपदेष्टा रहता है और न कोई उपदेश्य। फिर पाप-पुण्य में कोई वास्तविक भेद नहीं हो सकता। यदि जगत् केवल छायामात्र है तो पाप छाया से भी कम है। तब फिर, क्यों न मनुष्य पाप के साथ क्रीड़ा करके पाप का आनन्द भोगे ? यदि नैतिक भेद प्रामाणिक है तो जीवन भी छायामात्र न होकर यथार्थ है। यदि ब्रह्म ही सब-कुछ है और जीवात्मा से उसका अभेद है तो नीतिशास्त्र का आदेशपत्र अन्यथा सिद्ध हो जाता है। उस अवस्था में राधाकृष्णन् का कहना है—"एक हिन्दू के लिए नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि समस्त जगत् ब्रह्मरूप है। यदि सब-कुछ

---

१. **अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।**—वे० द० २।३-४८

ब्रह्मरूप है तो हमारे लिए किसी जेबकतरे के पवित्र कार्य में हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं रह जाता।"[1] जब जेब काटनेवाला और उसका शिकार दोनों ही ब्रह्म हैं तो किसने किसको लूटा और क्या लूटा ? ऐसे समय में जब निकृष्ट-से-निकृष्ट कर्म करके भी मनुष्य उसे ईश्वरीय इच्छा कहकर सब-कुछ ब्रह्म के सिर पर डाल रहा है, अद्वैतवाद के सिद्धान्त की मान्यता मानव-समाज के लिए निश्चय ही अत्यन्त घातक सिद्ध हो रही है। जब न्यायाधीश और अपराधी दोनों ही ब्रह्म हों तो कौन किसको दण्डित कर सकता है ? वस्तुतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले फलोपभोग की व्यवस्था करनेवाले अपने से भिन्न न्यायाधीश की सत्ता में विश्वास ही मनुष्य को धर्म में प्रवृत्त करता और अधर्म से हटाता है।

शंकराचार्य से पूछा गया कि—जब आपके मत में विधिनिषेध व्यर्थ हैं तो वेद में तद्विषयक निर्देश करनेवाले लिङ् लकार का प्रयोग क्यों किया गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे पत्थर पर चलाने से छुरे की धार कुण्ठित हो जाती है, वैसे ही लिङ् लकार आदि प्रयुक्त होकर भी ब्रह्म के विषय में कुण्ठित हो जाते हैं।[2] यदि पत्थर पर चलाकर छुरे को कुण्ठित कर व्यर्थ बना देना है तो छुरे की आवश्यकता ही क्या है ? यदि लिङ्लकार का प्रयोग उसे कुण्ठित करने के लिए करना था तो शास्त्रकारों=आप्त पुरुषों ने व्यर्थ ही काग़ज़ काले करने की मूर्खता क्यों की ? किन्तु जादू वह है जो सिर पर चढ़कर बोले। वहीं पर जब शंकर से फिर पूछा गया—"अच्छा, विधितुल्य प्रतीत होनेवाले उन वाक्यों का क्या अर्थ होगा जिनमें कहा गया है कि 'आत्मा को ही देखना व सुनना चाहिए' तो मुँह से निकल गया कि "विषयों में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उससे विमुख करने के लिए ये

---

१. To the Hindu, ethical rules are meaningless, because the world is divine. If everything is God, then there is no excuse for our interfering with the sacred duties of the pickpocket.
—Radhakrishnan : The Hindu View of Life, p. 50.

२. **तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्।**

—शां० भा० १।१।४

वाक्य कहे गये होंगे।"[1] नाक सीधी न पकड़ी, सिर के पीछे हाथ करके पकड़ी। स्वाभाविक प्रवृत्ति से विमुख करना निषेध नहीं तो और क्या है? मीमांसादर्शन में जैमिनि मुनि लिखते हैं कि वेद का मुख्य प्रयोजन क्रिया (कर्म) का विधान करना है। इसलिए जो श्रुति इस प्रयोजन को सिद्ध न करे वह निरर्थक है।[2] इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि वेदशास्त्र शासन के ग्रन्थ हैं। उनमें जो ज्ञान है वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराने के लिए है। ऐसे ज्ञान की परमेश्वर को, जो स्वयं अनन्त ज्ञान का भण्डार है और वेदशास्त्र का उपदेष्टा है, आवश्यकता नहीं है। जो नहीं जानता उसी को ज्ञान की अपेक्षा है और वह परमात्मा से भिन्न जीवात्मा है।

**असत्कर्मसम्भवात् ।।१५।।**

असत्कर्म सम्भव होने से [जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं]।

यदि जीव अपनी इच्छा से कर्म न करके, जैसा परमात्मा कराये वैसा ही किया करे, तो संसार में पाप किंचित् भी न रहे। परमेश्वर **'शुद्धमपापविद्धम्'** अथवा **'अपहतपाप्मा'** है। जो स्वयं सर्वथा शुद्ध एवं निष्पाप है, वह नहीं चाहेगा कि कोई भी मनुष्य पाप करे। "एक अच्छा और सर्वशक्तिमान् परमात्मा संसार में पाप के अस्तित्व को न सहन कर सकता है, न करना चाहेगा और न करेगा।"[3] गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में लिखा है—

**राम कीन्ह चाहहिं अस होई। करत अन्यथा अस नहिं कोई ।।**

यदि संसार में वही होता है जो परमात्मा चाहता है और उसकी इच्छा के विपरीत कोई कुछ नहीं कर सकता तो जीवों को पाप करते देखकर यही मानना होगा कि परमात्मा ही उन्हें पापकर्म में प्रवृत्त करता है। संसार में दुःख प्रत्यक्ष है। यह भी निश्चित है कि दुःख पापकर्मों का फल है और फल देनेवाला परमेश्वर है। इस प्रकार संसार में जीवात्माओं को पहले पाप में प्रवृत्त करने और फिर उसके फलस्वरूप

---

१. **किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः।**
—शां० भा० १।१।४

२. **आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।**—मी० १।२।१

३. An all-good and all-powerful God could not, need not and would not tolerate the presence of evil in the world.
—Hume : Dialogues Concerning Natural Religion

दण्ड देने का पूर्ण उत्तरदायित्व परमात्मा पर होगा। पहले किसी को अपराध करने को विवश करना और फिर उसी अपराध के लिए उसे दण्डित करना कहाँ का न्याय है? इसी स्थिति को देखकर कभी महात्मा बुद्ध को कहना पड़ा था—"यह कैसे हो सकता है कि परमात्मा सृष्टि का निर्माण करे और उसे दुःखी रक्खे? यदि वह सर्वशक्तिमान् होते हुए भी ऐसा करता है तो निश्चय ही वह कोई अच्छा परमात्मा नहीं है। और यदि वह सर्वशक्तिमान् नहीं है तो वह परमात्मा नहीं है।"[1]

अभिप्राय यह है कि या तो परमात्मा निष्पाप नहीं है या सर्वशक्तिमान् नहीं है। यदि वह दोनों होता तो सृष्टि में पाप कहीं न होता। वस्तुतः ईश्वर और जीव के यथार्थ स्वरूप को न समझने के कारण ही ऐसी बात कही जाती है। जीव स्वतन्त्र तथा अल्पज्ञ होने के कारण ही पाप में प्रवृत्त होता है। यदि ईश्वर ने पहली बार सृष्टि बनाई होती और जीव को अपनी इच्छानुसार बनाया होता तो संसार में पाप नाम को भी न होता। वह जीव को बिल्कुल अपने जैसा बनाता जिससे वह कभी भी पाप में प्रवृत्त न होता। ऐसा वह जीव की स्वतन्त्रता को छीनकर ही कर सकता था। जीव को ब्रह्मरूप मानने पर उसके पाप में प्रवृत्त होने की व्याख्या नहीं हो सकती। ब्रह्म तो **'अपहतपाप्मा'** है। उसमें पाप कहाँ रह सकता है? संसार में पाप और पुण्य के बीच संघर्ष होता प्रत्यक्ष दिखाई देता है। एक ही व्यक्ति में दैवी तथा आसुरी दोनों वृत्तियाँ दीख पड़ती हैं, उनमें न्यूनाधिक्य भले ही हो।[2] यह सब इसीलिए है, क्योंकि जीव अनादि-अनुत्पन्न और परमात्मा से भिन्न है। जीव के स्वतन्त्र तथा अल्पज्ञ होने के कारण ही पाप का अस्तित्व है। ब्रह्म-ही-ब्रह्म होता तो पाप कभी न होता। पाप और पुण्य सापेक्ष हैं। यदि संसार में **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** है तो इनके विरोधी **'असत्यम-**

---

१. How can it be that God would make a world and keep it miserable? Since, if all-powerful, He leaves it so, He is not good; and if not all-powerful, He is not God.

—Jawaharlal Nehru, Promises To Keep

२. Virtuous and vicious everyman must be,
Few in the extreme, but all in degree.

—Alexander Pope : Essay on Man

शिवमसुन्दरम्' का अस्तित्व भी स्वीकार करना होगा।[1] यहाँ सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श परमात्मा और इसके विपरीत जीवात्मा है।

जीवात्मा की ब्रह्म से भिन्न सत्ता है, यह सिद्ध करने के पश्चात् अगले सूत्र में जीवात्मा के अनेकत्व का प्रतिपादन किया है—

**नात्मभेदमन्तरेण व्यवस्था ॥१६॥**

जीवात्माओं की अनेकता के बिना व्यवस्था सम्भव नहीं।

शरीरों की क्रियाओं से हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान करते हैं, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना उनकी व्याख्या नहीं हो सकती। जिस प्रकार मेरी क्रियाएँ मेरी आत्मा के कारण हैं, उसी प्रकार अन्य क्रियाएँ अन्य आत्माओं के कारण हैं। आत्माओं के अनेकत्व के बिना अनुभवों एवं प्रतिक्रियाओं की विविधता की व्याख्या सम्भव नहीं। वातावरण से प्राप्त होनेवाले उत्तेजकों के प्रत्युत्तर में शरीर तत्काल प्रतिक्रिया करता है। एकात्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह प्रतिक्रिया समस्त प्राणियों में एक-समान होनी चाहिए किन्तु व्यवहार में इसे भिन्न रूप में देखा जाता है। एक व्यक्ति एक गाल पर थप्पड़ खाकर अपना दूसरा गाल मारनेवाले के सामने कर देता है, दूसरा चुप-चाप चल देता है, तीसरा बड़बड़ाता, गालियाँ देता या धमकियाँ देता चला जाता है और चौथा एक के बदले दो थप्पड़ मारकर उसे औंधा पटक देता है। एक आदमी सामने भेड़िया देखकर भाग खड़ा होता है या पेड़ पर चढ़कर अपनी जान बचाता है और एक लाठी लेकर उसका सामना करने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक कष्ट या विपत्ति में जब एक मनुष्य भगवान् को कोसने लगता है तो दूसरा उसे प्रभु की इच्छा मानकर सहर्ष सहन करता हुआ कहता है—'ईश्वर, तेरी इच्छा पूर्ण हो।' तात्पर्य यह कि किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर में सब मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों की प्रतिक्रिया एक-जैसी नहीं होती। यदि

१. To hold that the world consists of free spirits means that evil is possible and probable. If all tendencies to error, ugliness and evil are to be excluded, there can be no seeking of the true, the good and the beautiful. If there is to be an active willing of these ideals of truth, beauty and goodness, then their opposites of error, ugliness and evil are not merely abstract possibilities, but positive tendencies which we have to resist. —Radhakrishnan : Gita, p. 24-25.

समस्त प्राणियों में एक ही चेतन सत्ता विद्यमान हो तो मानवीय क्रियाएँ यन्त्रवत् सबमें एक-जैसी हों। किन्तु ऐसा होता नहीं।

सांख्य दर्शन के अनुसार जन्म आदि की व्यवस्था के कारण यह मानना आवश्यक है कि पुरुष अर्थात् आत्मा अनेक हैं।[1] वैशेषिक दर्शन में भी व्यवस्था के कारण प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् आत्मा का होना माना है।[2] यदि ब्रह्मरूप होने से सर्वत्र एक ही आत्मा हो तो सबका जन्म-मरण एक-साथ होना चाहिए, परन्तु संसार में देखने में आता है कि भिन्न-भिन्न काल और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अनेक जीवात्माओं का जन्म-मरण अर्थात् शरीरों के साथ संयोग-वियोग होता रहता है। इसलिए प्रत्येक जन्म-मरण के साथ पृथक् आत्मा का होना उपपन्न है।

एक देह में रहनेवाले की स्थिति दूसरे देह में रहनेवाले के साथ नहीं मिलती। कोई अन्धा है, कोई बहरा है, कोई लँगड़ा है, कोई लूला है। यदि सर्वत्र शरीरों में एक ही आत्मा हो तो इस प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए। उस अवस्था में एक के अन्धा होने पर सब अन्धे हो जाने चाहिएँ और एक के लँगड़ा होने पर सब लँगड़े हो जाने चाहिएँ। अयुगपत्प्रवृत्ति भी आत्मा की अनेकता को सिद्ध करती है। किसी की धर्म में प्रवृत्ति देखी जाती है तो किसी की अधर्म में। कोई अत्यन्त स्वार्थी है तो कोई परोपकारप्रिय है। किसी की प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हैं तो किसी की बहिर्मुखी। यदि आत्मा एक हो तो सबकी प्रवृत्तियाँ एक-जैसी होनी चाहिएँ। '**भिन्नरुचिर्हि लोकः**'—सबकी रुचि अलग-अलग होती हैं और इसी प्रकार '**मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना**'—सबके विचार भी मेल नहीं खाते अर्थात् एक-से नहीं होते। बौद्धिक स्तर भी सबका अपना-अपना होता है। राजा भोज के दरबार में चार विद्वान् थे जिनमें से एक को एक बार सुनने पर श्लोक याद हो जाता था, दूसरे को दो बार सुनने पर, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनने पर सुना हुआ कण्ठस्थ हो जाता था। आशुकवियों तथा शतावधानियों की चर्चा भी प्रायः सुनने में आती है, तो ऐसे भी मूढ़ देखने में आते हैं जो दिन-रात एक करने पर भी कुछ नहीं समझ पाते।

त्रैगुण्यविपर्यय से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। लोक में कोई सत्त्वप्रधान देखा जाता है, कोई रजःप्रधान और कोई तमःप्रधान।

---

१. **जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्**।—सां० १।१४९
२. **व्यवस्थातो नाना**।—वै० ३।२।२०

एक ही माता-पिता की औरस सन्तानों में भी यह अन्तर देखा जाता है। यदि एक ही आत्मा हो तो सभी को सात्त्विक या राजस या तामस होना चाहिए परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

एक ही देशकाल में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन है। कोई दो व्यक्ति समानरूप से सुखी या दुःखी नहीं मिलेंगे। सुख के उपादेय और दुःख के हेय होने से सुख-दुःख निश्चय ही एक-दूसरे के विरोधी हैं और जब इस प्रकार का अन्तर जन्मकाल से ही देखा जाता है तब आत्माओं के नानात्व को स्वीकार किये बिना इस वैषम्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब वर्षा होने पर अनेक प्रकार के पौधे अंकुरित होते हैं तो उसमें वर्षा को कारण न मानकर बीजों में भिन्नता को ही वैविध्य में कारण मानना होगा।

कहा जा सकता है कि आत्मा के एक होने पर भी उपाधिभेद के कारण सुख-दुःखादि का अन्तर पाया जाता है। आत्मा तो एक ही है, किन्तु अन्तःकरण अनेक हैं। उन्हीं के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध देहादि के साथ होता है। उसी के आधार पर जन्म-मरण, सुख-दुःखादि के भेद की व्याख्या की जा सकती है। जो अन्तःकरण दुःखी है वहाँ का आत्मा दुःखी और जो अन्तःकरण सुखी है वहाँ का आत्मा सुखी होता है। यदि सुख-दुःख, ज्ञानादि का आश्रय अन्तःकरण होता तो यह हेतु ठीक हो सकता था किन्तु जड़ होने से अन्तःकरण तो सुख-दुःखादि का आश्रय न होकर केवल साधनमात्र है। सुख-दुःख की अनुभूति तो चेतन आत्मा को होती है। फिर, अनेक अन्तःकरणों से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा एक ही समय में सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त होगा। अतएव यह तर्कसंगत नहीं। अन्तःकरणों में एक ही आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की बात भी युक्तियुक्त नहीं। प्रतिबिम्ब एक पदार्थ का दूरस्थ दूसरे पदार्थ में पड़ता है। अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने के लिए अपेक्षित दूरी कहाँ है? **'हृदि ह्येष आत्मा'**—आत्मा तो अन्तःकरण के भीतर ही है। इन हेतुओं के आधार पर समस्त देहों में एक आत्मा का कर्त्ता, भोक्ता और द्रष्टा के रूप में माना जाना सर्वथा असंगत है।

वेदों तथा उपनिषदों में अनेकत्र उपलब्ध **'वयं जीवा जीवपुत्राः'** (ऋ० १०।३६।९), **'वयं जीवाः प्रतिपश्येम'** (ऋ० १०।३७।८), **'ये समानाः समनसो जीवाः'** (यजु० १९।४६), **'यस्मिन् वृक्षे मध्वदः**

**सुपर्णाः**'[1] (ऋ० १।१६४।२२), **'जीवानां व्रातमप्यगात्'** (ऋ० २।६।२), **'रेतोधा आसन्'**[2] (ऋ० १०।१२९।५), **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्'** (कठ० २।२।१३), तथा **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** (श्वेत० २।५) आदि सन्दर्भों में बहुवचनान्त पदों से आत्माओं का नानात्व प्रमाणित होता है। लोक में भी 'मैं-हम', 'तू-तुम', 'वह' आदि व्यवहार होने से प्रत्येक देह में भिन्न आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है। **"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति"** (मनु० १२।९१) को प्रमाण मानकर शंकर ने सर्वात्मभाव की पुष्टि करने का प्रयास किया है। वस्तुतः इस श्लोक से जीवों के अनेकत्व का अनुमोदन तथा ब्रह्मात्मैक्य का खण्डन होता है। यहाँ बहुवचनान्त शब्द 'सर्वभूतेषु' जीवों के अनेक होने की घोषणा कर रहा है और उसके साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा के व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को बता रहा है।

गीताकार ने कितना स्पष्ट कहा है—"यह नहीं कि मैं और तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे, और यह भी नहीं कि हम सब इसके पश्चात् नहीं रहेंगे।"[3] इस श्लोक में गीताकार ने जीवात्माओं का नित्यत्व सिद्ध करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि युष्मद्-अस्मदादि भेद से सब जीवात्मा परस्पर भिन्न हैं। रामानुज ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—"इस श्लोक से यह सिद्ध है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर, 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीत काल में) थे और आगे भी रहनेवाले हैं तो परमेश्वर और आत्मा—दोनों ही पृथक्, स्वतन्त्र तथा नित्य हैं।

जीवात्मा का ब्रह्म से पृथक्त्व सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत युक्तियों की शृङ्खला को बढ़ाते हुए कतिपय अन्य हेतु उपस्थित करते हैं—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वादीश्वरस्य ॥१७॥**

ईश्वर के अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभकर्म, कर्मफल तथा आशय

---

१. **सुपर्णा जीवाः**—(आत्मानन्द);

२. **रेतोधाः जीवाः**—(सायण)

३. **न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥**—गीता० २।१२

(अनादि काल से संचित कर्मों का भण्डार) इन सबके सम्बन्ध से अछूता रहने से (ब्रह्म जीव नहीं है)।

योगदर्शन में क्लेशकर्म आदि से अछूते पुरुषविशेष को ईश्वर नाम से अभिहित किया है। 'पुरुष' पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए किया जाता है। जैसा चेतनतत्त्व परमात्मा है, वैसा ही चेतनतत्त्व जीवात्मा है। उनके चेतनस्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, महत्परिणाम, सत्यसंकल्पादि है, जबकि जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अणुपरिमाण है और अधर्म, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष, प्रमाद आदि से अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेशादि जीवात्मधर्मों से सर्वथा अलिप्त रहने के कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। कठोपनिषद् में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्य दोषों से प्रभावित=दूषित नहीं होता, वैसे ही एक परब्रह्म सब भूतों में व्याप्त होता हुआ लोक-दुःख से दुःखी नहीं होता।[1] **'भोगायतनं शरीरम्'**—कर्मफल भोगने के लिए ही शरीर होता है। **'कर्मैव देहारम्भकारणम्'** देह का कारण ही कर्म है, किन्तु परमेश्वर क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से अछूता है। इसलिए उसके शरीरधारण करने की कल्पना नहीं की जा सकती। वह जन्म-जन्मान्तर की अन्तविहीन शृङ्खला से सर्वथा मुक्त है। इसलिए मलिन तथा क्षय होनेवाले परिधान (शरीर) की छाया उसके गौरव को मलिन नहीं कर सकती।

इसके विपरीत जीवात्मा बार-बार शरीर धारण करता है, इसलिए वह ब्रह्म नहीं हो सकता—

**पुनरुत्पत्तेश्चात्मनः ॥१८॥**

और, जीवात्मा की पुनरुत्पत्ति होने से (जीव ब्रह्म नहीं) है।

**'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**—परमेश्वर ने सृष्टि की रचना जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्म करता हुआ और उनके फलों को भोगता हुआ जीवात्मा संसार में लिप्त रहता है। एक जन्म में मोक्ष की सिद्धि

---

१. **सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।**
**एकस्तथा सर्वलोकान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥—कठ० ५।११**

सम्भव नहीं।[1] इसलिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे फिर प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार एक लदी हुई गाड़ी अपने गन्तव्य पर पहुँचकर अपना भार उतार देती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा कर्मफलप्रदाता ईश्वर की व्यवस्थानुसार संचालित होकर अन्तकाल में ऊर्ध्वश्वास की स्थिति में पहुँचकर अवश हुआ शरीर को छोड़ देता है। जब यह शरीर बुढ़ापे या रोग के कारण कृश हो जाता है तब जैसे आम, गूलर या पीपल का फल अपनी टहनी से टपक पड़ता है, वैसे ही यह जीवात्मा अपने शरीर से छूटकर जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग को, फिर अपनी योनि के प्रति प्राणधारण करने के लिए चल देता है।[2] शरीर को छोड़कर जाने की स्थिति का नाम उत्क्रान्ति है और इस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर-प्राप्ति को पुनर्जन्म कहते हैं। पुनर्जन्म के सन्दर्भ में वस्त्र-परिवर्त्तन (गीता २।२२) की उपमा प्रसिद्ध है। महाभारत में एक स्थान (शान्तिपर्व १५।५६) पर एक घर को छोड़कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है; और एक अमेरिकन लेखक ने यही कल्पना पुस्तक में नई जिल्द बाँधने का दृष्टान्त देकर की है।

पाप-पुण्य नामरूपात्मक सांसारिक-जीवन की उपज है। ब्रह्म प्रकृति के विकारों से सर्वथा अछूता है। इसलिए पाप-पुण्य के सुख-दुःख-रूपी फलों का भोग करने के लिए उसे शरीर धारण नहीं करना पड़ता, परन्तु जीवात्मा शरीर के कारण होनेवाले सुख-दुःख में भाग लेता है। ऐसे पुरुष जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं, संसारचक्र से छूट जाते हैं, किन्तु अन्य जीव मृत्यु के उपरान्त एक भिन्न जीवन में चले जाते हैं जिसका निर्धारण कर्म के विधान द्वारा होता है। मृत्यु के पश्चात् इस स्थूल शरीर का अपने मूलतत्त्वों में विलय हो जाता है। इसीलिए मृत्यु के लिए संस्कृत में 'पञ्चत्वं गतः' का प्रयोग किया जाता है। स्थूल शरीर से वियुक्त आत्मा सूक्ष्म तथा अदृश्य प्राकृत शरीर के साथ ईश्वरीय

---

१. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।—गीता० ६।४५

२. तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति। स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव।—बृहद्० ४।३।३५-३६

व्यवस्था के अधीन माता के गर्भ में चला जाता है जहाँ पर उसकी नई देह का निर्माण होता है। आत्मा अपने-आपमें अविनश्वर—अनुच्छित्ति-धर्मा है, अपने तात्त्विक स्वरूप के कारण समस्त जीवन एवं मृत्यु की क्रियाओं के अन्दर अपरिवर्त्तित रहकर अपने व्यक्तित्व को बनाये रखती है, परन्तु अपने भूतपूर्व जीवनों में किये गये कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकती, उनका फल भोगने के लिए उसे बार-बार इस संसार में धकेल दिया जाता है। जन्म और मृत्यु से तात्पर्य है जीवात्मा का शरीरों से साहचर्य तथा विच्छेद। जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म अवश्यम्भावी है।[1] मोक्षप्राप्ति होने पर निश्चित समय के अन्तराल को छोड़कर आत्मा के एक देह का परित्याग कर दूसरे को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है।

आत्मा को नित्य मानने पर ही एक देह का परित्याग कर देहान्तर की प्राप्ति तथा कालान्तर में मोक्षलाभ का अनुक्रम सम्भव है। यदि आत्मा अनित्य होता और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता तो फिर उसकी उत्पत्ति कहाँ से होती? क्योंकि स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया—"जब वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह फिर अपने मूल से उठ खड़ा होता है। परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है?"[2] जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा—"वह मूल आत्मा है जो सदा बना रहता है।"[3] मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है।[4]

ब्रह्म तो नित्य मुक्त है, परन्तु जीव को तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयास करना पड़ता है। यदि इसी जीवन को पहला और अन्तिम जन्म माना जाए तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि इस देह के साथ एक दिन हमारा भी अन्त हो जाएगा तो हमारा इस जीवन से क्या लगाव रह जाएगा? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सचाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम,

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता० २।२७
२. मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।—बृहद्० ३।६।२८
३. जात एव न जायते को न्वेवं जनयेत्पुनः।—तदेव
४. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।—कठ० १।६

त्याग आदि की उपेक्षा करके **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्'** के अनुसार जीवन बिताना ही ठीक होगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधारकर अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक जन्म में किये गये कर्मों का फल भोगते रहने के लिए, अनन्तकाल तक नरक में डाल देना कहाँ का न्याय है? और मनुष्य-जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। जन्मजन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिए—ऐसा तभी सोचा जा सकता है जब फिर भी अवसर मिलना निश्चित हो। इसी से जीवन में उत्साह और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलता है। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करता है, जब उसे विश्वास होता है कि पुराने वस्त्र इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिए हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके। इस प्रकार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जानेवाला जीवात्मा शरीरबन्धन में कभी न पड़नेवाले विश्व के अधिष्ठाता ब्रह्म से सदा भिन्न है।

**मोक्षोपदेशात्** ॥१६॥

मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपदेश दिये जाने से (जीव-ब्रह्म एक नहीं)।

---

१. तुलना करें—If we end our present life in a state of imperfection, as we must, it is not illogical to assume that there remains a further improvement and advance to be made in the next life, and that future death can only be regarded as improbable when at last we have reached absolute perfection. The natural inference, therefore, is that this life will be followed by others like it, each separated from its predecessor and successor by death and rebirth; otherwise we shall have to fall back upon the hypothesis that a process of development begun in a single life bounded by death would be continued as an indefinitely long life not divided by birth and death at all. And to suppose, without any reason, such a change from the order of our present experience seems impossible to justify.

—Westaway : Theology and Religion, P. 360

शास्त्र जीवात्मा के दो प्रयोजनों का निर्देश करता है—एक भोग, दूसरा अपवर्ग। मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी प्रयोजन अपवर्ग है। इसलिए सांख्यदर्शन में इसे अत्यन्त पुरुषार्थ कहा है।[1] इसी का अपर नाम मोक्ष है। सांख्यकार यदि जीवात्मा को ब्रह्मरूप मानते तो पहले ही सूत्र में उसे त्रिविध दुःखों से निवृत्ति का निर्देश न करते। समस्त शास्त्र ईश्वर-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष-साधन के निमित्त आवश्यक विधि-निषेधात्मक वाक्यों से भरे पड़े हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) का पर्यवसान मोक्षप्राप्ति में है। त्रिविध दुःखों से छूटकर अनन्त सुख की प्राप्ति की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है। उसी के लिए मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्नशील रहता है। जो बन्धन में है, वही उससे छूटने के लिए छटपटाता और प्रयत्न करता है। रोगी को स्वस्थ होने के लिए उपचार की अपेक्षा होती है; स्वस्थ व्यक्ति को नहीं।[2] नित्य-मुक्त को दुःख कैसा? और यदि दुःख नहीं तो कोई प्रवृत्ति भी नहीं, क्योंकि प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती। ब्रह्म तो सुखस्वरूप तथा नित्य-मुक्त है। यदि समस्त जीवात्माएँ ब्रह्म का ही रूप हैं तो वे सदा से मुक्त हैं। फिर उनकी मुक्त होने की इच्छा क्यों? मुक्त का मुक्त होने के लिए प्रयास करना निरर्थक ही नहीं, उपहासास्पद भी है।

यदि परमात्मा और जीवात्मा वास्तव में अभिन्न हैं तो उन्हें इस अभिन्नता का बोध कराने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि जो तत्त्वतः एक हैं, उनके एकत्व अथवा तादात्म्य में कोई बाधक नहीं हो सकता और यदि दोनों तत्त्वतः भिन्न हैं तो कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाए, उनके स्वभावगत भेद को दूर नहीं किया जा सकता। वेद के अनुसार परमात्मा को जानकर ही मोक्ष मिलता है।[3] तो क्या ब्रह्म को स्वयं अपने-आपको जानने-पहचानने के लिए प्रयास करना पड़ता है जिससे उसे मोक्षलाभ हो सके? उपनिषद् के शब्दों में ब्रह्म को स्वयं अपने को 'श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य' के रूप में स्वीकार करना होगा। ये सब असंगतियाँ तभी दूर हो सकती हैं जब नित्यमुक्तस्वभाव ब्रह्म से भिन्न कभी बद्ध और कभी मुक्त होनेवाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाए।

---

१. त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।—सां० १।१
२. दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
३. तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति।—यजु० ३१।१८

सुरेश्वर ने जीव की तुलना प्राचीनकाल के एक ऐसे राजकुमार से की है जो स्तनन्धय आयु में ही अपने परिवार से बिछुड़ गया था। वह किसी गडरिये के हाथ लग गया। उस गडरिये ने इस बालक का पालन-पोषण अपने ही ढंग पर किया। स्वभावतः बालक अपने-आपको गडरिये की सन्तान समझता रहा। कालान्तर में राजकर्मचारियों ने उसे खोज निकाला। राजा के मन्त्री ने उस बालक को बताया कि 'वास्तव में तुम अमुक राजा के पुत्र हो जो किसी कारण अपने परिवार से बिछुड़ गये थे।' जब उस बालक को अपने यथार्थरूप का अर्थात् अपने राज-कुलोत्पन्न होने का पता चला तो वह अपने भेड़ चराने के व्यवसाय का परित्याग कर राजसी ठाठबाट के अनुरूप व्यवहार करने लगा।[1] इमर्सन के शब्दों में 'प्रत्येक मनुष्य ईश्वर है जो मूर्खता का अभिनय करता है।'[2] जिस प्रकार अपने अभिजातकुलोत्पन्न होने से अनभिज्ञ राजकुमार परिस्थितिवश किसी दरिद्र के घर में पालन-पोषण पाने के कारण अपने-आपको दरिद्र समझ बैठता है, उसी प्रकार हम देशकाल की उपाधियों से ग्रस्त होने के कारण अपने दैवी स्वरूप को भूले रहकर अपने-आपको जीवात्मा समझ बैठते हैं। इस अज्ञान को दूर करके अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के लिए ही शास्त्र-रचना की जाती है। आपाततः यथार्थ प्रतीत होनेवाला दृष्टान्त एक राजकुमार के लिए ठीक हो सकता है, क्योंकि वह अल्पज्ञ है। परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म के अपने स्वरूप को भूल जाने और फिर मानवरचित शास्त्रों को पढ़कर अपनी वास्तविकता का बोध होने की कल्पना नहीं की जा सकती। ईश्वर के मूर्खता का अभिनय करने की बात तो और भी असंगत तथा हास्यास्पद है, विशेषतः जबकि उस अभिनय को देखनेवाला और देख-कर उसकी सराहना करनेवाला अभिनेता से भिन्न कोई दर्शक न हो।

बन्धन और मोक्ष की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जीवात्मा स्वभाव से बन्धन में रहता है, अथवा किसी निमित्त से वह बन्धन में आता है और उस निमित्त के न रहने पर मुक्त हो जाता है? सूत्रकार का मत है—

---

१. राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात्।—सां० ४।१
राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्त्तते।
तथैवात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः॥—सिद्धान्तलेशसंग्रह

२. राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भा० २, पृ० ५६४

**निमित्तजन्यौ हि बन्धमोक्षौ ।।२०।।**

निश्चय ही बन्ध और मोक्ष निमित्त से होते हैं।

आत्मा स्वभाव से गुणातीत है। उसमें जो तारतम्य आता है, वह प्रकृति के संग से है। प्रकृति के गुणों का विश्लेषण हम आत्मा की अवस्थाओं से कर सकते हैं। आत्मा की उत्तम अवस्था स्थितधी की है—वह शुद्ध सात्त्विक अवस्था है। मध्यमावस्था चंचलता तथा सञ्चित पुरुषार्थ की है—वह राजसिक है। निकृष्ट अवस्था आलस्य की है—वह तामस है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धन से छूटना ही मोक्ष है।

कोई आत्मा जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में कब से आई ? क्या अनादि काल से ? यदि ऐसा है तो वह अनन्तकाल तक उसमें फँसी रहेगी। तब मोक्ष कभी सम्भव न होगा। तो क्या, इस चक्र में पड़ने से पूर्व जीव मुक्त था ? यदि भविष्य में मुक्ति सम्भव है तो अतीत में भी कभी-न-कभी अवश्य मुक्त रहा होगा। निश्चय ही दो बार मोक्ष के अन्तराल में जन्म-मरण का चक्र और दो जन्म-मरण के अन्तराल में मोक्ष की अवस्था माननी होगी। इस प्रकार जन्म-मरण की भाँति बन्धन और मोक्ष का भी एक विराट् चक्र स्वीकार करना होगा। जीवात्मा स्वरूप से शुद्ध एवं पवित्र है, किन्तु वह स्वतन्त्र तथा अल्पज्ञ है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब वह प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन में पड़ जाता है और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। साधनों से प्राप्त पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। जैसे धूल-मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता है और जल से धोने पर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही अविद्यादि हेतुओं से रागद्वेषादि के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है।

यदि निमित्त से न मानकर जीव को स्वभाव से बद्ध या मुक्त माना जाए तो क्या आपत्ति है ?

**स्वभाविकत्वे निवृत्त्यसम्भवः स्वभावस्यानपायित्वात् ।।२१।।**

स्वाभाविक होने पर निवृत्ति सम्भव नहीं होगी, स्वभाव के अविनाशी होने से।

वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है। स्वभाव के न रहने पर वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता

न रहने पर व्यवहार में उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा। न मर्त्य अमृत हो सकता है और न अमृत मर्त्य हो सकता है। किसी भी अवस्था में वस्तु का स्वभाव नहीं हटाया जा सकता।[1] यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाएगा तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकेगा और यदि मुक्त माना जाएगा तो कभी बद्ध नहीं होगा। मुक्ति से पूर्व बन्धन होना आवश्यक है, क्योंकि यदि बँधा हुआ ही नहीं तो छूटेगा कैसे? इसी प्रकार बन्धन में आने से पूर्व मोक्षावस्था आवश्यक है, क्योंकि जो मुक्त नहीं उसके बँधने का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार मुक्ति और बन्धन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त।

यदि आत्मा को स्वभाव से बद्ध माना जाए तो उसका मोक्षलाभ के लिए प्रयास करना व्यर्थ है, क्योंकि—

**न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिरशक्यत्वात् ॥२२॥**

स्वभाव से बद्ध आत्मा को मोक्षसाधनरूप उपदेश देना असंगत है, सम्भव न होने से।

असम्भव कार्य के लिए किसी को निर्देश करना अथवा उसके सम्पादन के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। गुण के गुणी के आश्रित रहने से स्वाभाविक गुण का तबतक नाश नहीं हो सकता जबतक गुणी विद्यमान है। जीवात्मा नित्य है, अतः यदि बन्धन उसका स्वाभाविक गुण होगा तो सदा उसके साथ रहेगा। जो सदा रहनेवाला है उसे हटाने के लिए विधि-निषेध का निर्देश करना व्यर्थ है। प्रयत्न करके भी असम्भव को सम्भव नहीं बनाया जा सकता। यदि आत्मा स्वभाव से मैला, गदला और विकारयुक्त है तो जन्म-जन्मान्तर तक यत्न करने पर भी उसकी मुक्ति नहीं होगी।[2] किन्तु अनादि काल से मनुष्य में मोक्षप्राप्ति की इच्छा, तदर्थ प्रयत्न, आप्तपुरुषों तथा शास्त्रों का उपदेश आदि सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। इन सबके रहते हुए जीवात्मा को स्वभाव से बद्ध नहीं माना जा सकता।

---

१. **न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।**
**प्रकृतेन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति** ॥—गौडपादीय कारिका, ३।२१

२. **यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।**
**न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि** ॥

जिस प्रकार जीवात्मा स्वभाव से बद्ध नहीं है उसी प्रकार स्वभाव से मुक्त भी नहीं है, क्योंकि—

**न मुक्तस्वभावस्य सिद्धवस्तुप्रतिपादनानर्थक्यात् ॥२३॥**

स्वभाव से मुक्त आत्मा को (उपदेश देना संगत) नहीं, प्राप्त वस्तु का प्रतिपादन करना निरर्थक होने से।

जो पहले से मुक्त है उसे मुक्ति के लिए प्रेरित करना तथा उसकी प्राप्ति के निमित्त आवश्यक निर्देश करना निरर्थक है। स्वतः प्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न निष्प्रयोजन है। बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं, अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो नित्यमुक्तस्वभाव है उसके कभी बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

परमेश्वर सृष्टि का निमित्तकारण है। निमित्तकारण उपादान-तत्त्वों से नामरूप की सृष्टि करता हुआ स्वयं अविकारी एवं अपरिणामी रहता है। अपने बनाये पदार्थों पर अपनी बुद्धि, कला-कौशल तथा सामर्थ्य की छाप छोड़कर वह उनसे अलग रहता है—उनमें भागी नहीं होता। एकदेशी जीव ही बद्ध और मुक्त होते हैं। सर्वदेशी परमेश्वर नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में नहीं फँसता। सुख-दुःख कर्मों के फलस्वरूप होते हैं और सभी प्रकार के कर्म देह, अन्तःकरण आदि के धर्म हैं। अतः 'अकाय' और 'अकाम' होने से ईश्वर न कर्मों में लिप्त होता और न इनके फलस्वरूप बन्धन में पड़ता है। जीव में मुक्त होने की इच्छा बलवती है। कामना सदा अप्राप्त वस्तु की होती है। यदि जीवात्मा स्वभाव से मुक्त अथवा आनन्दस्वरूप हो तो उसे आनन्द की कामना क्यों हो? प्राणिमात्र में दुःख से छूटने और सुख पाने की इच्छा है[1] तथा अपनी बुद्धि एवं सामर्थ्य के अनुसार वह सदा प्रयत्नशील है। इस प्रकार जीवात्मा में आनन्द-प्राप्ति की कामना होने और तदर्थ प्रयत्न करने से स्पष्ट है कि वह स्वभाव से मुक्त नहीं है।[2]

जीवात्मा परमात्मा को पाना चाहता है, इसीलिए वह स्वयं परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि—

---

१. दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।
२. कामाच्च न स्वभावतो मुक्तः।—अ० त० द० ५।६

**न हि लब्धैव लब्धव्यः ॥२४॥**

लब्धा (प्रापक) ही लब्धव्य (प्राप्य) नहीं हो सकता।

परमात्मा आनन्दस्वरूप है, उसी को प्राप्त करके जीवात्मा आनन्द-लाभ करता है।[1] जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है। लाभ करनेवाला स्वयं लब्धव्य नहीं होता। यदि जीवात्मा आनन्दमय होता और वह ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न माना जाता तो उसे आनन्दलाभ करने की आवश्यकता क्यों होती? ब्रह्म तो आनन्द देनेवाला है।[2] जो स्वतः आनन्दस्वरूप है वही दूसरे को आनन्द दे सकता है। ब्रह्म तो पूर्ण आनन्दमय है, जीवात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार कर, उसे प्राप्त हो, उसके असीम आनन्द के एक अंशमात्र का उपभोग कर पाता है। यह स्थिति जीवात्मा और परमात्मा के भेद को सिद्ध करती है।

यह कहा जा सकता है कि जब परमात्मा ने सारी सृष्टि बनाई है और जीवात्मा भी सृष्टि का अंग है तो उसने जीवात्मा को भी बनाया होगा। परन्तु ऐसा नहीं है।

**नैश्वरीकृतिरात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ॥२५॥**

श्रुति में कथन न होने तथा नित्य होने से जीवात्मा ईश्वर की रचना नहीं है।

जैसे पृथिव्यादि तत्त्वों की उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे जीवात्मा के ईश्वर द्वारा उत्पन्न किए जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत उसके उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्यत्व सिद्ध करनेवाले प्रमाण यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने में आते हैं। बृहद्० में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था—"अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता।"[3] उच्छेद इसलिए नहीं होता, क्योंकि वह कभी उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्येक शरीर में जीवात्मा नाम के एक तत्त्व का अनुभव किया जाता है। ब्रह्म प्रकृति-उपादान से जगत् की रचना करता है। जीवात्मा का प्रादुर्भाव भी कहीं-न-कहीं से होना चाहिए। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ईश्वर हमारे हाथ, पैर आँख, कान आदि

---

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।—तैत्ति० २।१।७
२. एष ह्यानन्दयति।—तैत्ति० २।७
३. अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा।—बृहद्० ४।५।१४

बनाकर शरीर की रचना करता है, हो सकता है, उसी प्रकार किसी उपादान से जीवात्मा को भी बनाता हो। बादरायण कहते हैं कि जीवात्मा की उत्पत्ति असम्भव है।[1] जब उत्पत्ति असम्भव है तो उत्पन्न करनेवाले का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं। प्राणियों को प्राप्त देह जड़ है, इसलिए प्राकृत तत्त्वों से उसकी रचना सम्भव है। जीवात्मा चेतन तत्त्व है, इसलिए देह की भाँति जीवात्मा जड़ प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई चेतन तत्त्व न किसी का कार्य हो सकता है और न किसी का उपादानकारण। जीवात्मा को उत्पन्न न करने पर भी परमात्मा उसका नियन्ता व अधिष्ठाता इसलिए कहाता है कि वह उसके कर्मफल का नियामक है और उसके भोगापवर्ग के लिए जगत् की रचना करता है।

जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना ईश्वर का काम है, उन्हें उत्पन्न करना नहीं। जिनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना अपेक्षित है, यदि उन जीवों का अस्तित्व ही नहीं था तो सृष्टि-रचना की आवश्यकता क्या थी? पहले भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना और फिर उनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टिरचना करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? फिर, जीवों की उत्पत्ति कार्य है जो कारण के बिना सम्भव नहीं। जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? जीव के न होने पर दो ही पदार्थ शेष रह जाते हैं—ईश्वर और प्रकृति। जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। दूसरे, कार्य से कारण पहले होता है। ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य मानने पर दोनों का एकसाथ होना नहीं बनता। परन्तु वेदादि शास्त्र दोनों को **'सयुजा सखाया'**[2] मानते हैं। यदि दुर्जनतोष-न्याय से जीव का परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होना माना जाएगा तो उसका विनाश होना और उत्पाद-विनाश होने से उसका अनित्य होना मानना होगा। जिसका आदि होगा उसका अन्त अवश्य होगा। जो उत्पन्न होगा वह मरेगा अवश्य। इसलिए जैसे परमेश्वर द्वारा बनाये गये

---

१. **नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।**—वे० द० २।३।१७

२. **सर्वदा युक्तौ समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ।**—मुण्डक० शां० भा० ३।१।१

हमारे शरीर का अन्त होता है, वैसे ही उसके बनाये आत्मा का भी अन्त मानना होगा। परन्तु जैसा गीता में कहा है, ये देह तो अन्तवाले हैं, किन्तु उनमें निवास करनेवाला देही नित्य एवं अविनाशी है। न यह कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं है कि यह (एक बार) होकर न रहे। यह तो अजन्मा, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का वध हो जाए तो भी यह नहीं मरता।[1] शरीर के न रहने पर भी यह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीवात्मा से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं।[2] जड़ (प्रकृति) तथा चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित, दोनों ही अजन्मा हैं।[3] यह चेतन आत्मा न जन्मता है, न मरता है।[4] जब यह जीवात्मा पुरुष-शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब मरा हुआ कहलाता है।[5] इस प्रकार जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है, क्योंकि जब आश्रित वस्तुएँ उत्पन्न या विलय होती हैं, कहा यह जाता है कि आत्मा उत्पन्न हुई अथवा विलय हुई। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में लिखा है—"जीव की उत्पत्ति-प्रलय नहीं होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाए तो दूसरे शरीर में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो? और शास्त्र में जो विधि-निषेधात्मक उपदेश हैं, वे व्यर्थ हो जाएँ।[6] इसलिए यदि कहीं जीव की उत्पत्ति या विनाश का उल्लेख पाया जाए तो वह शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिए।

---

१. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥
न जायते म्रियते कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
—गीता० २।१८,२०

२. जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।—छां० ६।११।३

३. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ।—श्वेत० १।६

४. न जायते म्रियते वा विपश्चित्।—कठ० २।१८

५. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः।
बृ० ४।३।१८

६. न जीवस्योत्पत्तिविनाशौ स्तः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गते इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्।
—शां० भा० २।३।१६

मनुष्य देह और आत्मा का समुच्चय है। इनमें आत्मा नित्य और अमर है—वह आज है, कल था और कल भी रहेगा, अतएव जन्म-मरण शब्द उसके लिए प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। पूर्वजन्मों में अनुष्ठित कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना जीवात्मा की अनादि और अनन्त जन्म-कर्म-फल-परम्परा को सिद्ध करता है। यह जीवात्मा के अविनाशी होने और अविनाशी होने से अनुत्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण है। आत्मा को अविनाशी (नित्य) माने बिना संसार में वैषम्य एवं नैर्घृण्य की व्याख्या भी नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार भाव का अभाव या विनाश सम्भव नहीं, उसी प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यदि वर्त्तमान में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तो उसका अनादि-अनन्त होना स्वतःसिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। जिस तर्क से 'हम हैं' उसी तर्क से 'हम होंगे' भी। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो न कभी इससे पहले यहाँ आया हो और न यहाँ से एक बार जाने के बाद फिर लौटेगा। मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त उसका यहाँ आना-जाना निरन्तर बना रहता है।

बाइबल के अनुसार जीवात्मा परमेश्वर का बनाया है। परमेश्वर ने धरती की मिट्टी से एक पुतला बनाया और उसमें अपनी रूह फूँक दी। इस प्रकार जीता-जागता मनुष्य बन गया।[1] ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिए एक नयी आत्मा को उत्पन्न करता है।[2] ईसाई-विचारक सन्त थामस के अनुसार जीवात्मा अमर है किन्तु नित्य नहीं है। नित्य वह है जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित है। ईसाईमत में जीवात्मा उत्पन्न तो होता है, किन्तु मरता नहीं। उसका आदि है, पर अन्त नहीं। इस विषय में डेकार्टे पर भी ईसाईमत का आंशिक प्रभाव मालूम होता है। डेकार्टे ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानता है। परन्तु उसका मत है कि जीव व प्रकृति

---

१. And the Lord God formed man out of dust and breathed into his nostrils the breath of life, and man became a living soul.—The Bible, genesis, II, 7

२. The soul is not transmitted with the semen, but is created afresh with each man.
—Bertrand Russell : History of Western Philosophy, P. 480

ईश्वर के बनाये हैं और, यदि वह चाहे तो उन्हें नष्ट कर सकता है।[1] इस प्रकार परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व ठहरता है। जीव और प्रकृति उसकी कृतिमात्र हैं और अपने अस्तित्व के लिए परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। कुरान के अनुसार भी आदिम पुरुष आदम की उत्पत्ति बाइबल के आदिम पुरुष की भाँति ही हुई थी।[2] एक बार उत्पन्न होने के बाद जीव कभी मरता नहीं। मृत्यु के बाद न्याय के दिन तक कब्र में पड़ा रहता है और बाद में कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिए अनन्त काल तक स्वर्ग अथवा नरक में पड़ा रहता है। तर्क-शास्त्र के अनुसार जिसका आदि है वह अनन्त नहीं हो सकता। इसलाम और ईसाई मत के अनुसार यदि शरीर के साथ उसकी आत्मा की उत्पत्ति मानी जाएगी तो शरीर के अन्त के साथ आत्मा का भी अन्त मानना होगा, परन्तु आत्मा को सभी अविनाशी मानते हैं।[3] अविनाशी मानने पर अनिवार्यतः उसे अनुत्पन्न मानना होगा। न एक किनारे की नदी हो सकती है, न एक सिरे वाली रस्सी की कल्पना की जा सकती है।

उत्पन्न पदार्थ परिणामी होता है और प्रत्येक परिणामी संघात में अवस्थित रहता है। संघात में विकार होते रहते हैं, किन्तु जीवात्मा अविकारी है[4] और अविकारी होने के कारण उसका अनुत्पन्न होना सिद्ध है। यदि जीवात्मा को उत्पन्न हुआ माना जाएगा तो उसकी उत्पत्ति के लिए कालविशेष की भी कल्पना अपेक्षित होगी। फिर उस कालविशेष में जीवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्धारण करना होगा। बैठे-बिठाये परमेश्वर को क्या सूझी कि उसने असंख्य जीवों की सृष्टि कर डाली ? पूर्णकाम ब्रह्म को अपने भीतर



---

१. Descartes admitted three substances, God, mind and matter. It is true that even for him God was, in a sense, more substancial than mind and matter, since he had created them and could, if he so chose, annihilate them.

—Ibid, P. 594

२. कुरान, अलहिजरा, आयत २८-२६

३. तुलना करें—Life is real, life is earnest,
And the grave is not its goal,
Dust thou art, to dust returnest,
Was not spoken of the soul.

४. असङ्गोऽयं पुरुषः।—सां० १।१५

**कौन-सी** कमी जान पड़ी जिसे पूरा करने के लिए उसे जीवों की **आवश्य**कता पड़ गई ? जब जीव नहीं थे तो उनके भोगापवर्ग के लिए **अपेक्षित** सृष्टि भी नहीं थी। उस अवस्था में 'जन्माद्यस्य यतः' (वे० द० १।१।२)—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के निमित्त-कारण के रूप में कथित ब्रह्म के इस लक्षण का क्या अर्थ होगा ? किसके लिए वह ईक्षण द्वारा प्रकृति को नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता होगा ? 'कर्माध्यक्ष' के रूप में वह किनके कर्मों की व्यवस्था करता होगा ? किस पर दया करता होगा और किसका न्याय करता होगा ? वस्तुतः जीवों के न होने की दशा में परमात्मा अन्यथासिद्ध हो जाएगा।

जीव अपनी स्वभावगत अल्पज्ञता आदि के कारण पाप-पुण्य में प्रवृत्त होता है। यदि परमेश्वर जीव को बनाता तो अपने-जैसा बनाता जिससे संसार में सब कहीं **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का साम्राज्य होता। न कहीं अज्ञान होता, न अज्ञान के कारण पाप और न उसके फलस्वरूप दुःख। बाइबल ने कह तो दिया कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपने-जैसा बनाया।[1] परन्तु यदि यह सत्य होता तो संसार में किसी भी रूप में भ्रष्टाचार न दीख पड़ता। इन सब समस्याओं का समाधान परमात्मा से भिन्न जीव के अस्तित्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानकर ही होता है।

भिन्न प्रतीत होते हुए भी जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है—पूर्वपक्ष के रूप में इस शंका को सूत्रबद्ध करते हुए कहा—

**ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं जीवः** ।।२६।।

जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

ब्रह्म और जीव में भेद की प्रतीति अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान के कारण है, वस्तुतः दोनों एक हैं। जिस प्रकार जल के भीतर दिखाई देने-वाले सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्बमात्र हैं, यथार्थ नहीं हैं; अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण स्फटिक में लाल रंग केवल लाल फूल का प्रतिबिम्ब है, यथार्थ नहीं; अथवा जिस प्रकार अनेक दर्पणों में एक ही मुख अनेकरूप दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार जीवात्माएँ एक ही यथार्थ सत्ता के प्रतिबिम्बमात्र हैं। यथार्थ सत्ता तो केवल ब्रह्म है। निरपेक्ष

---

१. God made man in his own image.

परब्रह्म जो अद्वितीय है, भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के रूप में प्रकट हो रहा है। इस प्रकार जीव विश्वात्मा का अन्तःकरणों में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है।[1] यथार्थ बोध होने पर प्रतिबिम्बों का अस्तित्व नष्ट हो जाता है और मात्र यथार्थ सत्ता ब्रह्म रह जाता है।

इस प्रतिबिम्बवाद का प्रत्याख्यान करने के लिए कहा—

**न निराकारत्वात् ॥२७॥**

(ब्रह्म के) निराकार होने से (उसका प्रतिबिम्ब) नहीं हो सकता।

प्रतिबिम्ब-विषयक अलंकार की शाब्दिक व्याख्या करें तो हमें एक ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच में रोकती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले माध्यम की आवश्यकता है जो विक्षेपक से भिन्न हो। एक आकृतिविहीन वस्तु किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं डाल सकती। सूर्य अथवा मुख आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में अन्यथासिद्ध है, क्योंकि ये पदार्थ स्थूल, सावयव, सरूप हैं। सूर्य व जल और इसी प्रकार मुख व दर्पण सभी आकारवाले हैं, इसलिए साकार सूर्य का साकार जल में और साकार मुख का साकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। सर्वथा निरवयव, नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब किसी अन्य वस्तु में हो सकता है। यदि जीवात्मा प्रतिबिम्ब है तो वह वस्तु जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रक्षेपक से भिन्न होनी चाहिए। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं तो प्रतिबिम्ब किसमें होगा?

इसपर आपत्तिकर्त्ता कहता है—

**निराकाराकाशस्य प्रतिबिम्बं प्रत्यक्षम् ॥२८॥**

निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष है।

स्वच्छ जल में निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि निराकार पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता? इस आधार पर अन्तःकरण में निराकार ब्रह्म के प्रतिबिम्ब होने में कोई बाधा नहीं।

---

१. **अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्।**—वेदान्तपरिभाषा-१

अगले सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब कदापि नहीं पड़ता।

**पृथिव्यप्तेजसां त्रसरेणुमात्रमाकाशाख्यं नीलम् ॥२६॥**

पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु ही आकाश नाम से जाने जाते हैं।

आकाश में रूप-स्पर्शादि नहीं हैं, इसलिए वह नेत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं है। वस्तुतः 'आकाश' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। दार्शनिक अर्थ में आकाश एक द्रव्य है जो निराकार एवं सर्वव्यापी है। सामान्यतया जिसे आकाश कहा जाता है, वह वास्तव में आकाश न होकर दूर तक फैले पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणुओं का संघात-मात्र है। जल में उसी की छाया पड़ती है। नीला-नीला मेहराब-सा दीखनेवाला दार्शनिक आकाश नहीं है। आकाश तो सर्वथा निराकार, व्यापक तत्त्व है। न वह किसी को दीख सकता है और न उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इसलिए बोलचाल के आकाश को दार्शनिक आकाश का पर्याय मानकर उससे एक प्रतिपत्ति की स्थापना करना सर्वथा असंगत है।

आकाश के नीला दीखने की व्याख्या हमारे समय में सबसे पहले टिण्डाल (Tyndal) ने की। उसने बताया कि जब सूर्य के प्रकाश की किरणें (तरंगें) वायु में स्थित सूक्ष्म परमाणुओं से टकराती हैं तो प्रकाश का ध्रुवीकरण हो जाता है। उसी को बोलचाल में आकाश का नाम दिया जाता है और जल में अथवा दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है।[1]

**अकायं ब्रह्म व्यापकत्वादेः ॥३०॥**

व्यापकत्वादि गुणों के कारण ब्रह्म अकाय (निराकार) है।

वेदादि समस्त आर्ष ग्रन्थों में ईश्वर को निराकार—अमूर्त्त, निरवयव बताया है। यजुर्वेद (४०।८) में उसे स्पष्टतः अकाय अर्थात् शरीर-रहित अथवा अमूर्त्त कहा है। 'अकायम्' (अशरीरी) कहने के बाद 'अव्रणमस्नाविरम्' (व्रण तथा नसनाड़ियों से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उवट ने अपने वेद-भाष्य में लिखा है कि बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गई

---

१. The Book of Popular Science, Vol. VIII, P. 25

पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं है।[1] महीधर ने यास्काचार्य के **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'**[2] इस वचन को उद्धृत करके कहा कि अर्थातिशय को व्यक्त करने के उद्देश्य से की गई पुनरुक्ति निर्दोष होती है।[3] दोनों भाष्यकारों ने परमेश्वर के 'अकाय' होने के कारण ही उसे शुद्ध अर्थात् सत्त्वरजस्तमस् के प्रभाव से असंपृक्त तथा योगदर्शन (१-२४) के अनुसार अविद्यादिक्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है।[4] महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए लिखा—'अकायं' के साथ 'अव्रणं' तथा 'अस्नाविरं' इन दो विशेषण-पदों के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है। 'अकायं' से लिङ्गशरीर से तथा 'अव्रणमस्नाविरं' से स्थूल शरीर से वर्जित होना अभिप्रेत है।[5] केनोपनिषद् (१।२।२२) में उसे 'अशरीरं शरीरेषु' प्राणियों के शरीरों में रहते हुए भी शरीररहित कहा गया है। शरीरधारी होने पर परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान् आदि कुछ भी न रहेगा। क्योंकि—

**न ह्यप्राप्तदेशे कर्त्तुः क्रिया ॥३१॥**

जहाँ कर्त्ता नहीं होता वहाँ क्रिया नहीं होती।

कर्त्ता के होने पर क्रिया होती है।[6] यदि ईश्वर को शरीरी माना जाएगा तो वह एकदेशी हो जाएगा। एक देश में अवस्थित हो जाने पर उसका सम्बन्ध सारे संसार के साथ नहीं रह सकेगा जो विश्व के संचालन तथा नियन्त्रण के लिए आवश्यक है। शरीरी एकदेशी परमात्मा न अनन्त विश्व का संचालन कर सकेगा, न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल की व्यवस्था कर सकेगा। अथर्ववेद में कहा है कि "जो मनुष्य खड़ा है, जो चल रहा है, जो दूसरों को ठगता है, जो छिपकर कुछ

---

१. **अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः।** —यजु० ४०।८

२. **निरुक्त,** १०।४२

३. **अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय।**—यजु० ४०।८

४. **अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं शुद्धरजस्तमोभिरपापविद्धंक्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्।**—तदेव

५. **अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जितः इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः।**—तदेव

६. **सकर्तृकैव क्रिया।**—शां० भा०

करतूत करता है और जब दो व्यक्ति मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उसे तीसरा होकर वरुण भगवान् जानते हैं।"[1] शरीरी एकदेशी परमात्मा ये काम कैसे कर सकता है? श्वेत० (६।११) में उसे '**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**' बताया है। हाड़-मांस से बने पुतले का इस प्रकार सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी होना असम्भव है और वैसा न होने पर वह सर्वज्ञ एवं सर्वनियन्ता नहीं रह सकता।

देहधारी मनुष्यों का शासनक्षेत्र सीमित होता है। समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में बड़े-से-बड़ा साम्राज्य भी एक अणु से अधिक नहीं निकलेगा। फिर देहधारी मनुष्य की शासन व्यवस्था न पूर्ण होती है, न निर्दोष। देहधारी कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो, कहीं-न-कहीं उसके सामर्थ्य की सीमा अवश्य होगी। शरीरी चेतन अपनी परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने तथा उसकी व्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी—एकदेशी उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का सम्पादन कर सके।

ईश्वर के साकार न होने में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**संयोगादुत्पद्यमानस्य संयोजयिताऽन्य एव ॥३२॥**

संयोग से उत्पन्न होनेवाले को संयुक्त करनेवाला उससे भिन्न होता है।

लोक में कोई कर्त्ता, अधिष्ठाता बिना शरीर के नहीं होता—इस आधार पर यदि ब्रह्मपुरुष के शरीरी होने की कल्पना की जाती है तो यह भी मानना होगा कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है, उस शरीर का निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं होता, उससे भिन्न कोई व्यक्ति होता है। यदि कर्त्ता का शरीरी होना आवश्यक है तो ब्रह्मपुरुष के शरीर की रचना करने—उसके आँख, कान आदि अवयवों को बना-जोड़कर उसे साकार करने के लिए भी उससे भिन्न शरीरी पुरुष का होना आवश्यक है। फिर उस अन्य पुरुष के शरीर की रचना करनेवाला उससे भिन्न एक अन्य शरीरी पुरुष अपेक्षित होगा। इस प्रकार करते

---

१. **यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।**
**द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥**
—अथर्व० ४।१६।२

रहकर अनवस्था-दोष की प्राप्ति हुए बिना न रहेगी। यदि दुर्जनतोष-न्याय से यह मान लिया जाए कि सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर स्वयं अपना शरीर बना लेता है तो शरीर धारण करने से पूर्व उसका निराकार होना स्वतः सिद्ध है। फिर, यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वयं शरीरी हुए बिना कर सकता है, तो बिना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी कर सकेगा।

साकार न होने में एक और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**सावयवत्वादाद्यन्तक्त्वम् ॥३३॥**

सावयव वस्तु आदि और अन्तवाली होती है।

ईश्वर सृष्टि का आदिकारण है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती। न उसका कोई कारण है और न वह स्वयं किसी का कार्य है। यदि ईश्वर कार्यरूप होता तो आकाश से पाताल पर्यन्त समस्त पदार्थ निःसार हो जाते और हम शून्यवाद को मानने के लिए विवश हो जाते। लोकलोकान्तर में जितने भावरूप पदार्थ हैं, वे अपने कारणों से उत्पन्न हैं। उनके कारण उनके अवयव हैं और जो वस्तु अवयवों से मिलकर बनती है वह अनित्य होती है। सावयव ब्रह्म भी अनित्य होगा।

जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता, अतः जो संयोगज है वह अनादि-अनन्त नहीं हो सकता। संसार में संयोगज पदार्थों का बनना-बिगड़ना प्रत्यक्ष है। कठोर-से-कठोर पाषाण, हीरा या फ़ौलाद को तोड़ने, गलाने या भस्म करके देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि ये सब परमाणुओं के संयोग से बने हैं। जो संयुक्त हैं वे समय पाकर वियुक्त अवश्य होंगे। जिन पृथिव्यादि पदार्थों की रचना संयोग-विशेष से हुई है वे अनादि नहीं हो सकते, और जो अनादि नहीं हैं वे अनन्त भी नहीं हो सकते। संयोग से उत्पन्न परमेश्वर भी अनादि-अनन्त नहीं होगा।

जो शरीर धारण करता है वह कभी-न-कभी उसका परित्याग भी अवश्य करता है। यदि जीवात्माओं की तरह परमात्मा भी कभी देह धारण करेगा और कभी परित्याग, तो वह भी जीवात्मा की तरह जन्म-मरण के चक्र में फँसकर मोक्ष का अभिलाषी होगा। इस प्रकार वह प्रकृति तथा जीवात्मपुरुषों का अधिष्ठाता न रहकर स्वयं सुख-दुःख का भोक्ता बन जाएगा।

सर्ग से पूर्व शरीरधारी ब्रह्म का अस्तित्व नहीं होगा और जब

अशरीर ब्रह्म द्वारा जगत्सर्ग जैसा महान् कार्य हो गया तो बाद में उसका शरीरी होना अन्यथा सिद्ध होगा।

इसपर आपत्तिकर्त्ता कहता है—

**सावयवत्वं ब्रह्मणो देहाङ्गवर्णनात् ॥३४॥**

ब्रह्म के देहाङ्गों का वर्णन होने से (ब्रह्म शरीरी है)।

वेदादि शास्त्रों में अनेकशः ईश्वर के शरीराङ्गों का वर्णन उपलब्ध है। **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** (ऋ० १०।९०।२); **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** (ऋ० १३।२।२६); **'सर्वतोमुखः'** (यजु० ३२।४); **'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेत० ३।१६) आदि अनेक वाक्यों से ईश्वर का सावयव-शरीरी होना सिद्ध है।

पुरुषसूक्त में कहा है कि 'उसका एकपाद समस्त भूत हैं और तीन पाद द्युलोक में हैं।'[1] माण्डूक्योपनिषद् में कहा है कि 'वह सर्वव्यापक तत्त्व ब्रह्म है। यह चार पादवाला है।'[2] इसी प्रकार छान्दोग्य में लिखा है—'हे सौम्य! मैं तेरे लिए ब्रह्म के एक पाद का रहस्य कहता हूँ।'[3] और यह कहकर उसके चार पाद और सोलह कलाओं का वर्णन किया है। इस सबसे ब्रह्म का माप सिद्ध होता है। जो तत्त्व मापा जा सकता है, वह परिमित है। जो परिमित है उससे 'पर' (परे) कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए, क्योंकि माप तभी सम्भव है जब उससे परे कोई अन्य वस्तु हो। इस प्रकार परमात्मा न निरवयव रहता है, न सर्वव्यापक।

अगले सूत्र में इस आपत्ति का विवेचन करते हुए ईश्वर के निरवयब होने की पुष्टि की है।

**तत्त्वौपचारिकम् ॥३५॥**

वह (देहाङ्गवर्णन) तो केवल औपचारिक (आलंकारिक) है।

वेदादि शास्त्रों में जहाँ कहीं भी इस प्रकार का कथन है वह परमात्मा के काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है जिसका अभिप्राय आलंकारिक रूप में उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तिर्यामिता, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट करना मात्र है। 'सहस्र' पद भी यहाँ 'अनेक'

---

१. **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**
—ऋ० १०।९०।३; अथर्व० १९।६।३; यजु ३१।३

२. **अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।**—माण्डूक्य० २

३. **ब्रह्मणः सौम्य! ते पादं ब्रवीमि।**—छां० ४।५।२

या 'असंख्य' का द्योतक है, नियत संख्या का नहीं।[1] वेदों के अन्तर्गत पुरुषसूक्त में तथा उपनिषदों में ब्रह्म के चार पाद व सोलह कलाओं के रूप में माप का कथन उसके वास्तविक अंशों को नहीं बतलाता, प्रत्युत उसका तात्पर्य ब्रह्म के विराट् रूप को सर्वसाधारण को सहज रूप से समझाने में है। पाद, अंश, भाग आदि एक ही अर्थ को कहते हैं। निरवयव अखण्ड ब्रह्म के किसी अंश या खण्ड की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए ब्रह्म का चतुष्पाद, सोलह कला आदि के रूप में कथन केवल औपचारिक है और उसकी पूर्णता का द्योतक है। यह कहकर कि उसके तीन पाद अपने अविनाशी रूप में रहते हैं, ब्रह्म के अनन्त माहात्म्य का वर्णन किया है। इसी प्रकार समस्त भूतों को एक पाद बतलाकर उसकी महान् सत्ता के सन्मुख अनन्त विश्व की तुच्छता का संकेत किया है। यद्यपि दृश्यमान जगत् को समझना भी अत्यन्त कठिन है, पर जब यह कहा जाता है कि यह समस्त विश्व उस परब्रह्म परमात्मा के एक अंश के समान है तो उसकी अतिशय महानता का कुछ आभास होना सम्भव है। जहाँ तक उससे परे किसी वस्तु के होने का सम्बन्ध है, वेद की स्पष्ट घोषणा है कि उससे परे कुछ नहीं है। परब्रह्म के सर्वव्यापित्व को व्यक्त करने के लिए उपनिषद् ने कहा—"जिससे 'पर' और 'अपर' कुछ नहीं है।"[2] "यह वह ब्रह्म है जिससे न कोई पूर्व है, न पर।"[3] जब ब्रह्म में पर-अपर का व्यवहार सम्भव नहीं तो उससे परे किसी तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार का वर्णन उसके सर्वत्र परिपूर्ण होने की व्याख्या है।

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद में ब्रह्म के विराट्रूप का यह वर्णन द्रष्टव्य है—"भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुनः-पुनः नवीन होता हुआ चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान हैं और जिसने दिशाओं को व्यवहार-साधन बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार

---

१. **अनेकपर्यायः सहस्रशब्दः** (उवट-यजु० ३१।१);
**असंख्यवाचकः सहस्रशब्दः** (महीधर व दयानन्द)

२. **यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।**—श्वेत० ३।९

३. **न परः तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरम्।**—बृहद्० २।५।१९

है।"[1] इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् में पाया जाता है। "तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, सूर्य व चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र और वेद वाणी हैं, वायु जिसका प्राण एवं विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर हैं—वही समस्त जगत् का अन्तरात्मा है।"[2] महीधर के अनुसार सृष्टि में जितने भी प्राणी हैं उन सबके सिर मानो परमात्मा के सिर हैं।[3] इस समूचे वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने के बाद कौन कह सकता है कि यहाँ ब्रह्म के प्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, कान आदि का उल्लेख है! उसके सहस्र सिर, पैर, आँख आदि का कथन उसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृतिक जगत् की उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक अथवा आलंकारिक है। इससे परमात्मा का शरीरी होना सिद्ध नहीं होता। ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है। किन्तु जब वह स्वयं अपने अस्तित्व—शरीर के लिए उसपर अवलम्बित और उसके विकारों से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा किस प्रकार कर सकेगा ?

यदि परमेश्वर निराकार है तो बिना करणों के सृष्टि-सम्बन्धी कार्य कैसे करता है—इसका समाधान अगले सूत्र में किया है।

**न बाह्यसाधनापेक्षत्वं सर्वान्तर्यामित्वात् ॥३६॥**

सर्वान्तर्यामी होने से उसे बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं।

चेतन ब्रह्म को अपने कार्य-सम्पादन करने तथा वस्तु-ज्ञान के लिए करण अपेक्षित नहीं होते। वह करणों के बिना सब विषयों का अवभास कर लेता है और बिना हाथ-पैर के सर्वत्र व्याप्त और सबको पकड़े हुए

---

१. यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्चपुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥—अथर्व० १०।७।३२-३४

२. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषः सर्वभूतान्तरात्मा॥
—मु० २।१।४

३. यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वम्।—यजु० ३१।१

हैं, बिना आँखों के सब-कुछ देखता और बिना कानों के सब-कुछ सुनता है।[1] वस्तुतः इन्द्रियों की साधनरूप में आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए पड़ती है। दूसरों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए वाणी की अपेक्षा होती है, अपने-आपसे बात करने के लिए नहीं। बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिए हाथ की आवश्यकता होती है, स्वयं हाथ को उठाने के लिए नहीं। इसी प्रकार कोई जहाँ नहीं है वहाँ पहुँचने के लिए पैरों की आवश्यकता पड़ती है। सर्वगत, सर्वत्र ओतप्रोत परमेश्वर को इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती।

परमेश्वर सबके भीतर भी विद्यमान है और बाहर भी। इसलिए उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया नहीं करनी पड़ती। तब उसे करणों की अपेक्षा क्यों हो? यजुर्वेद (४०।४) में उसे 'अनेजत्' (न हिलनेवाला) **'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** (स्थिर रहते हुए दौड़नेवालों से आगे निकलनेवाला) इसलिए कहा है, क्योंकि सर्वव्यापक होने से वह, जहाँ पहुँचना है, वहाँ पहले से वर्त्तमान है (पूर्वमर्षत्)। इस प्रकार बाह्य अङ्ग व इन्द्रियाँ न रखते हुए भी अन्तर्यामी होने के कारण वह सब शक्तियों का स्रोत है।

बिना साधनों के परमेश्वर किस प्रकार सृष्टि-रचना करता है?

**सङ्कल्पादेव सृष्टिः ॥३७॥**

(ईश्वर के) संकल्पमात्र से सृष्टि-रचना हो जाती है।

प्रलयकाल में प्रकृति तथा जीवात्माएँ सभी अव्यक्त रूप में अवस्थित रहते हैं। नामरूपात्मक जगत् सिमटकर ब्रह्म में लीन रहता है। उस अवस्था का तथा प्रलयकाल की समाप्ति पर जगत्सर्ग की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् में कहा है—"सोते हुओं में जो यह चेतन जागता है और संकल्प के अनुसार जगत् का निर्माण करता है, वही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है। सब लोकलोकान्तर उसमें आश्रित हैं, कोई उससे बाहर नहीं है।"[2] सुप्त तत्त्व प्रकृति तथा जीवात्मा हैं। प्रकृति एवं प्राकृतिक जगत् तो जड़ होने के कारण सदा ही सुप्तावस्था में रहते

---

१. **सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।**—श्वेत० ३।१७
**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः॥**—श्वेत० ३।१९

२. **य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥**
—कठ० ५।८

हैं। फिर, प्रलयकाल में तो दृश्यमान प्राकृत जगत् का अभाव होने से किसी प्रकार की हलचल भी नहीं रहती। जीवात्मा चेतन होने पर भी निश्चेष्ट होने के कारण सुप्त कहे जाते हैं। उस अवस्था में भी जो जागता रहता है, वह सोते हुओं से अतिरिक्त ब्रह्म है। सबको अपने भीतर धारण किये हुए वह निर्विकार रूप से सदा वर्त्तमान रहता है।[1]

जब हम किसी कार्य में प्रवृत्त होना चाहते हैं तो सबसे पहले मन में संकल्प करते हैं। संकल्प करते ही सम्बद्ध इन्द्रिय अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाती है। हम रात्रि में प्रातः चार बजे उठने का संकल्प करके सोते हैं। ठीक चार बजे बिना घड़ी का अलार्म बजे हमारी आँख खुल जाती है—मानो किसी ने हाथ पकड़कर उठा दिया हो। लोक में, बाह्य साधनों के बिना, मात्र संकल्पशक्ति के आधार पर अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति मिलते हैं। मैस्मेरिज़्म अत्यन्त निम्न कोटि की सिद्धि है। अपनी संकल्पशक्ति को साधारण स्तर से ऊँचा उठाने में समर्थ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर मैस्मेरिज़्म करके उससे जो चाहे करा सकता है। जिस प्रकार सामान्य जन अभ्यास के द्वारा अपनी संकल्पशक्ति से दूसरे व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने पर विवश कर सकता है, उसी प्रकार सर्वान्तिर्यामी होने से परमात्मा संकल्पमात्र से सृष्टिरचना करता है। उसके संकल्परूप ज्ञान का विषय प्रकृतितत्त्व और जीवात्मपुरुष हैं जिन्हें वह अपनी प्रेरणा द्वारा नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता है। सुषुप्तावस्था में पड़े जड़-चेतन सबको उठाकर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कर देता है।

लोक में निर्माण-कार्य के लिए उपादानतत्त्व से अतिरिक्त अनेक साधनों का जुटाया जाना देखा जाता है। तब परमात्मा, किसी साधन के बिना, संकल्पमात्र से, सृष्टि का निर्माण कैसे कर सकता है? ब्रह्म-सूत्रकार ने इस शंका का समाधान एक लौकिक दृष्टान्त के द्वारा किया है। वहाँ कहा है कि लोक में देखा जाता है कि गाय विशेष अवस्था में घास-तृण आदि खाकर अपने संकल्पमात्र से दूध का निर्माण करती है और संकल्पमात्र से ही वत्स के लिए स्रवित होती है।[2] इसी प्रकार सर्वशक्ति परमात्मा अपने संकल्पमात्र से प्रकृति को जगद्रूप में परिणत

---

१. **हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**···

—ऋ० १०।१२१।१; यजु० १३।४; २३।१; २५।१०; **अथर्व०** ४।२।७

२. **उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि।**—वे० द० २।१।२४

कर देता है। अल्पशक्ति कुम्हार या जुलाहे की भाँति उसे अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती। उसमें ज्ञान, बल और क्रिया—ये तीनों स्वाभाविक हैं, अर्थात् किसी अन्य कारण पर आश्रित नहीं हैं। इसलिए जगत्सर्ग के समय ब्रह्म का कार्य लौकिक प्राणियों के समान कोई चेष्टा आदि नहीं, न कोई कारण-साधन अपेक्षित हैं। न कोई उसके समान है, न अधिक। उसके साथ केवल उसकी त्रिगुणात्मिका पराशक्ति—प्रकृति अपने स्वाभाविक सत्त्व-रजस्-तमस् रूप में विद्यमान रहती है। वह ब्रह्मसंकल्प से जगद्रूप में परिणत हो जाती है।[1] महान् व्यक्तियों की शक्ति में कार्य की सफलता निहित होती है, उपकरणों में नहीं।[2]

प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत दृष्टान्त की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है—"जैसे लोक में बाह्य साधन के बिना दूध दही में अथवा जल हिम में स्वयं परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही बाह्य साधनों के बिना परमेश्वर सृष्टि का निर्माण करता है।[3] वस्तुतः दूध को दही-रूप में परिणत करने के लिए दूध को गरम करना, उपयुक्त गरमी रहने पर उसमें उचित मात्रा में जामन देना आदि अनेक साधन अपेक्षित होते हैं। आचार्य शंकर का कथन है कि ये साधन दूध को दही बनाने में बस शीघ्रता लाते हैं; ये न हों तो भी दूध का दही बन जाएगा, भले ही देर से बने या ठीक न बने। पर यथार्थ में ऐसी बात नहीं। अपेक्षित क्रिया के बिना दूध बिगड़ भले ही जाए, दही नहीं बनेगा; क्योंकि दही बनना दूध का स्वभाव नहीं है। यदि दूध का स्वतः दही-रूप में परिणत होना सम्भव हो तो जड़ प्रकृति चेतन की प्रेरणा के बिना जगद्रूप में परिणत हो जाए और इस प्रकार निमित्तकारण अन्यथा सिद्ध हो जाए।

प्रलय के अनन्तर परमेश्वर का जगत्सर्ग के लिए संकल्प होता है। वह कार्यकारण की व्यवस्था के लिए चिन्तन करता है। जो कारण जिस कार्यरूप में परिणत होने हैं वे सब परमेश्वर के ज्ञान व चिन्तन में व्यवस्थित हैं। यह संकल्प प्रकृति को प्रेरित करता है और प्रेरणा

---

१. **न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**
**पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥**
—श्वेत० ६।८; ज्ञान—सत्त्व, बल—तमस्, क्रिया—रजस् है।

२. **क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।**

३. **यथा हि लोके क्षीरं वा जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति।**—शां० भा० २।१।२४

होते ही रचनाक्रम प्रारम्भ हो जाता है। संकल्पमात्र से क्रिया इसलिए सम्भव है कि अभिध्याता अभिध्येय के भीतर विद्यमान है। अपने से बाहर क्रिया करने के लिए बाह्य उपकरण अपेक्षित होते हैं। समस्त लोक-लोकान्तर परमात्मा में आश्रित होने और कुछ भी उससे बाहर न होने के कारण उसकी इच्छा होते ही सर्वत्र क्रिया होने लगती है। जगत्सर्ग के लिए अभिध्यान की इस प्रक्रिया को 'तप' की संज्ञा देकर कहा है—"वह संकल्प करता है कि मैं बहुत होऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ। वह तप करता है और तप के द्वारा जगत् का निर्माण करता है।"[1] तप करना प्रकृति में प्रेरणा देना है।

परमेश्वर के इस 'अभिध्यान' या संकल्प को उपनिषदों में 'ईक्षण' अथवा 'कामना' आदि पदों से अभिव्यक्त किया है। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—"उसने ईक्षण किया—लोकों की रचना करूँ, उसने लोकों को बना दिया।"[2] इसी प्रकार छान्दोग्य में कहा—"उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत होऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।"[3] इसका विस्तार करते हुए आगे कहा—"उस अन्तर्यामी देवता ने ईक्षण किया—मैं इन तीन देवताओं (त्रिगुणात्मक प्रकृति) को इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ नामरूप से विस्तृत करूँ।"[4] यहाँ सर्वत्र 'अभवत्' क्रियापद न देकर 'असृजत' रखना सप्रयोजन है। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि परमात्मा सृष्टि का कर्ता, अधिष्ठाता, नियन्ता अथवा निमित्त-कारण मात्र है, उपादान अथवा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं।

उपनिषदों में अनेकत्र ब्रह्म की कामना का उल्लेख हुआ है। ब्रह्म तो 'आप्तकाम' अथवा 'पूर्णकाम' है। फिर, उसमें ऐसी चाहना क्यों? कामना होने के कारण यदि जीवात्मा को आनन्दमय नहीं माना जाता तो इस आधार पर परमात्मा को भी आनन्दमय नहीं माना जाना चाहिए। वस्तुतः जीवात्मा की कामना की परमात्मा की कामना से तुलना नहीं की जा सकती। जीवात्मा की कामना अपने लिए होती है, जबकि परमात्मा की जगत्सर्ग-विषयक कामना परार्थ अर्थात् जीवात्माओं

---

१. **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत।** —तैत्ति० २।६

२. **स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत।**—ऐत० १।१।२

३. **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**—छां० ६।३।२

४. **सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।**—छां० ६।३।२

के भोगापवर्ग के लिए अपेक्षित साधन जुटाने के लिए होती है। जीवात्मा स्वरूप से आनन्दमय नहीं है। इसलिए उसकी कामना अप्राप्त आनन्द को प्राप्त करने की भावना से प्रेरित होती है। परमात्मा की कामना उसका सत्य संकल्प है जो अनादि-अनन्त है। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना उसका स्वभाव है। सर्गादिविषयक सत्यसंकल्प का ही उपनिषदों में कामना रूप से उल्लेख हुआ है।

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत, जीव के ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने विषयक मान्यता का प्रतिपादन एक अन्य दृष्टान्त द्वारा करते हैं।—

**अन्तःकरणेषु ब्रह्मणः आभास एव चिदाभासाख्यो जीवः जलकुण्डेष्वर्कस्येव ॥३८॥**

अन्तःकरणों में चिदाभाससंज्ञक जीव, ब्रह्म का आभास है, जल-कुण्डों में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान।

सूर्य एक है, किन्तु जल से भरे सहस्र कुण्डों में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने पर सहस्र सूर्य दीख पड़ते हैं। वैसे ही अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास होता है जिसे चिदाभास कहते हैं। यह चिदाभास अपने मौलिक ब्रह्मरूप से अनभिज्ञ होने के कारण अपने-आपमें कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को आरोपित कर उपाधियों से ग्रस्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रतिबिम्बित होने से एक ही सूर्य विविध धर्मोंवाला हो जाता है। इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों (शरीरों) में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न गुण धारण कर लेती है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बों में परस्पर भेद जलकुण्डों अथवा दर्पणों के कारण होते हैं, उसी प्रकार निरपेक्ष अद्वितीय परब्रह्म भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के रूप में प्रकट होता है। प्रतिबिम्ब की मलिनताओं से मौलिक वस्तु अछूती बनी रहती है। जब उस जल में अथवा दर्पण में जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ते हैं हलचल होती है तो प्रतिबिम्ब के विक्षुब्ध होने से बिम्ब भी विक्षुब्ध प्रतीत होता है। परन्तु यथार्थ में जल के फैल जाने या तरंगित होने अथवा कुण्डों के नष्ट हो जाने से सूर्य का कुछ नहीं बिगड़ता, अथवा जिस प्रकार अग्नि उस वस्तु के रूप तथा आकार को धारण कर लेती है जिसमें वह प्रविष्ट होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देहों में प्रविष्ट एक ब्रह्म

भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है ।[1] जबतक अन्तःकरण हैं तभी तक जीव की प्रतीति होती है । ज्ञान द्वारा अन्तःकरण के नष्ट हो जाने पर प्रतिबिम्बों का अस्तित्व स्वतः नष्ट हो जाता है और केवल यथार्थ सत्ता रह जाती है ।

उक्त दृष्टान्त से सम्बन्धित तर्क का खण्डन करते हैं—

**आभासो देशान्तर एव स्वदेशे साक्षात् सत्त्वात् ॥३९॥**

आभास देशान्तर में होता है, स्वस्थान में प्रत्यक्ष होने से ।

जो पदार्थ जहाँ स्वयं विद्यमान है वहाँ उसका आभास नहीं हो सकता । 'ज्यों आँखन सब देखिहैं आँख न देखी जाय' । आँख में दूरस्थ पदार्थों की छाया पड़ती है, किन्तु अपनी नहीं, क्योंकि आँख वहाँ स्वयं विद्यमान है । यदि आँखों को या आँख में पड़े सुरमे को देखना हो तो देशान्तर अर्थात् दर्पण अथवा जल में देखा जा सकता है। सूर्य जलकुण्डों से और जलकुण्ड सूर्य से दूर है । जहाँ एक है वहाँ दूसरा नहीं । अतः सूर्य का अपने से दूर देशान्तर में स्थित कुण्डों में आभास सम्भव है । अध्यस्त से अधिष्ठान सदा भिन्न होता है । यदि दो पदार्थों में दूरी न हो अर्थात् एक-दूसरे से पृथक् न हों तो भी एक का दूसरे में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता ।

ब्रह्म की यह स्थिति नहीं है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं ।

**सर्वव्यापित्वान्न तदाभासः ॥४०॥**

सर्वव्यापक होने से उस (ब्रह्म) का आभास नहीं हो सकता ।

यदि जीवात्मा प्रतिबिम्ब हैं तो ब्रह्म अर्थात् वह पदार्थ जिसका वे प्रतिबिम्ब हैं, प्रक्षेपक से बाह्य होना चाहिए। यथार्थ सत्ता को, जो मौलिक है, अवश्य ही विश्व तथा सृष्टि के समस्त पदार्थों से परे होना चाहिए । परन्तु ब्रह्म तो सर्वव्यापक है। वह समस्त विश्व में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर विद्यमान है ।[2] प्रत्येक पदार्थ के भीतर और बाहर परब्रह्म की विद्यमानता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि न वह किसी पदार्थ से दूर है और न कोई पदार्थ उससे दूर है । ब्रह्म सबके अन्तःकरणों में है और सब अन्तःकरण ब्रह्म में हैं । ऐसी अवस्था में ब्रह्म के लिए कहीं भी देशान्तर

---

१. **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥**—कठ० ५।९

२. **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।**—यजु० ४०।५

नहीं है। देशान्तर अथवा दूरी न होने से, जलकुण्डों में सूर्य की भाँति अथवा दर्पण में मुख की भाँति, उसका आभास सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब किसी एक वस्तु का उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु में होता है। जीव और ब्रह्म को एक मानने पर प्रतिबिम्बित पदार्थ ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं रहता। तब, अधिष्ठान के अभाव में प्रतिबिम्ब होगा कहाँ ? फिर, सूर्य और जलकुण्ड दोनों आकारवाले हैं। यदि निराकार होते तो प्रतिबिम्ब कभी न पड़ता। परमेश्वर के निराकार होने से उसके आभास की कल्पना निराधार है।

जब पानी केवल क्यारी के भीतर रहता है तो वह पानी के आकार-वाला दीखता है, किन्तु जब वह क्यारी के अन्दर-बाहर सर्वत्र आप्लावित रहता है तो वह आकारहीन हो जाता है। गोल पदार्थ में प्रविष्ट होकर गोल और चौकोर पदार्थ में प्रविष्ट होकर चौकोर अग्नि इसलिए दीख पड़ती है क्योंकि वह उस पदार्थ के भीतर रहती है। अन्दर-बाहर सर्वत्र रहने पर वह उस वस्तु के रूप तथा आकार को धारण नहीं कर सकती। इस प्रकार यदि परमात्मा अन्तर्यामी-रूप से जीवात्मा के भीतर रहता तो, सम्भव है, अग्नि का दृष्टान्त उपयुक्त होता, अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रविष्ट एक ब्रह्म भिन्न-भिन्न नामरूप धारण कर लेता। परन्तु परमात्मा के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त होने से उसके पृथक्-पृथक् नामरूप की कल्पना सम्भव नहीं।

यह दृष्टान्त कि जिस प्रकार एक सूर्य भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रतिबिम्बित होकर विविध धर्मोंवाला हो जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों अथवा अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न गुण धारण लेती है, तर्कसंगत नहीं, क्योंकि गुण जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, प्रतिबिम्ब के माध्यम से सम्बद्ध हैं, सूर्य से नहीं। यदि इस दृष्टान्त को ठीक माना जाए, तो आत्माओं के सम्बन्ध में प्रकट होनेवाले विविध गुण शरीरों से सम्बद्ध होंगे, आत्मा से नहीं। किन्तु सुख-दुःखादि तो चेतन आत्मा के गुण हैं, जड़ शरीर या अन्तःकरण के नहीं। मधुसूदन सरस्वतीकृत 'सिद्धान्तबिन्दु' 'न्याय-रत्नावलि' में जड़ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—**"स च ज्ञानस्वरूप-भिन्नत्वाज्जडः, जानामीति ज्ञानाश्रयत्वेन स भाति न ज्ञानरूपत्वेन।"**

जब यह कहा जाता है कि ब्रह्म के सान्निध्य के कारण अहङ्कार ज्ञाता बन जाता है जो अहङ्कार में प्रतिबिम्बित हो जाता है तो

रामानुज पूछता है—"क्या चैतन्य अहङ्कार का प्रतिबिम्ब होता है अथवा अहङ्कार चैतन्य का प्रतिबिम्ब बनता है? प्रथम प्रकार का विकल्प स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आप चैतन्य के अन्दर ज्ञाता बनने का गुण स्वीकार नहीं करेंगे। यही बात दूसरे विकल्प के विषय में भी है, क्योंकि जड़ अहङ्कार कभी भी ज्ञाता नहीं बन सकता।"[1]

एकमात्र ब्रह्म के जीवरूप होने में एक आपत्ति का निर्देश करते हैं—

**नैकस्मादनेकोत्पत्तिर्निरवयवत्वात् ॥४१॥**

एक ब्रह्म से अनेक (जीवों) की उत्पत्ति सम्भव नहीं, उसके निरवयव होने से।

यह कहना कि एकमात्र ब्रह्म से यह विविध जगत् अभिव्यक्त हो जाता है, केवल कथनमात्र है। जो केवल एक है, वह स्वरूप से अनेक नहीं हो सकता। 'एक और एक' इस समुदाय से अनेकता का आरम्भ होता है। जगत्सर्ग के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के अनुसार मूल में एकमात्र तत्त्व का अनेक हो जाना सम्भव नहीं। एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व विविध जगद्रूप में भासित हो जाता हो, ऐसा सम्भव नहीं। इसलिए एकमात्र तत्त्व से अनेकत्व की अभिव्यक्ति माननेवालों को माया की कल्पना करनी पड़ी। माया विविधरूप है। प्रकृति का अपर नाम माया होने से[2] यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। वह स्वयं विविध एवं अनन्त रूप है। इसलिए उससे अनेकात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव है।

अनेकात्मक जड़ जगत् की भाँति अनेक जीवों को भी एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता। परमेश्वर एक है, अद्वितीय है।[3] सृष्टि-रचना में निमित्तकारण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। रामानुज के अनुसार 'अद्वितीय' का यही तात्पर्य है। 'अद्वितीय' का अर्थ है—साजात्य, वैजात्य तथा स्वगतभेद से शून्य।[4] एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का 'सजातीय' है, पशु तथा वृक्षादि का 'विजातीय' है, एक ही शरीर में आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि का भेद 'स्वगतभेद'

१. रामानुज—वेदान्तभाष्य, १।१।१
२. **मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्।**—श्वेत० ४।१०
३. **एकमेवाद्वितीयम्।**—छां० ६।२।१
४. **साजात्यवैजात्यस्वगतभेदशून्यत्वादेकमेवाद्वितीयम्।**—स० वि० २।४६

है। परमात्मा 'स्वगतभेद' से शून्य है—इससे स्पष्ट है कि वह निरवयव है। एक तथा अनेक में अनन्यत्व सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—"जैसे अनेक शाखाओं से युक्त होने पर भी वृक्ष एक रहता है; फेन तथा तरंगों के अनेक होने पर भी समुद्र एक रहता है और घट, शरावा आदि नाना नामरूपात्मक वस्तुओं का कारण होने पर भी उपादान मिट्टी एक रहती है, उसी प्रकार अनेक शक्तियों से युक्त होने पर भी ब्रह्म एक है।"[1]

ब्रह्म का जीवों के साथ जो सम्बन्ध है, उसे प्रकट करने के लिए वृक्ष का शाखाओं के साथ, समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का उससे बने बर्तनों के साथ वाले दृष्टान्त उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि इन सबमें पूर्ण इकाई का जो उसके भाग से सम्बन्ध है; एवं द्रव्य का जो गुण के साथ सम्बन्ध है, ब्रह्म तथा जीवात्माओं का वैसा सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, क्योंकि दोनों ही निरवयव हैं। ब्रह्म तथा जीवात्माओं में न तो बाह्य अर्थात् संयोग-सम्बन्ध बनता है और न आन्तरिक अर्थात् समवाय-सम्बन्ध। वृक्ष की जड़, तना, शाखाएँ आदि उसके अवयव हैं। उन सबके समुच्चय का नाम वृक्ष है। यदि जीवात्माएँ वृक्ष की शाखाओं आदि के समान हों तो ब्रह्म सावयव होगा और सावयव होने से अनित्य होगा। परन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकर स्वयं ब्रह्म को निरवयव मानते हैं।[2] ब्रह्म के निरवयव होने के कारण ब्रह्म और जीवात्माओं को वृक्ष और उसकी शाखाओं के समान एक नहीं माना जा सकता। वृक्ष की समस्त शाखाएँ मुख्य लक्षणों में एक-दूसरे के समान हैं तथा वृक्ष से उनका अभेद है। परन्तु जीवात्माएँ मुख्य लक्षणों में ब्रह्म से तथा गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न हैं। एक ही उत्तेजक के प्रत्युत्तर में विभिन्न प्राणियों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। एक आत्मा के कर्म दूसरी आत्मा की परिस्थितियों में कारण नहीं बन सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा और सामर्थ्य के

१. नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरंगाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्।—शां० भा० २।१।१४

२. जीव ईश्वरस्यं अंश इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति।
—शां० भा० २।३।४३

अनुसार शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता तथा तदनुसार फल पाता है। इसलिए वृक्ष की शाखाओं की भाँति समस्त जीवों को परमात्मा का अवयवरूप नहीं माना जा सकता।

मिट्टी घड़े, शकोरे आदि के रूप में परिवर्तित होती है तथा समुद्र-जल में फेन और तरंगें प्रादुर्भूत होती हैं, परन्तु घड़े या शकोरे में मिट्टी की और फेन आदि में जल की सत्ता बराबर बनी रहती है। यदि परमात्मा और जीवात्मा में वही सम्बन्ध हो जो मिट्टी और घड़े में, जल और तरंगों में है तो जीवात्माओं में ब्राह्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म के तात्त्विक गुण यथायथ वर्तमान रहने चाहिएँ तथा समस्त जीवात्माएँ जल की तरंगों की भाँति परस्पर एक-जैसी होनी चाहिएँ, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

माया से अभिभूत अद्वैतवादी कहता है—"हम जानते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और हम ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि हम न केवल ब्रह्म से भिन्न हैं, अपितु एक-दूसरे से भी भिन्न हैं। हमारे ज्ञान और अनुभव में जो यह अन्तर है, उसका क्या कारण है?" हम पूछते हैं—"क्या यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान मानवस्वभाव में अन्तर्हित है? यदि ऐसा होता तो प्रत्येक मनुष्य को यही समझना चाहिए था, केवल अद्वैतवादी को नहीं। वस्तुतः तुम्हारी अनुभूति तुम्हारे प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव पर आधारित है, इसलिए वह यथार्थ है। इसके विपरीत तुम्हारा तथाकथित ज्ञान सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होने से मिथ्या है।"

रामानुज ने शंकर की इस मान्यता का प्रतिवाद करते हुए कहा कि यदि नानात्व की सत्ता न होती तो एकत्व की कल्पना सम्भव न होती। यदि नानात्व मिथ्या हो तो शास्त्रों के तत्सम्बन्धी वचन निरर्थक होंगे। शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वह जीवात्माओं की अनेकता को मानकर कहा गया है। गीता में कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं या तू या ये राजा लोग नहीं थे और न कोई ऐसा समय होगा जब हम सब नहीं रहेंगे।"[1] 'एक से अनेक' होने का अर्थ है कि पहले कोई वस्तु 'एक' थी, कालान्तर में वह 'अनेकरूप' हो गई। परन्तु यदि नानात्व नित्य है तो उसके किसी भी रूप में एक से

१. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥—गीता० २।१२

प्रादुर्भूत होने अथवा प्रतीत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस श्लोक में गीताकार ने जीवात्माओं के नित्यत्व का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने के साथ-साथ 'इमे', 'वयम्', आदि बहुवचनान्त प्रयोगों से उनके अनेक होने की भी पुष्टि कर दी है। यही नहीं, 'त्वम्', 'अहम्' तथा 'इमे' का प्रयोग किये जाने से सबका परस्पर भेद भी स्पष्ट कर दिया है। शंकराचार्य ने इस श्लोक के भाष्य में लिखा—"यहाँ जीवात्माओं के बहुत्व का वर्णन देहों के भेद के अभिप्राय से है, आत्मा के भेद के अभिप्राय से नहीं।"[1] आचार्य ने वेदान्त के 'अंशाधिकरण' तथा 'प्रयोजनवत्त्वाधिकरण' में जीवात्माओं का नानात्व तथा परस्पर भेद स्वीकार किया है, क्योंकि इसके बिना उक्त अधिकरणों में पाप-पुण्य की व्यवस्था सम्भव नहीं बन सकती थी। प्रस्तुत सन्दर्भ में उससे विरुद्ध ब्रह्मात्मैक्य को मानने तथा नानात्व का प्रतिवाद करने से पूर्वोत्तर-विरोध तथा अभ्युपगम-विरोध आता है। इससे पूर्व तथा बाद के श्लोकों (२।११,१३) में आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिए उससे भिन्न देहादि जड़ जगत् को अनित्य मानते हुए कहा है कि ज्ञानी जन अनित्य शरीर के नाश का शोक नहीं करते। यहाँ पर ब्रह्म के नित्यत्व का अथवा लौकिक एवं परमार्थभूत जीवों के भेदाभेद का कोई प्रसंग ही नहीं है। 'ऐसा समय न कोई था और न होगा जब मैं, तू या ये राजा लोग नहीं थे या नहीं होंगे'—इस कथन से स्पष्ट है कि यहाँ प्रत्येक जीवात्मा को न केवल एक-दूसरे से भिन्न, अपितु सृष्टि का समसामयिक बताया है। यह निर्विवाद है कि गीता मूलतः एवं मुख्यतः उपनिषदों पर आधारित है। कठोपनिषद् की घोषणा है कि "परब्रह्म नित्य जीवों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतों में एक है।"[2] यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि परमात्मा सावयव है और जीवात्माएँ उससे पृथग्भूत अवयवमात्र हैं तो इससे परमात्मा का विघटन होकर अन्ततः उसका विनाश निश्चित है।

आपत्तिकर्त्ता जीवात्माओं के नानात्व के विरुद्ध तर्क उपस्थित करता है—

**भेदस्त्वौपाधिकः ॥४२॥**

भेद उपाधि के कारण है (वास्तविक नहीं)।

---

१. देहभेदानुवृत्य बहुवचनं नात्मभेदाभिप्रायेण।

२. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्।—५।१३

यह ठीक है कि एकत्व से बहुत्व उत्पन्न नहीं हो सकता, परन्तु बहुत्व है ही कहाँ ? वह तो कल्पित है—छलावामात्र है। जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य एक होता हुआ भी अनेकों घोड़े, हाथी आदि देखता है, परन्तु जागने पर मालूम होता है कि वास्तव में वह अकेला था, उसी प्रकार जादूगर तमाशा करते समय कभी आम, कभी सेब, कभी सन्तरा दिखा देता है, किन्तु वास्तव में वहाँ उसके पास कुछ भी नहीं होता। वैसे ही संसार में बहुत्व सर्वथा मिथ्या है। उसकी प्रतीतिमात्र होती है। वस्तुतः जीवात्माएँ एक ही ब्रह्म का आभासमात्र हैं। अन्तः-करणोपाधि के कारण एक ही ब्रह्म अनेक रूपों में दीखता है, जल में पड़नेवाले सूर्य के प्रतिबिम्बों की तरह।[1] चेतन ब्रह्म का जीव-व्यवहार केवल अन्तःकरण की उपाधि के कारण है।[2] देहादि संघात की उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न अविवेक के कारण ईश्वर और जीव का भेद मिथ्या है।[3]

इस तर्क का प्रत्याख्यान करते हैं—

**न मोक्षावस्थायामपि जीवात्मसत्त्वात् ॥४३॥**

मोक्षावस्था में भी जीवात्मा के अस्तित्व के कारण (भेद औपाधिक) नहीं।

अविद्या का नाश और कर्मबन्धन अर्थात् संस्कारों से मुक्त हो जाने पर मोक्षलाभ होता है। आचार्य शंकर ने अविद्या की निवृत्ति अथवा सम्यग्ज्ञान को मोक्ष के नाम से अभिहित किया है।[4] यदि चेतन ब्रह्म का जीव-व्यवहार केवल अविद्योपाधि के कारण है, अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के कारण एक ही ब्रह्म का अनेक जीवों के रूप में आभास हो रहा है तो अविद्या का नाश होने और उसके फलस्वरूप देहबन्धन से मुक्त होकर मोक्षावस्था में पहुँचने पर उसका अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। किन्तु युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है कि मोक्षावस्था में भी जीवात्मा का अस्तित्व बराबर बना रहता है। स्थूल शरीर और

१. आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः।
—शां० भा० २।३।५०

२. उपाधितन्त्रो हि जीवः।—शां० भा० २।३।४६

३. देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः।
—शां० भा० १।१।५

४. अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः (मुण्डक० शां० भा० १।५); अविद्यानिवृतौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः।—तैत्ति० शां० भा० प्रस्तावना

इन्द्रियों का अभाव हो जाने पर भी शुद्ध संकल्पमय शरीर के साथ जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में बना रहता है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् में बड़े स्पष्ट शब्दों में मोक्षावस्था में जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि हृदयाकाश में स्थित अविनाशी, चेतनस्वरूप तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है और साथी रहते हुए सब प्रकार से तृप्त रहता है।[2]

इस विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक साक्षी स्वयं आचार्य शंकर की है। वेदान्तसूत्र (४।४।१७) के भाष्य में वे लिखते हैं—"जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् के उत्पादन आदि में मुक्तात्माओं का सहयोग-सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में विरोध खड़ा हो जाए।"[3] इस लेख से स्पष्ट है कि मोक्ष-दशा में भी जब अविद्या का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, जीवात्मा का भिन्न एवं स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। इतना ही नहीं, सब आत्माएँ पृथक्-पृथक् अपना स्वत्व बनाये रखती हैं। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि जीवात्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत है एवं आत्मा ब्रह्म का आभासमात्र है जो अविद्योपाधि के कारण है। अन्तःकरण के नष्ट हो जाने पर भी जीवात्मा का अस्तित्व बने रहने से स्पष्ट है कि जीवात्मा अपनी सत्ता के लिए अन्तःकरण पर आश्रित नहीं है। अतएव अन्तःकरणोपाधि का राग अलापना निरर्थक है।

स्वप्न का दृष्टान्त तबतक संगत नहीं हो सकता जबतक यह सिद्ध न हो कि हम वास्तव में स्वप्न की स्थिति में हैं। यह सिद्ध हो जाने पर भी कि हम स्वप्नावस्था में हैं, स्वप्न की प्रक्रिया का विवेचन अपेक्षित रहता है। आखिर स्वप्न किसे होता है और क्यों होता है? जाग्रत् से

---

१. परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।—छां० ८।३।४

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति।—तै० २।१

३. जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे···एतेषामनेकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।
—शां० भा० ४।४।१७

स्वप्नावस्था में और स्वप्नावस्था से जाग्रत्-अवस्था में परिवर्त्तन किन परिस्थितियों में होता है और क्यों होता है ? उन परिस्थितियों के लिए उत्तरदाता कौन है ? इन प्रश्नों का समाधान न होने के कारण संसार को प्रतीति या छलावामात्र माननेवालों के भी कई भेद हो गये हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों यह और उलझती जाती है।

जीवात्माओं की औपाधिक सत्ता मानने में आपत्ति का निर्देश अगले सूत्र में किया है—

**औपाधिकात्मवादे तत्त्वज्ञानोपदेशस्यानर्थक्यम् ॥४४॥**

जीवात्माओं की सत्ता उपाधिजन्य होने पर तत्त्वज्ञान का उपदेश देना निरर्थक होगा।

अविद्या गुण है, इसलिए वह किसी द्रव्य के आश्रित ही रह सकती है। अद्वैतमत में जीव तो अविद्या की उपज है, ब्रह्म ही एकमात्र चेतन सत्ता है, अतः वही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी ? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय लग गई—तो उपाधि पहले कहाँ थी ? कहीं-न-कहीं होगी तो अवश्य। न होती तो आती कहाँ से ? क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो नहीं सकती। जब वह पहले से थी, तो किसके आश्रित थी ? अद्वैतमत में अन्य किसी द्रव्य की सत्ता नहीं है। तब निश्चय ही उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी उपाधि भी अनादि है। अनादि होने से अनन्त और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधि के नित्य तथा ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी रहेगा। इस प्रकार अविद्या के कारण जन्म-मरण के बन्धन में रहनेवाले ब्रह्म अथवा ब्रह्मरूप जीव को उपदेश देने का क्या लाभ ? गीता के पूर्वोद्धृत (२।१२) श्लोक पर टीका करते हुए रामानुज ने लिखा है—"जिस प्रकार परमेश्वर नित्य है, उसी प्रकार सभी जीवात्मा नित्य हैं। जीवों का सर्वेश्वर परमात्मा से और जीवों का परस्पर में भेद यथार्थ है। अज्ञानमोहित अर्जुन के प्रति अज्ञाननिवृत्ति के लिए पारमार्थिक रूप में जीवात्माओं की नित्यता का उपदेश करते समय 'अहम्, त्वम्, इमे सर्वे, और वयम्' (मैं, तुम, ये सब व हम) इन पदों का प्रयोग इसी प्रयोजन से किया गया है। उपाधिकृत आत्मभेद मानने पर आत्माओं का तात्त्विक

भेद नहीं ठहरता। यदि भेद वास्तविक न होकर औपाधिक होता तो तत्त्वज्ञान का उपदेश करते समय अतात्त्विक भेद का निर्देश करना संगत न होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म पहले ज्ञानी था और कालान्तर में उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी हो गया और पीछे शास्त्र द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर पुनरपि ज्ञानी हो गया, क्योंकि ऐसा मानने से **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** (मु० १।१।९), **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** (श्वेत० ६।८), इत्यादि शास्त्रवचनों का विरोध होता है। यदि यह कहा जाए कि प्रतिबिम्ब की भाँति प्रतीत होनेवाले अर्जुनादि को उपदेश दिया, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि कोई मनुष्य जो उन्मत्त नहीं है, मणि, तलवार या दर्पण आदि में दीखने-वाले प्रतिबिम्बों को अपना और उनका अभेद जानते हुए किसी प्रकार का उपदेश नहीं करेगा।"[1] इस प्रकार ब्रह्म और जीवात्मा को तत्त्वतः एक मानने पर भेद का और तत्त्वतः भिन्न मानने पर एकत्व का उप-देश देना व्यर्थ है।

यदि अन्तःकरणोपाधि से जीव की सत्ता को माना जाए तो क्या आपत्ति है?

**अन्तःकरणोपाधियोगात् सार्वत्रिकं ब्रह्मदूषणम्** ।।४५।।

अन्तःकरण की उपाधि के योग से (ब्रह्म को जीव मानने पर) सम्पूर्ण ब्रह्म दूषित हो जाएगा।

जीवात्मा को ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब मानने पर ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की कल्पना अन्तःकरण में की जाती है। अन्तःकरण में ब्रह्म के उसी प्रदेश का आभास होगा जो उससे सम्बद्ध है। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह निरन्तर गतिशील रहता है। अन्तःकरण भी उसके साथ-साथ देशान्तर में जाता रहता है, परन्तु ब्रह्म अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि कूटस्थ होने से ब्रह्म सर्वत्र समानरूप से वर्त्तमान है। अन्तःकरण के साथ-साथ आभास बदलता रहेगा, क्योंकि ब्रह्म स्वरूप से अचल एवं अखण्ड है और अन्तःकरण परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी होने से चलायमान तथा खण्ड-खण्ड हैं, इसलिए जैसे छाता जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ आवरण होने से छाया और जहाँ-जहाँ से हटता जाता

१. रामानुज-गीताभाष्य, २।१२

है वहाँ-वहाँ आवरण हट जाने से धूप होती रहती है, वैसे ही जहाँ-जहाँ अन्तःकरण जाएगा, वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ज्ञानी होता रहेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक और स्वरूपतः पवित्र ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ते रहेंगे। परिणामतः अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानने पर नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म सदा दूषित होता रहेगा। इसी प्रकार जैसे शरीर के किसी भाग में फोड़ा होने पर सारे शरीर में वेदना अनुभव होती है, वैसे ही किसी एक अन्तःकरण में अनुभव होनेवाले सुख, दुःख, अज्ञान आदि से सम्पूर्ण ब्रह्म अभिभूत होगा।

फिर, चिदाभास अपने बाह्यरूप को कैसे भूल जाता है? वह किसी जड़ या अचेतन पदार्थ का नहीं, अपितु सच्चिदानन्दस्वरूप का प्रति-बिम्ब या आभास है। चिदाभास के सिद्धान्त के अनुसार, यदि ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर, एक स्थान पर जन्म-मरण के बन्धन में आ जाता है तो अज्ञान के सर्वत्र व्याप्त हो जाने से सम्पूर्ण ब्रह्म जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में आये बिना न रहेगा।

**कर्मभोक्तृत्वव्यतिकरश्च ॥४६॥**

और कर्म व भोग में मिश्रण (सांकर्य) होगा।

चिदाभास के रूप में ब्रह्म तथा जीव का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप हो जाने से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उनके फलोपभोग की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि अभेदरूप से वे सब एक ब्रह्म हैं। जिस आभास अर्थात् अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेश ने कोई कर्म किया, भोगकाल में उसके स्थानान्तरित हो जाने से उसी के द्वारा भोगे जाने की व्यवस्था सम्भव नहीं होगी। इस प्रकार अभेद विचार में करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होगा। चेतन ब्रह्म का जीव-व्यवहार केवल अन्तःकरण-उपाधि के अधीन मान लेने पर, उपाधि के स्थानान्तरित होते रहने से, 'जीव' पद से व्यवहार्य एक ही चेतन प्रदेश नहीं रहता। तब सांकर्य से कैसे बचा जा सकता है? यदि यह कहा जाए कि अखण्ड ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना नहीं की जा सकती तो समस्त अन्तःकरणों का एकमात्र ब्रह्म से सम्बन्ध होने पर यह अव्यवस्था या सांकर्यदोष और अधिक उभरकर सामने आएगा। तब सबके कर्म व भोग सबमें प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना न मानने का अर्थ यह होगा कि अन्तःकरण में पूर्ण अखण्ड ब्रह्म प्रतिबिम्बित

होता है, तब अन्तःकरण अनन्त होने के कारण उतने ही ब्रह्म भी मानने होंगे। यह शास्त्र एवं युक्ति-प्रमाण के विरुद्ध होने से सर्वथा अमान्य है। जो कर्म करे वही उसका फल भोगे—यह जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने पर ही सम्भव है। जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानकर असंख्य ब्रह्म मानने अथवा उसे खण्ड-खण्ड करने से जीवात्मतत्त्व को स्वतन्त्र एवं असंख्य मानना ही ठीक है।

**प्रतिक्षणं बन्धमोक्षौ ॥४७॥**

प्रतिक्षण बन्ध और मोक्ष होंगे।

ज्ञान से मुक्ति होती है और अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान से बन्धन।[1] जब अन्तःकरणोपाधि के कारण अपने स्वरूप को भूलकर ब्रह्म कभी ज्ञानी तथा कभी अज्ञानी होगा तो जहाँ-जहाँ का ब्रह्म ज्ञानी होता जाएगा वहाँ-वहाँ का मुक्त और जहाँ-जहाँ का अज्ञानी होता रहेगा वहाँ-वहाँ का बद्ध होता जाएगा। इस प्रकार क्षण-क्षण में ब्रह्म के ज्ञानी और अज्ञानी होते रहने से बन्ध और मोक्ष भी क्षणभंगुर तथा एकदेशी हुआ करेंगे। इसके अतिरिक्त एक ही ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष युगपत् (किसी भाग में बन्ध और किसी में मोक्ष) होते रहेंगे जो सर्वथा असम्भव है।

**न प्रत्यभिज्ञानम् ॥४८॥**

न प्रत्यभिज्ञा होगी।

अनुभव होने के अनन्तर प्रमाता को उस विषय का जो स्मरण होता है उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। इसी प्रतीति को प्रत्यभिज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। यदि अन्तःकरण की उपाधि के कारण ब्रह्म की स्थिति बदलती रहे और इस कारण प्रत्येक भाव क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वदृष्टश्रुत का ज्ञान किसी को न होगा, क्योंकि 'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति' इस न्याय के अनुसार अन्य के देखे-सुने का अन्य को स्मरण नहीं होता। ऐसा सम्भव हो तो सबको सबके अनुभव का स्मरण होना चाहिए, जो लोक में सर्वथा असिद्ध है। देशकाल के अनुसार द्रष्टा बदलता रहेगा। जिस चिदाभास ने कल मथुरा में देखा-सुना था वह चिदाभास आज काशी में नहीं रहा और जो आज काशी में है वह कल दिल्ली में नहीं रहेगा, क्योंकि जो मथुरास्थ अन्तःकरण

---

१. ज्ञानान्मुक्तिः, बन्धो विपर्ययात्।—सां० ३।२३, २४

का प्रकाशक था वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं है और जो काशीस्थ अन्तः-करण का प्रकाशक है वह दिल्ली का ब्रह्म नहीं होगा। यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक है, इसलिए उसे स्मरण रहता है तो एक देश में अज्ञान का दुःख होने पर सर्वत्र अज्ञान का दुःख होना चाहिए किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अन्तःकरण जड़ होने से स्वयं ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकते।

देवदत्त का पाँच वर्ष के अन्तराल के पश्चात् घर लौटने पर यह कहना कि 'मैं अपने घर और अपने पारिवारिक जनों के बीच लौट आया हूँ' सिद्ध करता है कि न प्रमाता देवदत्त क्षणिक है और न प्रमेय 'घर' या 'पारिवारिक जन'। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्र तथा नित्य सत्ता को स्वीकार किया जाए। डा० राधाकृष्णन की मान्यता है कि "ज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञान अथवा अनुभव तथा स्मरण का आश्रय एक ही व्यक्ति होना चाहिए। इसलिए अपने अनुभव का स्मरण करनेवाला प्रमाता क्षणिक नहीं हो सकता।[1] यदि यह कहा जाए कि दोनों अवस्थाओं में प्रमाता के एक होने का विश्वास दो या अधिक अनुभवों में सादृश्य के कारण है तो इससे भी सादृश्य को अनुभव करने में समर्थ किसी नित्य सत्ता के अस्तित्व की सिद्धि होती है।"[2] वस्तुतः सादृश्य की प्रतीति समय-समय पर हुए अनुभवों से निरपेक्ष नया अनुभव नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि 'यह उसके समान है' तो 'यह' और 'वह' और उनमें सादृश्य का कथन एक काल में किये जाने से स्पष्ट है कि सादृश्य की प्रतीति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह प्रमाता के नैरन्तर्य पर आश्रित है।

रामानुज ने 'अनुस्मृति' को 'प्रत्यभिज्ञान' कहा है।[3] यदि प्रत्येक

---

१. न क्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञाबाधात्। सा० १।३५

२. The moments of cognition and recognition, perception and remembrance should belong to the same person and so he cannot be regarded as momentary. If it be said that belief in one and other same experiencing subject arises from the similarity of two or more cognitions of the self, the recognition of similarity implies a person who is permanent enough to discern the similarity of different cognitions.

—Radhakrishnan : Brahma Sutra, 2.2.25

३. अनुस्मरणं पूर्वानुभूतवस्तुविषयं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः।

—श्रीभाष्य २।२।२५

भाव क्षणिक हो तो रामानुज के मत में, प्रत्यभिज्ञा की ही नहीं, अनुमान की भी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके लिए सामान्य प्रस्थापना के निश्चय तथा स्मरण की पूर्वकल्पना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, वस्तुओं के क्षणिक होने की प्रस्थापना को सिद्ध करना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि ज्यों ही प्रमाता अपने पक्ष की स्थापना करेगा त्यों ही वह नहीं रहेगा और उसका स्थान दूसरा प्रमाता ले लेगा जो उसके अधूरे कार्य को उससे अनभिज्ञ होने के कारण पूर्ण नहीं कर सकेगा।[1]

प्रत्येक पदार्थ किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। पदार्थ द्वारा किसी प्रयोजन के सम्पन्न होने में ही उसकी सार्थकता है। यही उसके स्थायित्व का प्रमाण है। क्षणिकवाद में यह सम्भव नहीं। प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले घड़े या वस्त्र से पानी भरने या तन ढाँपने का काम नहीं लिया जा सकता। जो पदार्थ अगले क्षण भी टिकनेवाला नहीं, उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि कैसे सम्भव है? इसलिए प्रमाता और (प्रमेय के रूप में) पदार्थ का क्षणिक होना तर्कसंगत नहीं। श्रीनिवास का यह कथन सर्वथा सत्य है कि यदि जीवात्मा को नित्य नहीं माना जाएगा तो लोक-व्यवहार असम्भव हो जाएगा।

यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि ब्रह्म उपाधिग्रस्त हो जाता है तो भी वह अपने ब्राह्मभाव का परित्याग करके जीवरूप नहीं होगा, क्योंकि—

**न ह्युपाधियोगात्स्वभावस्यान्यथाभावः ॥४९॥**

निश्चय ही उपाधि के कारण स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता।

स्वभाव का नाश कभी नहीं होता। वायु को कभी ठण्डा और कभी

---

१. Ramanuja means by 'anusmriti' (अनुस्मृति) recognition. He points out that not only recognition but inference which presupposes the ascertainment and remembrance of general propositions would become inexplicable. He would not even be able to prove the assertion that things are momentary; for the subject perishes the very moment he states the proposition to be proved and another subject will be unable to complete what has been begun by another and about which he himself does not know anything.

—Radhakrishnan : Brahma Sutra, P. 382

गरम किया जा सकता है, क्योंकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नहीं है। परन्तु अग्नि को ठण्डा नहीं किया जा सकता, क्योंकि दाहकता उसका स्वाभाविक गुण है। शंकराचार्य श्रुति को स्वतःप्रमाण मानते हैं। फिर भी कहते हैं कि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते। अल्पज्ञता के कारण जीव को तो भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु स्वभाव से ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में भ्रान्ति अथवा मिथ्या ज्ञान का होना ऐसा होगा जैसे सूर्य में अन्धकार का होना। इसलिए, दुर्जनतोषन्याय से यह मान लेने पर भी कि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म उपाधिग्रस्त हो जाता है, यह नहीं माना जा सकता कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' किसी भी अवस्था में सर्वज्ञता के अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग करके अपने को जीव समझने की भूल कर बैठता है। वह अपने-आपको ब्रह्म और जीवों को जीवरूप में जाने, यही उसकी सर्वज्ञता है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म जीवात्माओं की भाँति जन्म-मरण के बन्धन में पड़, देहधारी होकर पाप-पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाले सुख-दुःख का भोक्ता कभी नहीं हो सकता।

जैसे महदाकाश एक होने पर भी उपाधिभेद से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही अन्तःकरणों की उपाधि से एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् जीवों के रूप में भासता है—इस शंका को सूत्रबद्ध कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

**ब्रह्मात्मनोरैकात्म्यं घटाद्याकाशवत् ॥५०॥**

ब्रह्म और जीव एक हैं, घटाकाश आदि की भाँति।

देश-आकाश-विशेष को उसकी उपाधियों के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि नाम दिये जाते हैं, किन्तु आकाश अपरिवर्त्तित रहता है। जबतक निरपेक्ष ब्रह्म उपाधियों से आवृत्त रहता है तबतक ब्रह्म का स्वरूप छिपा रहता है। जब ढकनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (आकाश) व्यापक देश (महदाकाश) में मिल जाता है। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश व्यापक आकाश का अवयव या विकार है, वैसे ही हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि जीव ब्रह्म का अवयव या विकार है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। ब्रह्म का अनेक जीवों में विभक्त होना प्रतीतिमात्र है। जब घड़ा बनता या टूटता है तो उसके भीतर का आकाश न बनता है, न बिगड़ता है। इसी प्रकार आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है। जिस प्रकार

बच्चों को आकाश धूल से मैला दिखाई देता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों को परमात्मा बद्ध अथवा पाप से मलिन दिखाई देता है। परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर मूर्खों के लिए शारीर अर्थात् जीव कहलाता है, जैसे कमण्डल आदि से परिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न दिखाई देता है, यद्यपि वास्तव में उसकी अपनी पृथक् सत्ता नहीं होती।"[1] इसके अतिरिक्त जब एक घड़े के भीतर का आकाश धूल और धुएँ से भरा हो तो आकाश के अन्य भागों पर उसका असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार जब एक जीव को सुख या दुःख का अनुभव होता है तो अन्य उससे प्रभावित नहीं होते। जब घड़े आदि द्वारा बनाई गई परिधियाँ हटा दी जाती हैं तो सीमाबद्ध आकाश के भाग एक ही ब्रह्माण्डीय आकाश के अन्दर समा जाते हैं। "इस प्रकार जीव तथा परमेश्वर का भेद मिथ्या ज्ञान के कारण है, वास्तविक नहीं।"[2] जब देशकाल तथा कार्य-कारण-सम्बन्ध की परिधियाँ हटा दी जाती हैं तो जीव निरपेक्ष ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं।

इस शंका का विवेचन एवं समाधान अगले सूत्र में किया है—

**नान्तःकरणाऽकारं ब्रह्म घटाद्याकाशवत्॥५१॥**

घटाकाश आदि की भाँति ब्रह्म अन्तःकरण का आकार धारण नहीं करता।

घटाकाश आदि के महदाकाश से अनन्यत्व का दृष्टान्त ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं घटता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते हैं वैसे ब्रह्म के नहीं हो सकते। उपनिषदों में जहाँ कहीं आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गई है, वहाँ विभुत्व के सम्बन्ध से है, न कि उपाधि के प्रसंग में। आकाश जड़ है। घटाकाश को स्वयं यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि के कारण तंग आ गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ बैठते हैं, परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वयं यह अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं विभु हूँ और अन्तःकरण के कारण परिच्छिन्न

---

१. स एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपादिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते।—शां० भा० १।२।६

२. एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः न वस्तुकृतः। व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्।—शां० भा० १।३।१९

हो गया हूँ। घड़े की दीवारें अपने भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित नहीं कर पातीं। फिर, अन्तःकरण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणों—सर्वज्ञता, पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर सकती हैं? घड़े की दीवारें सत्य होने पर भी आकाश के गुणों को दबाने में असमर्थ हैं तो अन्तःकरण की मायावी उपाधियाँ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं? जीव के अल्पज्ञ होने से उसका शरीर की सीमाओं से प्रभावित होना तो समझ में आ सकता है, किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ में नहीं आती। वस्तुतः आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में हम 'घड़ा' तो कहते हैं, 'घड़े का आकाश' कभी नहीं कहते। इसी प्रकार हम 'अन्तःकरण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं, किन्तु 'अन्तःकरण का ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ आदि की उपाधियों से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भाँति अन्तःकरण-भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न प्रतीत होना माना जाए तो भी जैसे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म को अन्तःकरणों से और अन्तःकरणों को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध से दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माननी होंगी। जो व्याप्य है, वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्तःकरणों में व्यापक होते हुए भी ब्रह्म अन्तःकरणाऽकार न होकर उनसे सर्वथा भिन्न है।

बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा अद्वैतवादी भी अपने को बन्धन में जानता और उससे मुक्त होने का प्रयास करता है एवं दूसरों को तदर्थ प्रेरित करता है। प्रत्येक देहधारी अपने को अल्पशक्ति, अल्पज्ञ तथा अविद्यादि क्लेशों से अभिभूत जीव के रूप में देखता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाने-वाले भी सामान्य मनुष्यों की तरह व्यवहार करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने जीव होने का पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल अज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को जीवरूप में देखते हैं। घड़ा जड़ पदार्थ है, उसमें कोई कूड़ा-करकट भर सकता है। उसके दूषित आकाश का प्रभाव दूसरे घड़ों के आकाश पर नहीं पड़ेगा। परन्तु ब्रह्म तो 'चेतनश्चेतनानाम्' है, जबकि उसे विभक्त करनेवाले अन्तःकरण जड़ हैं। इसलिए उस ब्रह्म के एक भाग को सुखी या दुःखी करने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है? सत्य तो यह है कि जितने भी तथाकथित अन्तःकरणाऽकार ब्रह्म हैं, देहधारी होने के कारण सभी त्रिविध दुःखों

से सन्तप्त हैं और ऐसा इसलिए हैं कि वे सब वास्तव में जीवात्मा हैं।

शंकर कहते हैं कि देहादि संघात की उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए अविवेक के कारण ईश्वर और जीव का भेद मिथ्या है।[1] यहाँ यह अविवेक किसको है? देहादिसंघात को, या ब्रह्म को, या देहादिसंघात के कारण ब्रह्म को? देहादिसंघात अचेतन है। अचेतन को मिथ्या-बुद्धि कैसी? ब्रह्म सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ को मिथ्या बुद्धि कैसी? यदि यह कहा जाए कि देहादिसंघात के कारण ब्रह्म को, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञानस्वरूप होना नित्य है। उसे ज्ञान के लिए देहादि ज्ञान के साधनों की अपेक्षा नहीं।[2] जब उसे ज्ञान के साधनों की अपेक्षा नहीं तो उनके कारण उसे मिथ्या बुद्धि होने का प्रश्न ही नहीं उठता। शंकर यह मानते हैं कि ज्ञान के लिए शरीर की आवश्यकता जीव को है, ईश्वर को नहीं।[3] स्पष्ट है कि ज्ञान के लिए शरीर की अपेक्षा करनेवाले जीव से शरीर की अपेक्षा न करनेवाला परमेश्वर भिन्न है। ऐसा न होता तो दोनों में किसी प्रकार के भेद का निर्देश क्यों किया जाता? इसका उत्तर शंकर देते हैं कि "वास्तव में ईश्वर से भिन्न कोई जीव नहीं, तथापि देहसंघात के उपाधि-सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है, जैसे घड़े, कमण्डलु, पहाड़ की गुफ़ा आदि की उपाधि के सम्बन्ध से आकाश को अलग-अलग मान लिया जाता है।"[4] यदि ब्रह्म नित्य ज्ञान-स्वरूप है और बिना शरीर की अपेक्षा के ज्ञानी है तो उसे देहादि की उपाधि कैसे लगी और वह देहादि के बन्धन में क्यों आया? घटाकाश को आकाश से भिन्न समझनेवाले तो घट और आकाश से भिन्न अज्ञानी जीव हैं। ब्रह्म को जीव समझने की भूल करनेवाला इन दोनों (ब्रह्म व जीव) से भिन्न कौन है? यदि मिट्टी से बने वास्तविक घड़ा आदि न होते तो अज्ञानी जीव को भी घटाकाश आदि के व्यापक आकाश से पृथक् होने का भ्रम न होता और यदि ब्रह्म की भाँति आकाश ही एकमात्र

---

१. तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। शां० भा० १।१।५

२. सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। —शां० भा० १।१।५

३. संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्य। —शां० भा० १।१।५

४. सत्यं नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव। घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः। —शां० भा० १।१।५

सत्ता होती तथा वह होती भी सर्वज्ञ तो वह कभी अपने को घट, करक, गिरिगुहा आदि की उपाधि में न डालती। फिर, जब ईश्वर से अतिरिक्त जीव नाम की कोई सत्ता नहीं तो मिथ्या बुद्धि का आश्रय ब्रह्म से इतर कौन हो सकता है ? किन्तु यह स्थिति अद्वैतवादी को भी मान्य नहीं, अतएव जीव की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही समस्त शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान सम्भव है।

जैसे अग्नि से लोहा गरम हो जाता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से अन्तःकरण स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन हो रहे हैं, और इस प्रकार ब्रह्म में जीव की प्रतीति हो रही है। इस शंका का समाधान अगले सूत्र में मिलता है—

**नाचेतनान्तःकरणेषु चैतन्यं परमात्मसत्तयातिप्रसक्तेः सर्वज्ञत्वादिगुणानां तत्राभावात् ॥५२॥**

जड़ अन्तःकरणों में परमात्मा के व्याप्त होने से चैतन्य नहीं, सर्वज्ञत्वादि गुणों के उनमें न पाये जाने से।

यदि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव बना होता तो परमेश्वर के समान प्रत्येक जीव में सर्वज्ञत्वादि गुण पाये जाते, परन्तु देखने में ऐसा नहीं आता। यदि यह कहा जाए कि अन्तःकरणों की भिन्नता के कारण सर्वज्ञता नहीं आती तो ब्रह्म का विघटित होना मानना पड़ेगा। अन्तःकरण स्वयं जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह माना जाए कि केवल ब्रह्म को या केवल अन्तःकरण को ज्ञान नहीं होता, अपितु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है, तो भी अन्तःकरण के द्वारा चेतन को ही ज्ञान की प्राप्ति होगी। यदि आवरण को सर्वज्ञता में बाधक माना जाए तो आवरण के कारण ब्रह्म खण्डित हो जाएगा, क्योंकि आवरण सदा दो के बीच होता है।

बहुचर्चित आवरण की मीमांसा करते हैं—

**आवरणात्त्रित्वोपपत्तिः ॥५३॥**

(अविद्या के) आवरण से त्रिवाद की सिद्धि होती है।

अवरोध सदा दो पदार्थों के बीच सम्भव है। आवरणों के दोनों ओर कुछ-न-कुछ होना अनिवार्य है, अतएव जबतक ब्रह्म के दो भाग न किये जाएँ, अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कम-से-कम एक अन्य तत्त्व (जीव) की सत्ता न मानी जाए तबतक तीसरे आवरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

अद्वैतवाद के अनुसार मोक्ष की अवस्था प्राप्त नहीं की जाती, वह तो स्वतःसिद्ध है। इसलिए उसे पाने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। विवेकबुद्धि द्वारा अपने विस्मृत स्वरूप को पहचान लेना ही मोक्षलाभ करना है। इसे स्पष्ट करने के लिए सूर्यग्रहण का दृष्टान्त दिया जाता है। सूर्यग्रहण में ग्रहणकाल में भी सूर्य उसी प्रकार प्रकाशमान रहता है जिस प्रकार ग्रहण लगने से पूर्व और ग्रहण-समाप्ति के पश्चात्। पृथिवी और सूर्य के मध्यवर्ती चन्द्रमा के आँखों से ओझल हो जाने के कारण वह तिरोहित प्रतीत होता है। कुछ काल बीतने पर उसका अपने उज्ज्वल रूप में प्रादुर्भाव उसमें हुए किसी परिवर्त्तन का परिणाम नहीं होता। उसका कारण केवल चन्द्रमा का आगे बढ़ जाना अथवा दृष्टि के अवरोध का दूर हो जाना है। इसी प्रकार मोक्ष का अर्थ है यथार्थसत्ता के दर्शन में बाधक अवरोधों का दूर करना और धर्माधर्म के अनुष्ठान के निमित्त विधि-निषेधात्मक निर्देशों का प्रयोजन है इस सत्य को जान लेना। यह दृष्टान्त आपाततः निर्दोष प्रतीत होता है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इससे त्रिवाद का उपपादन होता है। सूर्यग्रहण के लिए तीन पदार्थों का होना आवश्यक है—सूर्य जिसे ग्रहण लगता है, पृथिवी (पृथिवीस्थ प्राणी) जिसे ग्रहण की प्रतीति होती है और चन्द्रमा जिसके बीच में आ जाने से ग्रहण लगता है। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में सूर्यग्रहण की प्रतीति नहीं हो सकती। 'मोक्ष' के सन्दर्भ में जब हम यथार्थ दर्शन में बाधक आवरण की बात करते हैं तो हम तत्त्वत्रय की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं—यथार्थसत्ता के रूप में ब्रह्म की, द्रष्टा के रूप में जीव की तथा आवरण के रूप में प्रकृति की। जब जीव प्रकृति से पराङ्-मुख होकर परमात्मा की ओर प्रवृत्त होता है तब उसे मोक्षलाभ होता है। इस प्रकार अविद्या अथवा माया के आवरण का सिद्धान्त अद्वैतवाद के विरुद्ध त्रैतवाद की सिद्धि में सहायक है।

अगले सूत्र में तार्किक एवं व्यावहारिक स्तर पर 'अद्वैत' शब्द की समीक्षा की गई है।

**द्वैतसत्त्वे ह्यद्वैतसिद्धिः ॥५४॥**

'द्वैत' के होने पर ही 'अद्वैत' की सिद्धि होती है।

वस्तुतः 'द्वैत' न हो तो 'अद्वैत' की भी सिद्धि सम्भव न हो सके। 'अद्वैत' पद 'द्वैत' का 'नञ्' (निषेध) के साथ समास होने से

निष्पन्न होता है। इसलिए 'अ ैत' के समझने-कहने के लिए 'द्वैत' को स्वीकार करना अनिवार्य है। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है—**'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्'**। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति के कारणभाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। बिना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती. अतः 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ—भेद। 'द्विता' से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'द्वैत' निष्पन्न होता है। 'द्विता'='द्वैत'=भेद नहीं है जिसमें वह 'अद्वैत' हुआ, अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य—अद्वितीय ब्रह्म। इस प्रकार 'द्वैत' का प्रतिषेध ही 'अद्वैत' है। 'द्वैत' के प्रतिषेध के लिए पहले 'द्वैत' की सत्ता माननी होगी, क्योंकि 'अद्वैत' का प्रादुर्भाव 'द्वैत' के बिना सम्भव नहीं।

अद्वैतवादियों के मत में यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है तो द्विता या द्वैत की सिद्धि कैसे होगी? और उसके अभाव में अद्वैत कहाँ रहेगा और कैसे ब्रह्म का विशेषण बनेगा? यदि मिथ्या प्रपंच-रूप जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से सिद्धि मानी जाएगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होनेवाला द्वैत भी मिथ्या होगा। तब उस मिथ्या द्वैत के अभाव या निषेध का द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है? इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ही बता रहा है कि कहीं-न-कहीं 'द्वैत'=भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का ही निर्देश 'अद्वैत' शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में उसके साजात्य, वैजात्य, स्वगतभेदशून्य होने से उसके अद्वितीय होने का द्योतक है। इससे जीव का अभाव या निषेध नहीं होता।

एक से अधिक तत्त्वों की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**द्वित्वोपपत्तिः द्वयायत्तत्वात्सम्बन्धस्य ॥५५॥**

सम्बन्ध के दो के अधीन होने से द्वैत सिद्ध है।

सब सम्बन्ध दो या दो से अधिक वस्तुओं के बीच होते हैं।[1] दो वस्तुओं के निकटतम आने का नाम संयोग है।[2] एक वस्तु के बीच संयोग

---

१. Relations prove the existence of the two rather than the non-existence of either.

२. **परः सन्निकर्षः संहिता**।—पाणिनि

संहिता या सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, बहन-भाई, गुरु-शिष्य, ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि जितने भी सम्बन्ध हैं—सबके लिए कम-से-कम दो सत्ताओं का होना अपेक्षित है। बहुत्व में ही अपेक्षा सम्भव है। समस्त सृष्टि संयोग या संश्लेषण तथा वियोग या विश्लेषण का परिणाम है। अद्वैत में यह सम्भव नहीं।

सम्बन्ध (बन्ध-बन्धने) शब्द स्वयं इसमें प्रमाण है। एक रस्सी से दो खूंटों, पशुओं आदि को बाँध सकते हैं, एक को नहीं। सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं—आश्रयाऽऽश्रयी सम्बन्ध, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, आधाराधेय सम्बन्ध, गुण-गुणी सम्बन्ध, संयोग सम्बन्ध, समवाय-सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, अवयव-अवयवी सम्बन्ध आदि। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध का उल्लेख सदा होता आया है। ईश्वर सर्व-व्यापक है, इसलिए ईश्वर और जीव में संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता; दोनों द्रव्य हैं, इसलिए उनमें गुण-गुणी सम्बन्ध सम्भव नहीं; जीव की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं, इसलिए उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बनता। ईश्वर का निरवयव होना निर्विवाद है, इसलिए जीव के साथ उसका अवयव-अवयवी सम्बन्ध युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो पदार्थों का होना और रहना अनिवार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव में तादात्म्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती—ऐसी दो वस्तुओं में जो एक-दूसरी से सर्वथा अथवा अंशतः भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव भी नहीं। ऐसी दशा में परमात्मा तथा जीवात्मा के बीच आधाराधेय, आश्रयाऽऽश्रयी अथवा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ही सम्भव है और यह तभी हो सकता है जब उन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हो।

अगले कतिपय सूत्रों में जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव का विवेचन किया है।

**नेश्वरांशः जीवो निरवयवत्वात् ॥५६॥**

जीव ईश्वर का अंश नहीं है, (ईश्वर के) निरवयव होने से।

ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। उसके सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी होने से ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो। तब आवरण को स्थान कहाँ मिलेगा? यदि ब्रह्म जीवरूप में परिणत होगा तो जीवों के अनन्त होने से वह अनिवार्यतः सावयव सिद्ध होगा। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है और विकारी होने से न नित्य हो सकता है, न सर्व-

व्यापक। यदि ब्रह्म सावयव होगा तो उसके अवयवों का संयोग करने के लिए किसी निमित्त की अपेक्षा होगी। कोई अवयव इसका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग करनेवाला अनिवार्यतः अवयवों से भिन्न होगा। स्वयं ब्रह्म संयोजयिता नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी अपनी सत्ता उन अवयवों के संयोग का परिणाम है। अवयवों से मिलकर बननेवाला ब्रह्म जगत् का कारण न होकर स्वयं कार्यरूप होगा।

यदि ब्रह्म सावयव होगा तो अवयवों का एक-दूसरे से पृथक् होना सम्भव होगा। जब यह कहा जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समय था जब हम सब ब्रह्म थे। कालान्तर में हम उससे पृथक् होकर उसके अंशरूप बनकर रह गये। प्रकारान्तर से इसका अर्थ है कि अनेक जीवात्माओं से मिलकर ब्रह्म का निर्माण हुआ था। कालान्तर में उसका विघटन हो गया और वह टुकड़े-टुकड़े होकर संसार में बिखर गया—कोई यहाँ गिरा, कोई वहाँ गिरा। जब ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं थी तो उसका विघटन किसने किया? और यदि उसने आत्महत्या की और स्वयं अपने टुकड़े कर डाले तो प्रश्न होता है कि उसे ऐसा क्यों करना पड़ा? वस्तुतः परमात्मा अखण्ड है।[1] वह सदा एकरस रहता है। उसमें किसी प्रकार के विकार, परिणाम या विघटन की सम्भावना नहीं।

अंश सदा अवयवी का होता है। जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश सम्पूर्ण इकाई में से काटा गया भाग नहीं हो सकता। बादरायण ने आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध-विषयक मतों का विवेचन किया है। भास्कर तथा वल्लभ बलपूर्वक कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि उनमें परस्पर भेद भी है और तादात्म्य भी। परन्तु शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्त रूप में जीवात्मा के रूप में विद्यमान है, क्योंकि ब्रह्म हिस्सों से मिलकर नहीं बना है, अतः यौगिक अर्थ में भी उसके हिस्से नहीं हो सकते। इसलिए शंकर ने इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाया कि "जीव अंश के समान अर्थात् अंश जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश होना सम्भव नहीं।"[2]

परमेश्वर की अखण्डता के साथ उसके टुकड़ों में विभक्त होने या

१. अदितिर्ब्रह्म।—अ० त० द० ७।१६
२. अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति।—शां० भा० २।३।४३

किसी के उसका अंश होने के विचार का सामंजस्य नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र ने इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है—"यदि ईश्वर और जीव एक हैं तो शासक और शासित, नियामक और नियम्य, अन्वेष्टा और अन्वेष्टव्य, ज्ञाता और ज्ञेय, आधार और आधेय आदि में भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए जीव निरवयव ब्रह्म के अंश नहीं हो सकते।"[१]

अंशांशिभाव की पुष्टि में गीता (१५-७) का यह कथन अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—"**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" अर्थात्—इस संसार में मेरा (परमात्मा का) सनातन अंश ही जीवरूप है। परन्तु 'सनातन' शब्द के कथन से यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव घटाकाश अथवा अग्नि की चिंगारी के समान ब्रह्म का अंश नहीं है। अंश कालातीत नहीं होता। कभी-न-कभी सम्पूर्ण इकाई से कटकर ही वह अस्तित्व में आता है। इसलिए वह सनातन नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त हुआ होता तो इसी अध्याय के सत्रहवें श्लोक में जीव से ब्रह्म का भेद क्यों कथन किया जाता?[२] और तेरहवें अध्याय में जीव को अनादि क्यों कहा जाता?[३] गीता के उक्त वचन में '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः**' कहकर भी उसके सनातन अथवा नित्य होने का निषेध नहीं किया है। जो कटकर बनता है वह अनुत्पन्न अथवा अनादि नहीं हो सकता, अतएव जो नित्य है, वह अंश नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ भी 'अंश' से तात्पर्य 'अंश इवांशः' अंश जैसा अंश ही है, वास्तविक अंश नहीं। राधाकृष्णन् ने इस श्लोक पर अपनी टिप्पणी में लिखा है—"इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म को टुकड़ों में बाँटा जा सकता है।"[४]

यदि कहीं जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना करके इनके अभेद

---

१. **ईशितव्येशितृभावश्चान्वेष्यान्वेष्टृभावश्च ज्ञेयज्ञातृभावश्च नियम्यनियन्तृभावश्चाधाराधेयभावश्च न जीवपरमात्मनोरभेदेऽवकल्प्यते। न हि तावदनवयवेश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्त्यंशाः।**—भामती २।३।४३

२. **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।**—गीता १५।१७
उत्तम पुरुष इन दोनों (जीव तथा प्रकृति) से भिन्न है जो परमात्मा कहाता है।—तिलक

३. **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**—गीता १३।१९

४. This does not mean that the supreme is capable of division or partition into fragments. —Radhakrishnan, 15-7

का उल्लेख मिलता है तो वह मात्र औपचारिक है। दोनों तत्त्वों के चेतनभाव की समानता को लेकर ऐसी कल्पना की गई है। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, चेतन है, जबकि जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, चेतन है। इसलिए शास्त्रों में जीव को ब्रह्म के अंश जैसा मानकर उसका वर्णन कर दिया गया है। वेद में कहा है कि यह समस्त विश्व उस परमेश्वर की महिमा का वर्णन करता है। वह परमेश्वर इस विश्व की अपेक्षा कहीं अधिक महान् है। स्थावर-जंगम-रूप में विद्यमान ये समस्त भूत-प्राणी परमेश्वर का एक पाद हैं, उसके तीन पाद अपने अविनाशी प्रकाशस्वरूप में विद्यमान रहते हैं।[1] पद, पाद, अंश, भाग एकार्थवाची हैं। यहाँ 'एक पाद' या 'तीन पाद' किसी नियत परिमाण के द्योतक नहीं हैं, क्योंकि जिसके विषय में यह कहा गया है, वह निरवयव अखण्ड ब्रह्म है। इस प्रकार का वर्णन किये जाने से परमात्मा के अनन्त माहात्म्य का बोध होने में सहायता मिलती है। तात्पर्य यह है कि उस असीम सत्ता के सन्मुख यह अनन्त विश्व भी अत्यन्त तुच्छ है, अर्थात् उसका अंशमात्र है। इस प्रकार यद्यपि यहाँ भूतों के अंशभाव का निर्देश है, पर है यह सर्वथा औपचारिक।

**सारूप्यादर्शनात् ॥५७॥**

सारूप्य न देखे जाने से (जीव ब्रह्म का अंश नहीं)।

यदि जीव ईश्वर का अंश होता तो उसमें अंशी के सभी गुण पाये जाते। समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। यदि समुद्र खारा है तो उसके जल की एक-एक बूंद खारी होगी। चीनी का एक-एक दाना अनिवार्यतः मीठा और नमक का एक-एक दाना अनिवार्यतः नमकीन होगा। इसी प्रकार अंशी परमात्मा के समस्त गुण उसके अंश जीव में होने चाहिए थे। परन्तु परमेश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, निर्भ्रान्तित्व, सर्वव्यापकता आदि गुण जीव से और जीव की अल्पज्ञता, अल्पशक्ति, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण परमेश्वर से सर्वथा भिन्न हैं। परमेश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, जबकि जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा उससे मुक्त होने के प्रयास में लगा रहता है। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं कि "जैसे जीवात्मा

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
—ऋ० १०।९०।३; यजु० ३१।३

संसार के दुःख का अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता।"[1] तब ईश्वर और जीव में अंशांशिभाव कैसे रह सकता है? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकती।

जैसे लोक में पुत्र पिता का अंश समझा जाता है, वैसे ही जीवात्मा को परब्रह्म का अंश समझा जा सकता है। पिता-पुत्र में अंशांशिभाव का क्या तात्पर्य है? पिता और पुत्र दो प्रकार के तत्त्वों का समुच्चय हैं— चेतन आत्मा व अचेतन शरीर। व्यवहार में **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** का प्रयोग होने पर भी दोनों के शरीर में चेतन तत्त्व आत्मा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों में किसी प्रकार की समानता नहीं। इसलिए उनमें किसी तरह के अंशांशिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मतत्त्व के अखण्ड होने से भी उसमें अंश आदि की कल्पना करना असंगत है। शरीर भी दोनों के एक-दूसरे से भिन्न हैं। तथापि पुत्र के शरीर की रचना में पितृशरीर के अंशों का उपयोग होता है। इसी आधार पर पिता-पुत्र में अंशांशिभाव की कल्पना की जाती है। फिर भी पुत्र को पिता का अंश उस रूप में नहीं माना जाता जिस रूप में जल की बूंद को जल का। समष्टिरूप में प्रकृतिसत्ता को ब्रह्म का शरीर मान लिया गया है। समस्त जीवात्माओं को प्राप्त शरीर उन्हीं प्राकृत अंशों से बनते हैं। जीवात्माओं के पिता के रूप में परमात्मा का वर्णन अनेकत्र पाया जाता है।[2] परब्रह्म की प्रार्थना उपासना करनेवाले जीवात्माओं को परमात्मा के 'पुत्रक' कहकर निर्देश किया गया है।[3] इस प्रकार पुत्र और पिता के समान जीवात्मा तथा परमात्मा का परस्पर अंशांशिभाव स्पष्ट होता है। अग्नि और उससे निकलनेवाली चिंगारियों के समान 'अंशांशिभाव' की कल्पना (जैसी शंकर मानते हैं)[4] चेतनतत्त्वों में नहीं की जा सकती। परमात्मा के सभी गुण जीवात्मा में ज्यों-के-त्यों मिलें, यह कदापि सम्भव नहीं और जबतक

१. यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति।
—शां० भा० २।३।४६

२. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।—ऋ० ८।९८।११
त्वं पिताऽसि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्।—ऋ० १।३१।१०
त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

३. अर्चन्तु पुत्रकाः।—ऋ० ८।६९।८

४. जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति यथाग्नेर्विस्फुलिंगः।—शां० भा० २।३।४३

ऐसा न हो तबतक जीवात्मा को परमात्मा का अंश नहीं माना जा सकता।

जब हम किसी पदार्थ को किसी अन्य पदार्थ जैसा कहते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि दोनों में कुछ समानता है, यह नहीं कि दोनों में तादात्म्य है, अर्थात् दोनों एक हैं। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि दोनों में जहाँ कुछ समानता है, वहाँ उनमें कुछ बातों में भेद भी है। यदि हम किसी वस्तु को स्वर्ण जैसी कहते हैं तो इसका अर्थ यही होता है कि वह रंग-रूप में तो स्वर्ण जैसी है, किन्तु कुछ अन्य गुणों के अभाव में वह स्वर्ण से भिन्न है। यदि हम कहते हैं कि 'देवदत्त यज्ञदत्त जैसा है' तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि कुछ बातों में वे दोनों एक-जैसे हैं। यदि वे दोनों सर्वथा एक होते तो हम 'देवदत्त यज्ञदत्त जैसा है' न कहकर 'देवदत्त यज्ञदत्त है' कहते। इसी प्रकार 'जीवात्मा परमात्मा के अंश जैसा है' का यही तात्पर्य है कि कुछ गुणों के कारण दोनों में समानता है। इससे दोनों में सारूप्य, अभेद अथवा तादात्म्य की सिद्धि नहीं होती।

**व्यक्तिभेदात् ॥५८॥**

व्यक्तिभेद के कारण (जीव ब्रह्म का अंश नहीं)।

जीवात्मा के नानात्व तथा परस्पर भिन्न होने का विचार सर्वमान्य है। वेदादि समस्त शास्त्रों में 'अहम्' 'त्वम्' और 'सः' पदों का खुलकर प्रयोग हुआ है। यह सर्वविदित है कि कर्त्ता और कर्म के रूप में प्रयुक्त 'अहम्' 'त्वम्' और 'सः' में तादात्म्य नहीं हो सकता। यदि 'मैं हूँ' के ज्ञान से मेरा अस्तित्व सिद्ध है तो मैं 'तू या वह' नहीं हूँ का ज्ञान भी मेरे अस्तित्व के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इससे यह भी स्वतः-सिद्ध है कि मेरी तरह, किन्तु मुझसे भिन्न, 'तू' और 'वह' की भी सत्ता है; यद्यपि 'मैं' एक हूँ, 'तू' और 'वह' असंख्य हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सत्ता के सम्बन्ध में आश्वस्त हूँ, उसी प्रकार 'हम, तुम और वे' की सत्ता के सम्बन्ध में भी आश्वस्त हूँ। यदि 'मैं' में सबका समावेश हो और सब मेरे समान ईश्वर का अंश हों तो संसार में प्रत्यक्ष वैषम्य—सुख-दुःख का भेद, विद्वान् और मूर्ख में अन्तर, विभिन्न योनियों तथा सृष्टि में सर्वत्र पाये जानेवाले वैविध्य की व्याख्या कैसे सम्भव हो?

यदि समस्त जीव एक परमात्मा के अंश हों तो सबकी एक जैसी स्थिति होनी चाहिए। मिट्टी के जितने भी कण होंगे सब एक-जैसे होंगे।

चीनी के सभी दानों का रंग और स्वाद एक-जैसा होगा। स्वर्ण के समस्त परमाणु एक-जैसे होंगे—किसी में लोहे या तांबे का मिश्रण नहीं होगा। इसी प्रकार यदि सभी जीव ईश्वर का अंश हों तो सबके गुण कर्म, स्वभाव और सामर्थ्य एक-जैसे होने चाहिएँ। परन्तु हम देखते हैं कि एक शरीर में रहनेवाले जीव की स्थिति दूसरे शरीर में रहनेवाले जीव से मेल नहीं खाती। सबका बौद्धिक स्तर एक-जैसा नहीं। संसार में एक ओर जहाँ निपट मूर्खों की कमी नहीं, वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु में सम्पूर्ण गीता को सुना डालनेवाले बालक भी मिलते हैं। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उन्हीं से प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, रामानुज और जेम्सवाट जैसी आत्माएँ संसार को चमत्कृत कर देती हैं। यदि सभी जीवात्माएँ एक ही ब्रह्म का अंश हैं तो इस प्रकार के भेद क्यों? इसी प्रकार एक मनुष्य स्वभाव से विनम्र, परोपकाररत, सत्यनिष्ठ, अध्यात्म में प्रवृत्ति रखनेवाला है और दूसरा स्वभाव से अत्यन्त कठोर, स्वार्थी तथा भोगविलास में रत है। यदि दोनों एक ही ब्रह्म का अंश हैं तो उनके व्यवहार में यह अन्तर क्यों है? इससे स्पष्ट है कि सभी जीव एक ब्रह्म का अंश न होकर अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्तावाले हैं। इसी कारण वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं।

**एकदुःखसद्भावे सर्वत्रदुःखाभावात् ॥५९॥**

एक के दुःखी होने पर सबके दुःखी न होने से (जीव ब्रह्म का अंश नहीं)।

सुख-दुःख चेतन का गुण है, जड़ का नहीं। अतएव सुख-दुःख का अनुभव आत्मा को होता है, शरीर को नहीं। यदि समस्त देहों में एक ही आत्मा का या उसके अंशों का वास है तो एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए। जब सर्वत्र एक आत्मा है तो कोई जन्म लेता है, कोई मरता है; कोई सुखी है, कोई दुःखी है इत्यादि प्रत्यक्षतः अनुभूयमान विरुद्ध धर्मों की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जब एक को भूख लगे तो मनुष्यमात्र को ही नहीं, प्राणिमात्र को भूख लगनी चाहिए और जब एक व्यक्ति भोजन कर ले तो एकसाथ सबकी भूख शान्त हो जानी चाहिए। एक की मृत्यु हो जाने के साथ ही सबकी मृत्यु हो जानी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब सभी आत्माएँ एक ही ब्रह्म का अंश या भाग हों। जैसे शरीर के एक अंग (पैर) में काँटा लगने पर समस्त

देह में पीड़ा होती है, वैसे ब्रह्म के अंशरूप किसी एक आत्मा के दुःखी होने पर सृष्टि में व्याप्त सम्पूर्ण ब्रह्म को दुःखी होना चाहिए।[1] ऐसा होने पर मुक्तात्माओं को भी (जो मूलतः एक ही ब्रह्म का अंश हैं और उसी में लीन हैं) दुःखी होना पड़ेगा। जीवभूत अंश तो व्यक्तिशः दुःखी होंगे, किन्तु ब्रह्म को प्रत्येक के साथ दुःखी होना पड़ेगा। इस प्रकार स्वरूपतः आनन्दमय परमात्मा सदा दुःखी होता रहेगा। वस्तुतः जीव की अपेक्षा ईश्वर कहीं अधिक दुःखी होगा। इसलिए ईश्वर के स्तर तक उठकर समस्त प्राणिजगत् की पीड़ाओं का भार उठाने की अपेक्षा अपनी सीमित पीड़ाओं के साथ संसार में बने रहना जीव के लिए अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु इस सन्दर्भ में जीव और ब्रह्म में भेद करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "जिस प्रकार संसारी जीवात्मा सांसारिक दुःखों को अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता।"[2] यदि वह अकेला ही दुःखी होता तो उसके अंश होने से जीवमात्र दुःखी हो जाते। परन्तु हम देखते हैं कि कोई भी दो व्यक्ति एक-जैसा न सोचते हैं, न अनुभव करते हैं और न व्यवहार करते हैं। इसलिए समस्त देहों में एक ही आत्मा का पूर्णतः या अंशतः द्रष्टा-भोक्ता के रूप में माना जाना सर्वथा असंगत है।

यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक शरीर के साथ जो अन्तःकरण रहता है, उसी में सब विविधताएँ चलती रहती हैं, अर्थात् मरना-जीना, सुख-दुःख आदि सब अन्तःकरण में ही होते रहते हैं; आत्मा में तो उनका आरोप कर लिया जाता है। परन्तु अन्तःकरण को नाना और सुख-दुःख आदि को उसी का धर्म मानकर भी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि समस्त अन्तःकरणों में एक ही आत्मा होने से समस्त अन्तः-करणों के सुख-दुःख आदि का एक समय में आत्मा में आरोप होगा। परन्तु एक ही समय में किसी में सुख-दुःखादि विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता। यदि अन्तःकरणों के जड़ होने से उनके सुख-दुःख आदि के लिए आत्मा का होना अपेक्षित है तो वह उनके लिए साधनमात्र बनकर रह जाता है जो आत्मा के स्वरूप को नष्ट कर देता है। फलतः

१. तुलना करें—**अपि च जीवानां ब्रह्मांशत्वे तद्गता वेदना ब्रह्मणो भवेत् पादादिगता इव वेदना देवदत्तस्य।**—भामती २।३।४३

२. **यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति।**

—शां० भा० २।३।४६

समस्त देहों में एक आत्मा को मानकर जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि की विविधता की व्यवस्था अन्तःकरण के द्वारा सम्भव नहीं।

**एकस्मिन्मुक्ते सर्वत्र मोक्षाभावाच्च ॥६०॥**

और, एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति न होने से।

अविद्या का नाश मोक्षप्राप्ति का साधन है।[1] इसलिए अविद्या का नाश हो जाने पर एक की मुक्ति होते ही सबकी मुक्ति हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा होता नहीं। सबकी मुक्ति न होने से सिद्ध है कि अविद्या बनी रहती है। तब अविद्या के रहते एक की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिए। मोक्ष का अर्थ जीवात्मा का जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना है, जगत् का तिरोभाव नहीं। यदि ऐसा होता तो अनादि काल से चले आ रहे संसार में एक आत्मा (विश्वात्मा) के मुक्त होते ही समस्त आत्माओं के मुक्त हो जाने से सारा जगत् लुप्त हो गया होता। आत्मा भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए संसार में आता है। यदि वह एक ही है, तो एक आत्मा के एक ही क्षण में अनन्त एवं विविध भोगों की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि एकात्मवादी कहता है कि भोग तथा अपवर्ग भी उपाधि में ही होते रहते हैं तो यही समझना चाहिए कि वह मुँह से कहता-ही-कहता है कि आत्मा एक है, वस्तुतः उपाधि के नाम से वह आत्मा को अनेक मानता है। आत्मा को अनेक मानने पर अनादि काल से चले आ रहे संसार का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि आत्मा अनन्त हैं और मुक्ति से पुनरावृत्ति के कारण वे समय-समय पर यहाँ लौटकर भी आते रहते हैं। इसलिए मोक्ष को प्राप्त होने पर भी, जैसे संसार आज तक बना हुआ है, वैसे ही सर्गकाल में आगे भी बना रहेगा।

अविद्या का नाश हो जाने से एक की मुक्ति होने पर भी सबकी मुक्ति क्यों नहीं होती, प्रतिवादी इसका कारण बताता है—

**तत्तु अविद्याभेदात् ॥६१॥**

वह अविद्या की भिन्नता के कारण है।

एक के मुक्त होने पर सबका मुक्त न होना प्रत्येक जीव की पृथक्-पृथक् अविद्या होने के कारण है। अविद्या एक पूर्ण इकाई है और यह प्रत्येक

---

1. **अविद्योच्छेदश्च मोक्षः।**—विद्यानन्द; **विद्यया ऽमृतमश्नुते।** —यजु० ४०।११

जीव में पूर्णरूपेण अवस्थित रहती है एवं ब्रह्म-प्राप्ति में आवरणरूप होकर बाधक बनती है। जब अविद्या किसी जीव का साथ छोड़ देती है तो उसे ब्रह्म का प्रत्यक्ष होने से मोक्ष-लाभ होता है। इस प्रकार जीव-विशेष से सम्बद्ध अविद्या के नाश का नाम मोक्ष है। रामानुज का आग्रह है कि हमें प्रत्येक आत्मा के लिए भिन्न-भिन्न अविद्या की कल्पना करनी होगी। अन्यथा एक आत्मा की मोक्ष-प्राप्ति अन्यों के लिए भी मोक्ष-प्राप्ति हो जाएगी। वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी प्रत्येक जीवात्मा की अपनी अविद्या है। जब किसी आत्मा को यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो उसके साथ सम्बद्ध अविद्या का नाश हो जाता है। अवशिष्ट आत्माओं की अविद्या बनी रहती है और उसके कारण सृष्टि का क्रम चालू रहता है।

अगले सूत्र में इस युक्ति का प्रत्याख्यान किया है।

**अविद्याभेदादात्मभेदाभ्युपगमः ॥६२॥**

अविद्याभेद से जीवात्मभेद की प्राप्ति होगी।

यदि प्रत्येक जीव की पृथक् विद्या मानी जाए और कहा जाए कि जिस-जिसकी अविद्या नष्ट होती जाएगी उस-उसकी मुक्ति होती जाएगी तो जीव-जीव में भेद मानना होगा। इसपर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह भेद स्वाभाविक है या अविद्याकल्पित? यदि यह स्वाभाविक है तो स्वभाव के अविनाशी होने से वह कभी नष्ट नहीं होगा और इस प्रकार जीव को नित्य मानना होगा। यदि यह भेद अविद्याकल्पित है तो प्रश्न होगा कि "भेद की कल्पना करनेवाली अविद्या किसकी है? ब्रह्म की या जीव की? यदि ब्रह्म की है तो ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान हो गया। किन्तु ब्रह्म के स्वभावतः विशुद्ध ज्ञानस्वरूप होने से यह सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को ब्रह्म के साथ संयुक्त मानते हैं तो अद्वैत विलुप्त हो जाता है। फिर, ब्रह्म में अविद्या कहाँ से आई? अन्य कोई है नहीं, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं। यदि यह कहा जाए कि यह ब्रह्म के लिए स्वाभाविक है तो प्रश्न उठता है कि जिसका स्वभाव ही ज्ञान है अज्ञान उसके लिए स्वाभाविक कैसे हो सकता है? सूर्य के अन्दर अन्धकार के लिए कोई स्थान नहीं हो

सकता।"[1] कुमारिल अद्वैत के विरोध में इस प्रकार तर्क करते हैं—"यदि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है और विशुद्ध है तथा उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, तो अविद्या के व्यापार को कौन उत्पन्न करता है? यदि कहो कि अन्य कोई इसका कारण है और वह ब्रह्म से भिन्न है तो अद्वैत विलुप्त हो जाता है। यदि इसका स्वभाव है तो इसका कभी नाश नहीं होगा।"[2]

यदि अविद्या जीव की है तो वह जीव के आश्रित हो गई, जबकि अविद्या की कल्पना स्वयं जीवभेद-दर्शन के लिए की गई थी। अद्वैत-दर्शन में अविद्या के बिना जीव का अस्तित्व नहीं और जीव के बिना अविद्या का ठिकाना नहीं। इससे अन्योऽन्याश्रयदोष की प्राप्ति होगी। यथार्थ यही है कि जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और अल्पज्ञ होने के कारण वही अविद्या से ग्रस्त होने से जन्म-मरण के बन्धन में आता रहता है।

जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव के पक्ष में एक दृष्टान्त के द्वारा भेदाभेदवाद को पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रबद्ध किया है—

**ईश्वरांशः जीवोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् ॥६३॥**

जीव ईश्वर का अंश है, अग्नि की चिंगारियों के समान।

भेदाभेदवाद के अनुसार जीवात्मा, ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। परब्रह्म देशकाल तथा कार्य-कारण की परिधि से परे होने के कारण अखण्ड है, इसलिए जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता। पर वह ब्रह्म से भिन्न भी नहीं हो सकता, जैसाकि मध्व कल्पना करता है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जीवात्मा के यथार्थ सत्ता से भिन्न होने का अर्थ होगा कि वे ज्ञानस्वरूप सत्ता

---

१. यदि भ्रान्तिः सा कस्य? न ब्रह्मणः तस्य स्वच्छविद्यास्वरूपत्वात्। ब्रह्मातिरिक्तेण भ्रान्तिज्ञानं चेत् अद्वैतहानिः। तर्हिः किंकृता ब्रह्मणोऽविद्या, न हि कारणान्तरमस्ति। स्वाभाविकीति चेत् कथं विद्यास्वभावमविद्यास्वभावं स्यात्। न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः संभवति।

—पार्थसारथी मिश्रः, शास्त्रदीपिका, पृ० ३१३-१४

२. स्वयं च शुद्धरूपत्वात् अभावाच्चान्यवस्तुनः।
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिः तस्य किंकृता॥
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते।
स्वाभाविकीमविद्यान्तु नोच्छेत्तुं किञ्चिदर्हति॥

—कुमारिल-श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, पृ० ८४।८५

के स्वभाव के नहीं हैं। इसी प्रकार जीव के यथार्थ सत्ता से अभिन्न होने का तात्पर्य होगा कि वे किसी भी अवस्था में एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवात्मा, जो प्रतिबन्धरूप शरीर, इन्द्रियों तथा मन आदि सहायकों द्वारा सीमित है, ब्रह्म से भिन्न है। तथापि ज्ञान, ध्यान, समाधि के द्वारा मोक्षलाभ कर उच्चतम आत्मा के साथ ऐक्य प्राप्त कर लेता है। जीवात्माओं तथा निरपेक्ष परब्रह्म के मध्यगत सम्बन्ध की तुलना अग्नि से निकलती हुई चिंगारियों से की जा सकती है। जिस प्रकार अग्नि से निकलती हुई चिंगारियाँ अग्नि से निःसृत होने के कारण उससे सर्वथा भिन्न नहीं हैं, परन्तु वे उससे सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि उस अवस्था में उन्हें न तो अग्नि से पृथक् रूप में परस्पर पहचाना जा सकता है और न उनमें परस्पर भेद किया जा सकता है।

दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल प्रायः उपनिषदों में उपलब्ध है। अग्नि-विस्फुलिंग-सम्बन्ध के विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि "जैसे जलती हुई आग से सहस्रों चिंगारियाँ उसके समानरूप प्रादुर्भूत होती हैं, ऐसे अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते और उसी में विलीन हो जाते हैं।"[1] शंकराचार्य ने जीव और परब्रह्म का अंशांशिभाव सिद्ध करने में हेतु दिया है—इन दोनों के भेद तथा अभेद का शास्त्रों में व्यपदेश। शास्त्रों में कहीं तो जीवात्मा को ब्रह्म से भिन्न बताया है, जैसे—**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** (मु० ३।१।१) इत्यादि में और कहीं अभिन्न कहा है, जैसे—**'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः'** (ईश० ७) इत्यादि में। इस प्रकार जीवात्मा न तो सर्वोपरि यथार्थ सत्ता से भिन्न है और न अभिन्न।

अगले सूत्र में इस भेदाभेदवाद का प्रत्याख्यान किया है।

**न सादृश्याभावात् ॥६४॥**

सादृश्य का अभाव होने से [जीवात्मा परमात्मा के समान] नहीं।

अग्नि से जितनी चिंगारियाँ निकलती हैं वे सब एक ही अग्निपुञ्ज से निःसृत होने के कारण गुणों की दृष्टि से एक-दूसरे के समान होती हैं, परन्तु जीवात्माओं के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे लगभग सभी बातों में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अंशी के गुण

---

१. **यथासुदीप्तात् पावकाद् विस्फुल्लिगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥**

—मुण्डक० २।१।१

उसके सभी अंशों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। चीनी का एक-एक कण अनिवार्यतः मीठा और नमक का नमकीन होता है। इस न्याय से एक ही मूल=ब्रह्म से निःसृत सभी अंशों में ब्रह्म के समस्त गुणों का दर्शन होना चाहिए. परन्तु अरबों मनुष्यों और मनुष्येतर असंख्य प्राणियों को देखकर कौन कह सकता है कि अज्ञान, स्वप्न, भ्रान्ति आदि से अभिभूत ये समस्त जीव, अग्नि की चिंगारियों के समान, किसी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म के अंश हैं! हाँ, अंशतः समान होने के कारण जीव को ईश्वर का अंश या उसकी छाया कह दिया जाए तो और बात है, किन्तु यह अंशत्व अथवा आभासत्व सर्वथा औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं।

जहाँ उपमेय में कल्पित उपमान की सम्भावना की जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा में प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत (उपमान) की सम्भावना की जाती है। सम्भावना सन्देह से कुछ ऊपर और निश्चय से कुछ नीचे होती है। इसमें विलक्षण कवि-कल्पना का भाग रहता है, तभी चमत्कार आता है। इसलिए उत्प्रेक्षा में उपमेय में कविकल्पित उपमान की सम्भावना होती है। इस विषय में भ्रान्ति न हो, इसीलिए शंकर ने जीवात्मा को ईश्वर का 'अंश इवांशः'—अंश जैसा कहा है, अंश नहीं। परब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, चेतन तत्त्व है। जीवात्मा अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, देहमात्र में सीमित नियन्ता, चेतन है। चैतन्यस्वरूप दोनों का समान है। परब्रह्म नियन्ता-तत्त्व है, जीवात्मा नियम्य है। इस भावना के अनुसार इनके अंशांशि-भाव-सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है।

मुण्डकोपनिषद् (२।१।१) के उपर्युक्त उद्धरण में 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है। उसी से समानरूप से सृष्टि की उत्पत्ति और उसी में लय होने का यहाँ उल्लेख हुआ है। पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए यहाँ यही अर्थ युक्त है। जैसे जलती हुई आग से सहस्रों चिंगारियाँ उसके समानरूप प्रादुर्भूत होती हैं, वैसे अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं।[1] उत्पन्न होनेवाले विविध भावों (पदार्थों) को 'सरूपाः' विशेषण द्वारा कारण के समान कहा है। जड़ जगत् चेतन ब्रह्म के समान नहीं है। जगत् का कारण उसके समान जड़ होना चाहिए।

---

१. **स्वामी शंकराचार्य तथा पं० भीमसेन आदि अनेक विद्वानों ने 'भावाः' का अर्थ 'पदार्थाः' किया है।—नारायण स्वामी**

इसलिए 'अक्षर' पद यहाँ जगत् के उपादान कारण प्रकृति का ही वाचक है। इस अर्थ की पुष्टि अगले सन्दर्भ 'अक्षरात्परतः परः' (२।१।२) से भी होती है। सामान्यतः 'अक्षर' पद प्रकृति और परमेश्वर दोनों का वाचक है। यहाँ ब्रह्म का निर्देश करते हुए उसे 'अक्षर' से 'परात्पर' कहा गया है। यदि यहाँ अक्षर पद से ब्रह्म का ग्रहण किया जाए तो ब्रह्म से 'परात्पर' अर्थात् ब्रह्म से भी परे=उत्कृष्ट और उससे भी अधिक उत्कृष्ट किसी तत्त्व की कल्पना करनी होगी अथवा ब्रह्म को ब्रह्म से परात्पर=उत्कृष्ट मानना होगा। दोनों ही विकल्प प्रमत्तवाक्य के समान होंगे। प्रकृति अर्थ मानने पर वाक्यार्थ सर्वथा संगत होगा। अक्षर (प्रकृति) से पर अर्थात् उत्कृष्ट चेतन जीवात्मतत्त्व और उससे भी अर्थात् दोनों (प्रकृति व पुरुष) से उत्कृष्ट पुरुषोत्तम—चेतनतत्त्व ब्रह्म है। इस प्रकार 'अक्षर'-प्रकृति से ब्रह्म परात्पर है, उससे उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है।[1]

उपादानकारण से उससे अभिन्न कार्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् कार्य में उपादान के वस्तुतत्त्व बने रहते हैं,[2] जैसे—मिट्टी से बनी प्रत्येक वस्तु में मिट्टी बनी रहती है। यदि अग्नि की चिंगारियों के समान ब्रह्म से जीवों की उत्पत्ति मानी जाए तो जिस प्रकार अग्नि की चिंगारियाँ अपने उपादान अग्नि के समान होती हैं, वैसे ही समस्त जीवात्मा अपने उपादान ब्रह्म के समान होने चाहिएँ। परन्तु, जैसा कि पहले ही अनेकशः सिद्ध किया जा चुका है, जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव परमात्मा से भिन्न हैं, परन्तु प्राकृत पदार्थ प्रकृति के गुणों से युक्त हैं, अतः जिस 'अक्षर' से विविध भाव अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होते हैं वह 'अक्षर' प्रकृति ही है। प्रलय-दशा में वे सब पदार्थ अपने उपादान अर्थात् कारणरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।

जहाँ तक शास्त्र में व्यपदेश के कारण जीव और ब्रह्म के भेद तथा अभेद का सम्बन्ध है, उसे समझने के लिए तत्सम्बन्धी वाक्यों को व्यापक एवं आधारभूत सिद्धान्तों के प्रकाश में देखना आवश्यक है। जीवात्मा तथा परमात्मा का स्वरूप से भेद तथा चेतनभाव से अभेद है। जबतक परमात्मा से विमुख हुआ जीवात्मा प्रकृति में प्रवृत्त रहता है तबतक वह परमात्मा के पास रहता हुआ भी उससे दूर रहता है। किन्तु जब प्रकृति

१. तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।—ऋ० १०।१२९।२
२. स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानत्वम्।

के सम्पर्क में न रहकर केवल विशुद्ध स्वरूप से अवस्थित रहता है तब वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ अभेद की-सी स्थिति में पहुँच जाता है। किन्तु स्वरूप से भिन्न किन्हीं दो वस्तुओं में पूर्ण तादात्म्य होना अथवा निरवयव वस्तु का अंशरूप होकर विघटित होना कभी सम्भव नहीं। फलतः उक्त विवेचन के अनुसार पुत्र-पिता के समान आत्मा-परमात्मा के अंशांशिभाव आदि सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है, सम्पूर्ण इकाईरूप ब्रह्म में से कटकर बने हुए वास्तविक अंशों के जीवात्मरूप की नहीं।

वस्तुतः अग्नि और उससे निकलनेवाली चिंगारियों के समान अंशांशिभाव की कल्पना चेतन तत्त्वों में नहीं की जा सकती। अग्नि अनेक परमाणुओं के संयोग से बनती है, इसलिए उससे चिंगारियाँ निकल सकती हैं; परन्तु परमात्मा संयुक्त द्रव्य नहीं है, अतएव उसके अंश बनकर उससे वियुक्त नहीं हो सकते। अग्नि की चिंगारी अंगारे से छिटककर आकाश अर्थात् रिक्त स्थान में चली जाती है। परमेश्वर के विभु अर्थात् सर्वत्र ओतप्रोत होने से कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है। तब उसका अंश (जीव) उससे अर्थात् अपने अंशी (परमात्मा) से छिटककर कहाँ जाएगा? फिर, अग्नि से जितनी भी चिंगारियाँ निकलेंगी उतना ही अग्नि का ह्रास होगा। उसी प्रकार यदि जीवात्मा चिंगारियों के समान परमात्मा से अलग होकर दूर-दूर जा पड़ेंगे तो परमात्मा का ह्रास होकर वह विकारी हो जाएगा। चिंगारियाँ एक बार अग्नि से निकलकर फिर उसमें कभी नहीं लौटतीं। परन्तु अग्नि से निकलनेवाली चिंगारियों के समान जीवात्माओं का परमात्मा से अभेद माननेवाले समय आने पर उन चिंगारियों का लौटकर पुनः परमात्मा में समा जाना मानते हैं। इस प्रकार परमात्मा का ह्रास एवं विकास होता रहेगा।

जीवात्मा तथा परमात्मा के तादात्म्य सम्बन्धी कतिपय अन्य दृष्टान्तों की समीक्षा अगले कुछ सूत्रों में की गई है—

**न फेनोर्मिबुद्बुदादिवत् ॥६५॥**

[आत्मा] फेन, लहरों या बुलबुलों की भाँति नहीं।

नदी अथवा समुद्र में उठनेवाली लहरें तथा बुलबुले जल में स्वतः उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में वे जल ही हैं। जल से स्वतन्त्र उनकी कोई सत्ता नहीं। इसी प्रकार

पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेवाले जीव वास्तव में ब्रह्म का ही रूप हैं। अज्ञानियों को ही वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। नदी और उसमें होने-वाले विकार—फेन, लहरें, बुलबुले आदि—दोनों भौतिक पदार्थ होने से प्रत्यक्ष का विषय हैं। इसलिए ब्रह्म के प्रसंग से उनका दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता। फिर, यदि केवल जल होता तो उसमें लहरें या बुलबुले कभी न उठते। जल में ये विकार उससे भिन्न वायु आदि के कारण हैं। वायु आदि के प्रभाव से ही जल में चंचलता आकर वह लहरों या बुलबुलों का रूप धारण करता है। किन्तु ब्रह्म तो दूसरों को गति देता है, स्वयं गति नहीं करता। वह बिल्कुल नहीं हिलता।[1] हिले कैसे? हिलने के लिए रिक्त स्थान चाहिए। कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं करती जहाँ वह है और उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है। गति एक स्थान से (जहाँ कोई वस्तु है) दूसरे स्थान को (जहाँ वह नहीं है) हो सकती है। यह एकदेशी के लिए सम्भव है, सर्वदेशी के लिए नहीं। ईश्वर के सर्वव्यापी—सर्वत्र ओतप्रोत होने से कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। तब, वह कहाँ गति करे? फिर, जिस प्रकार जल को गति देने के लिए वायु आदि का होना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्म को गति देकर उसमें विकार उत्पन्न करने के लिए उससे भिन्न और अधिक शक्तिसम्पन्न सत्ता का होना आवश्यक है; ऐसी कोई सत्ता है नहीं। यदि, दुर्जनतोषन्याय से किसी ऐसी सत्ता को मान लिया जाए तो इससे अद्वैत न रहकर, द्वैत की सिद्धि होगी और फिर, ये अज्ञानी कौन हैं जो ब्रह्म को विकारी मानकर उसे जीव समझने की भूल कर रहे हैं? ब्रह्म से अतिरिक्त तो अन्य कोई है नहीं और सर्वज्ञ ब्रह्म अपने को कुछ-का-कुछ समझ बैठे, यह सम्भव नहीं। वस्तुतः अविकारी एवं अपरिणामी होने के कारण जल में उठनेवाली लहरों या बुलबुलों की भाँति उसमें किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं।

**जलवीच्यैकात्मतायामाविर्भावतिरोभावरूपेण**
**वीच्यादिनित्यत्वान्मोक्षानुपपत्तिः ॥६६॥**

जल में उठनेवाली तरंगों की भाँति (जीव तथा ब्रह्म का) तादात्म्य

---

१. **तदेजति तन्नैजति**—यजु० ४०।५; **अनेजत्**—यजु० ४०।४

मानने पर तरंगों के उठने तथा विलीन होने के क्रम के नित्य होने से मोक्ष कभी सिद्ध नहीं होगा।

समुद्र में तरंगें उठती रहती हैं। एक जाती है, दूसरी आती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। जबतक जल है तबतक लहरों के आविर्भाव-तिरोभाव का अन्त नहीं होगा। इसका अर्थ है कि जल में उठनेवाली लहरों की भाँति परमेश्वर में जीवात्मरूपी लहरें सदा उठती और विलीन होती रहेंगी—जीवात्माओं की उत्पत्ति और विलय होता रहेगा। नित्य नये जीवों की सृष्टि और उनका विलय होता रहेगा। परिणामतः जहाँ एक ओर आत्मा के अनुत्पन्न-अविनाशी होने विषयक सिद्धान्त की हानि होगी, वहाँ परमात्मा सदा विकारी बना रहेगा। इस प्रकार अनित्य होने से जीवात्मा कभी मुक्त नहीं होगा और विकारी होने से परमात्मा भी अपने स्वरूप को खो बैठेगा।

**न सरित्सागरविलयवच्च ॥६७॥**

[मोक्ष] नदियों के समुद्र में विलय के समान नहीं है।



वर्षाकाल में आकाश से जो बूँदें गिरती हैं वे समुद्र से आती हैं और नदी-नालों के रूप में बहकर अन्ततः समुद्र में जा मिलती हैं। इसी प्रकार जीवात्माओं का ब्रह्म से प्रादुर्भाव होता है और अन्ततः उसी में उनका विलय हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में उपलब्ध समुद्र और और नदी का दृष्टान्त इसी का निरूपण करता है। वहाँ लिखा है—"जिस प्रकार नदियाँ बहती-बहती अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष नामरूप का परित्याग करके परमात्मा को प्राप्त कर तद्रूप हो जाता है।"[1]

उपर्युक्त सन्दर्भ में समुद्र से आनेवाली बूंदों के धरती पर बरसने और नदी-नालों के रूप में बहकर पुनः अपने उद्गम-समुद्र में जा मिलने से समझा जाता है कि परमात्मा से उद्भूत जीवात्मा के कालान्तर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर उसी में उसका विलय हो जाता है और इस प्रकार उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यथार्थ में ऐसा नहीं है। वस्तुतः इस दृष्टान्त से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद सिद्ध नहीं होता। कठोपनिषद् में कहा है—"जैसे शुद्ध जल में शुद्ध जल

१. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
—मुण्डक० ३।२।८

मिल जाता है, वैसे ही मुक्त आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है।"[1] उपनिषद् के इस वचन से जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट होता है, अभेद नहीं। यदि अभेद होता तो मिलने का प्रश्न ही न उठता। संयोग सदा दो का होता है। एक में संयोग-सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि कहा जाए कि पहले एक के दो हो गये थे, पुनः दोनों का मेल हो गया तो एक से दो में विभक्त होनेवाले पदार्थ का सावयव एवं परिणामी होना सिद्ध है, किन्तु ब्रह्म निरवयव तथा अपरिणामी है, अतएव उसके वियुक्त और तदनन्तर संयुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि भेद को दर्शाती हैं। **'तादृगेव भवति'** (वैसा ही हो जाता है) ये शब्द ही द्वैतसिद्धि में प्रमाण हैं। यह प्रत्यक्ष है कि जल में जल मिलकर बढ़ता है, नष्ट नहीं होता।

सामान्यतः समुद्र जल का भण्डार होता है। असंख्य बिन्दुओं से मिलकर समुद्र बनता है। इन बिन्दुओं से पृथक् समुद्र का अस्तित्व नहीं। यदि किसी कारण ये बिन्दु सूख जाएँ तो समुद्र का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। यदि समुद्र की भाँति ब्रह्म को भी असंख्य जीवों का संघात माना जाएगा तो ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। ऐसा ब्रह्म किसी को स्वीकार्य नहीं होगा।

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उसका बाह्यरूप—उसका आकार, प्रकार, रंगरूप आदि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्त्व कहते हैं। नामरूप शरीर के होते हैं, जीवों के नहीं। रूप जन्म के साथ आता है, नाम पुकारने की सुविधा के लिए लोगों द्वारा दिया जाता है। समय के साथ रूप बदलता रहता है—कभी-कभी इतना बदल जाता है कि पहचान में नहीं आता। कभी-कभी नाम भी बदल जाता है, किन्तु सब-कुछ बदल जाने पर भी अपनी दृष्टि में और दूसरों की दृष्टि में भी मैं ७० वर्ष बाद भी वही हूँ जो जन्म के समय था। जो ७० वर्ष तक ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वस्तुतः मैं वही हूँ।[2] संसार से विदा होते समय मैं अपने नामरूप का परित्याग कर देता हूँ, किन्तु मेरी सत्ता तब भी बनी रहती है। नदियों के समुद्र

---

१. **यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥**—कठ० ४।१५

२. **स्वशरीरगतबालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति।**
—ब्रह्मसूत्र, रा० भा० १।१।१३

में मिलने के सम्बन्ध में जो कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि समुद्र में मिलते समय नदियाँ अपने पहले नाम और विशेष रूप को छोड़ देती हैं, पर नदी के रूप में समुद्र में मिलने पर भी उनका वस्तुतत्त्व-जल नष्ट नहीं होता—उसकी एक भी बूँद स्वरूप से अपने अस्तित्व का परित्याग नहीं करती। यही कारण है कि नदी का जल समुद्र में मिलकर उसके जल की मात्रा को बढ़ा देता है। जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा कभी न होता। जलरूप में समुद्र और नदी के जल समान हैं। इतना अवश्य है कि समुद्रजल के लावण्य से नदीजल आप्लावित हो जाता है। यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि वह जल वाष्परूप में फिर उठता, पृथिवी पर गिरता और नदीरूप में बहकर फिर वहीं पहुँच जाता है। यह क्रम अनादि-अनन्त है, अंशतः कुछ ऐसी ही स्थिति आत्मा और परमात्मा की है।

बद्ध अवस्था में जीवात्मा शरीरधारी होता है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा आदि की अपेक्षा से शरीर होता है और शरीरों की पहचान के लिए नाम रक्खे जाते हैं। जब जीव मुक्त हो जाता है तो शरीर नहीं रहता और शरीर के न रहने पर उसकी पहचान के लिए रक्खा गया नाम भी नहीं रहता, मात्र जीव रह जाता है। तब, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गंगा-यमुना का नाम और रूप खो बैठती हैं, उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्यरूप—शरीर और देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नामों को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त होता है, परन्तु अपने नामरूप को खोकर भी मुक्तजीव का वस्तुतत्त्व—आत्मतत्त्व, नष्ट नहीं होता। हाँ, जैसे समुद्रजल के लावण्य से नदी-जल आप्लावित हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म को साक्षात् करनेवाला आत्मा मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द से आप्लावित रहता है। जीवात्मा के परमात्मा में विलीन होने का यही तात्पर्य है। इसी को अभेद की स्थिति कहा जा सकता है। आत्मा अपने अस्तित्व को खो बैठता है, ऐसा कभी सम्भव नहीं।

समुद्रतट पर खड़ा व्यक्ति अथाह समुद्र की विशालता और उसकी तुलना में अपनी अंजलि में भरे जल अथवा नदी की तुच्छता का अनुभव किये बिना नहीं रहेगा। उपनिषद् में उपलब्ध यह दृष्टान्त किसी भी मनुष्य को सर्वशक्तिमान् तथा अनन्त सामर्थ्ययुक्त परमेश्वर की तुलना में अपनी तुच्छता का अनुभव कराने और इस प्रकार उसके अहंकार को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार की उपमाओं,

उत्प्रेक्षाओं आदि के रहस्य अथवा गूढार्थ को समझने के लिए अत्यन्त सूक्ष्मैक्षिका बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसा न होने पर निरवयव ब्रह्म का विघटन होने एवं जीवात्मा के अनित्य हो जाने की आशंका है।

परमात्मा का सर्वव्यापी होना प्रायः सर्वसम्मत है। जो सर्वत्र स्वतः उपलब्ध है उसे प्राप्त करने की चेष्टा क्यों करनी पड़ती है ? इस जिज्ञासा अथवा शंका को सूत्रबद्ध किया है—

**नाप्यत्वं सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात् ॥६८॥**

सर्वान्तर्यामी होने के कारण नित्य प्राप्त रहनेवाले को प्राप्त क्या करना ?

यदि ब्रह्म और जीव में भेद भी हो तो ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न अपेक्षित नहीं। जैसे आकाश के सर्वत्र व्याप्त होने से उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही ब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने से वह अनायास सबको प्राप्त है। यजुर्वेद में कहा है कि "वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा समस्त प्रजाओं में ओतप्रोत है—व्याप्त है।"[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी बताया है कि "उस अजर, अमर तत्त्व को हमें जानना चाहिए जो सर्वव्यापक होने से सर्वान्तर्यामी है और सबका साक्षी है।"[2] इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि "अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक, विभु परमात्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।"[3] सर्वगत तथा सर्वव्यापक शब्दों से अनेकत्र परमात्मा का वर्णन है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस सन्दर्भ में लिखा है कि जैसे दूध के प्रत्येक कण में घी व्याप्त रहता है, ऐसे ही विश्व के कण-कण में परमात्मा व्याप्त है।"[4] इन सब और ऐसे अन्य अनेक प्रमाण-वाक्यों से सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा सर्वगत-सर्वव्यापक है। इस प्रकार जब परमात्मा सर्वत्र सर्वव्यापक है—सबके अन्दर-बाहर विद्यमान है तो उसे प्राप्त करने का निर्देश क्यों किया जाए ? व्याप्त की आप्यता क्यों ?

सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी होते हुए भी परमात्मा सुलभ क्यों नहीं है—इसका कारण बताते हैं—

---

१. स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु।—यजु० ३२।८

२. वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।—श्वेत० ३।२१

३. नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।—मु० १।१।६

४. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।—श्वेत० १।१६

**न ज्ञानादृते तत्प्राप्तिः ॥६६॥**

ज्ञान के बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि ब्रह्म आत्मा को सर्वत्र प्राप्त है, पर अज्ञान उसे ब्रह्म से दूर रखता है। इसलिए आत्मज्ञान के द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। जीव तथा ब्रह्म का भेद मानने पर 'आप्य' का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि आप्य न केवल देश या काल की अपेक्षा से होता है, अपितु ज्ञान की अपेक्षा से भी। यद्यपि देश और काल की अपेक्षा से ब्रह्म सबको प्राप्य है, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। यद्यपि जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, तथापि दोनों नित्य होने के कारण काल की अपेक्षा से एक-दूसरे से दूर नहीं हैं। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से जीव और ब्रह्म में देशगत दूरी भी नहीं है। परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण, ब्रह्म के सर्वव्यापक तथा सर्वान्तर्यामी होने पर भी, जीव उससे दूर है। यही कारण है कि ब्रह्म को सर्वव्यापी माननेवाले अज्ञानी पुरुष देश-देशान्तर में—क्षीरसागर तथा कैलासपर्वत पर, काशी तथा हरिद्वार में, अमरनाथ और बद्रीनाथ में—खोजते-फिरते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"लड़का बग़ल में और शहर ढंढोरा।" कभी-कभी हम किसी वस्तु को घर में—यत्र-तत्र-सर्वत्र खोजते रहते हैं, जबकि वह हमारी जेब में पड़ी होती है। इसमें केवल हमारा अज्ञान कारण होता है। अज्ञान के कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है।

दो सत्ताओं का मेल वहीं हो सकता है जहाँ दोनों विद्यमान हों। रेलगाड़ी दिल्ली से कलकत्ता तक चलती है, किन्तु यात्री को वह सर्वत्र सुलभ नहीं होती—वह जहाँ चाहे गाड़ी में नहीं बैठ सकता। उसके लिए ऐसा स्थान निश्चित करना पड़ता है जहाँ गाड़ी भी हो और यात्री भी। ऐसे नियत स्थान को स्टेशन के नाम से पुकारा जाता है। जीव को ब्रह्म की प्राप्ति वहाँ हो सकती है जहाँ जीव तथा ब्रह्म दोनों विद्यमान हों। निस्सन्देह सर्वदेशी ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु जीव एकदेशी होने से सर्वत्र विद्यमान नहीं है। हृदय वह स्थान है जहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का आवास है। गीता में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में विद्यमान है।[1] उधर उपनिषदों में अनेकत्र बताया

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। —गीता० १८।६१

है कि जीवात्मा हृदय में निवास करता है।[1] इसलिए जीव को ब्रह्म का प्राप्यत्व वहीं सम्भव है अर्थात् ब्रह्म के सर्वव्यापी होते हुए भी जीवात्मा को उसका साक्षात्कार अपने हृदय में ही हो सकता है।

परन्तु इतना निकट—दोनों के बीच देशकाल की किंचित् दूरी न होने पर भी जीवात्मा परमात्मा को नहीं देख पाता। यजुर्वेद (४०-५) में आये 'तद्दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह पास भी है और दूर भी—शब्द विचारणीय हैं। पास और दूर, दोनों एकसाथ करने में परस्पर विरोध का आभास है। पास—हृदयस्थ होते हुए भी दूर क्यों? इसका उत्तर कठोपनिषद् में मिलता है। वहाँ बताया है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए वे बाहर की ओर ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख पातीं।[2] परब्रह्म हृदय के भीतर विद्यमान है, इसलिए वह बहिर्मुखी इन्द्रियों से अग्राह्य है।[3] मन से भी ब्रह्म का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं; उसका चिन्तन करने में वह सहयोग अवश्य दे सकता है। परन्तु इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि प्रयत्न करनेवाले बड़े-से-बड़े विद्वान् के मन को भी बलात् उधर से हटाकर मनमाने कार्यों में प्रवृत्त कर देती हैं।[4] भगवान् मनु ने बहुत पहले यह घोषणा कर दी थी कि इन्द्रियों का यह गण इतना बलवान् है कि बड़े-से-बड़े विद्वान् को भी यह पथ-भ्रष्ट कर देता है।[5] इस प्रकार इन्द्रियों के वश में हुआ मन और मन के वशीभूत हुआ आत्मा संसार में प्राकृत करणों से आवेष्टित रहता हुआ सांसारिक भोगों में आसक्त रहता है। जब उसकी आध्यात्मिक भावना किन्हीं कारणों से जाग्रत् होती है तब उसकी वृत्ति बाह्य विषयों से हटकर भीतर की ओर उन्मुख होती है और वह इन्द्रियसंयमपूर्वक समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है। अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान द्वारा दृढ़ एवं निरन्तर अभ्यास से समाधिलाभ के अनन्तर अपने भीतर मल, विक्षेप, आवरण से रहित पवित्र हृदय में स्थित ब्रह्म का साक्षात्

---

१. हृदि ह्येष आत्मा (प्रश्न० ३।६); स वा एष आत्मा हृदि (छा० ८।३।३); हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृहद० ४।३।७)

२. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्।
—कठ० २।१।१

३. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्।—मुण्डक० १।१।६

४. यततोऽह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥—गीता २।६०

५. बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।—मनु० २।२१५

अनुभव करता है। इन साधनोपायों को अपनाने पर ही मनुष्य सर्व-व्यापक ब्रह्म को पकड़ पाता है।

यद्यपि परमात्मा सब काल में विद्यमान है और प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, तथापि वह वस्तुमात्र में प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल चिकने धरातलों पर ही पड़ता है, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक परमेश्वर का साक्षात्कार भी केवल मेधा अथवा बोधशक्ति के द्वारा ही हो पाता है।[1] श्वेत० (१-१६) में प्रस्तुत दृष्टान्त में दूध में सर्वत्र व्याप्त घी के समान ब्रह्म को सृष्टि के कण-कण में व्याप्त बताया है, परन्तु सभी जानते हैं कि दूध के कण-कण में व्याप्त होने पर भी घी स्वतः प्राप्त नहीं होता। इन्द्रियों से भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। विशेष प्रक्रिया द्वारा प्रयत्न करने पर ही उसे प्राप्त किया जाता है। प्रक्रिया-अनभिज्ञ व्यक्ति उसे नहीं पा सकता। इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होने पर भी विशेष प्रक्रिया द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

वस्तुतः जीव का अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान ही मोक्ष अथवा ब्रह्म की प्राप्ति में बाधक है[2] और सम्यक् ज्ञान मोक्ष की ओर ले जाता है।[3] ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में जो अज्ञान है उसके दूर हो जाने पर जीवात्मा परमात्मा में अवस्थित होता है। इसलिए शंकर ने अविद्या की निवृत्ति अथवा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति को ही 'मोक्ष' नाम से अभि-हित किया है।[4]

मोक्ष का लक्षण अथवा उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं—

**अनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिर्मोक्षः ॥७०॥**

अबाधित आनन्द की प्राप्ति मोक्ष है।

प्राणिमात्र दुःखों से छुटकारा पाने और सुख के साधनों का संचय करने में प्रवृत्त रहता है।[5] विश्व के विषय-क्रम में केवल मानवीय

---

१. **सदा सर्वत्र गतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।**
**बुद्धचा वावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बतः॥**—आत्मबोध पृ० १७

२. **बन्धो विपर्ययात्।**—सां० ३।२४

३. **ज्ञानान्मुक्तिः।**—सां० ३।२३

४. **अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।**—मुण्डक० शां० भा०, १।५
**अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः।**—तैत्ति० शां० भा०, प्रस्तावना

५. **दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।**

जीवात्मा ही भौतिक जीवन के अधीन है। वह जानता है कि उसके सम्बन्ध सान्त एवं अनन्त दोनों के साथ हैं। अनन्त ब्रह्म का समस्त सान्त जगत् में निवास है और मनुष्य इस सत्य से अभिज्ञ है। उस अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति सबसे अधिक मानव-जीवन के अन्दर होती है। इसलिए मनुष्य नैतिक तथा तार्किक क्रियाशीलता का अधिकारी है। जबतक जीवात्मा उन नैतिक आदर्शों के लिए पुरुषार्थ करता है, परन्तु उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता तबतक वह बन्धन में है। परन्तु ज्यों-ही वह अपने प्रयत्न में सफल हो जाता है, त्यों ही अनन्त ब्रह्म के समीप पहुँच जाता है और उसकी आत्मा आनन्द से आप्लावित हो जाती है।

लोक में रहते हुए भी अनेक रूपों तथा अवस्थाओं में सुख का अनुभव होता है। किन्तु लौकिक साधनों से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। उन साधनों से प्राप्त सुख में कहीं-न-कहीं दुःख का मिश्रण रहता है। देहादि से सम्बद्ध होने के कारण सांसारिक सुख में स्थायित्व एवं नैरन्तर्य नहीं होता। प्रतिदिन हमें भूख लगती है। तब अन्नादि का प्रयोग कर हम उसका प्रतिकार करके सुखलाभ करते हैं। कुछ काल के पश्चात् भूख फिर सताने लगती है। उसे शान्त करने के लिए हम पुनः प्रयास करते हैं। कुछ समय के लिए भूख शान्त हो जाती है, पर वह हमारा पीछा नहीं छोड़ती। एक दुःख की निवृत्ति होने पर अन्य दुःखों की अनुवृत्ति होती रहती है। सब अवस्थाओं में दुःखों की वास्तविक निवृत्ति के लिए दृष्ट उपाय सर्वथा अधूरे हैं। भूख लगने पर उपयुक्त अन्नादि का मिलना, रोग होने पर प्रत्येक देश, काल या अवस्था में चिकित्सक या भैषज्य का उपलब्ध होना तथा इसी प्रकार की अन्य आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ अपेक्षित साधनों का जुटा पाना सम्भव नहीं। जुटा पाने पर भी दुःख की निवृत्ति का होना निश्चित नहीं। फिर ये साधन भी स्थायी नहीं—आज हैं, कल नहीं। इसलिए विवेकी पुरुष त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए लौकिक साधनो-पायों का अवलम्बन हेय समझते हैं। संसारी अवस्था में प्रकृति-सम्पर्क से स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से युक्त होकर जीवात्मा प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष, भूख-प्यास आदि से अपने को अभिभूत अनुभव करता है। जब यह शरीर-बन्धन से छूट जाता है, तब इससे सांसारिक प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते। यह आत्मा की वह अवस्था है जब इसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन की समस्त क्रियाओं का

लक्ष्य है, क्योंकि ब्रह्म केवल सत् और चित् ही नहीं, वरन् आनन्दमय भी है। इसीलिए वह समस्त पुरुषार्थ का ध्येय है। सब मनुष्य सर्वोत्तम की खोज में रहते और उसे पाने का प्रयत्न करते रहते हैं। मोक्ष का सार दुःख का अत्यन्त अभाव और असीम सुख की प्राप्ति है। मनुष्य दोनों को चाहता है, इसलिए मोक्ष की कामना सदा बनी रहती है।[1]

कठोपनिषद् में कहा है कि जो अन्तरात्मा में विद्यमान उस ब्रह्म को जान लेते हैं, उन्हीं को शाश्वत—स्थायी सुख की प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं।[2] स्पिनोज़ा का कथन है कि "हमारा समस्त सुख अथवा दुःख केवल ऐसे प्रमेय पदार्थ के ऊपर निर्भर करता है जिसके ऊपर हमारा प्रेम केन्द्रित है। ऐसी सत्ता के प्रति प्रेम, जो नित्य और अनन्त है, मन को ऐसे सुख से भर देता है जिसमें शोक व दुःख का लेशमात्र भी नहीं है।[3] मनुष्य का एकमात्र आध्यात्मिक व्यापार यथार्थसत्ता की खोज में निहित है, न कि उसमें जो हमारे लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है और इस यथार्थसत्ता की खोज तभी हो सकती है जब मनुष्य के निरर्थक तथा अपने महत्त्व के प्रति अत्यधिक अभिमान का सर्वथा परित्याग करने में अहंकारी तथा आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोणों को पूर्णरूपेण छोड़ दिया जाए। "ईश्वर के द्वारा आत्मा का बन्धन और मोक्ष सम्पन्न होता है, बन्धन उस अवस्था में जबकि ईश्वर को नहीं समझ पाता और मोक्ष तब जबकि वह उसे समझ लेता है।"[4] जब आत्मा को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब मोक्ष प्राप्त करने के लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। मोक्षावस्था में आत्मा प्रकृति के वश में नहीं रहता। जन्म-मरण का क्रम अवसित हो जाने पर

---

१. संक्षेपशारीरक—१।६४

२. **तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।**—कठ० २।१२

३. All our happiness or unhappiness depends solely on the quality of the object on which our love is fixed. But love towards an object, eternal and infinite, feeds the mind with a joy that is pure and with no tinge of sadness.

—Spinoza : De Intellectus Emendatione, P-P 9-10

४. Through God, the binding and the loosing of the soul are accomplished, binding when it does not recognise the essence of God and loosing when it does.

—Duesan's System of the Vedanta, P. 86

Cp. **तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति।**—यजु० ३१।१८

भौतिक संसर्ग से प्राप्त होनेवाले क्षुधा-तृषा, आधि-व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि के भय से वह सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मोक्षावस्था का छायारूप अनुभव समाधि तथा सुषुप्ति में होता है। सांख्यदर्शन में कहा है कि समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्म-रूपता—दुःखों से निवृत्ति होकर आनन्दानुभूति होती है।[1] समाधि और सुषुप्ति की अवस्था में मोक्ष के समान दुःख के अभाव और आनन्द के प्रादुर्भाव का कारण है—उस अवस्था में बाह्य तथा आन्तर इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने से प्राकृत जगत् से जीवात्मा का सम्बन्ध न रहना। सुषुप्ति का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन होता है। जाग्रत् अवस्था में मनुष्य का सम्पर्क इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् से बराबर बना रहता है। स्वप्नावस्था में आत्मा जाग्रत् के संस्कारों से प्रभावित रहता है। बाह्य इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर आन्तरेन्द्रिय मन सक्रिय बना रहता है। सुषुप्ति-अवस्था में इन सबके अभाव में मनुष्य स्वरूप में अवस्थित रहता है। हम किसी के विषय में 'स्वपिति' (सोता है) इसीलिए कहते हैं, क्योंकि उस अवस्था में वह अपने में (स्व) लीन (अपीत) रहता है।[2] 'अपि' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु का अर्थ है लीन होना। सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा सत् अर्थात् ब्रह्म में लीन होकर 'स्व' को—अपने वास्तविक 'स्व-रूप' को पहुँचा होता है। इसलिए इस अवस्था को मोक्षावस्था के समान बताया है।

सुषुप्ति की मुक्ति शरीरसहित, किन्तु ज्ञानरहित होती है। गाढ़ निद्रा में दुःखों की अनुभूति नहीं होती, किन्तु वस्तुतः सुषुप्ति में दुःखों का मात्र तिरोभाव होता है, अत्यन्ताभाव नहीं। परन्तु मोक्ष दुःख के अभाव का नहीं, सुख के भाव का नाम है। पर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् अत्यन्ताभाव के बिना आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। समाधि की मुक्ति शरीरसहित तथा ज्ञानसहित होती है। ज्ञानसहित होने से यह सुषुप्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें नैरन्तर्य नहीं है। समाधि के अनन्तर वृत्तिसरूपता पुनः उपस्थित हो जाती है। मरने के पश्चात् मुक्ति शरीररहित और ज्ञानसहित होती है। मोक्ष का सच्चा स्वरूप दुःखों की निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति है। यह तभी

---

१. समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।—सां० ५।११६

२. स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।
—छा० ६।८।१

प्राप्त होता है जब कोई पहले समाधि तथा जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। मोक्षावस्था में आत्मसाक्षात्कार की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। उस अवस्था में पुनः वृत्तिसरूपता सम्भावना नहीं होती। इसीलिए वह दुःख की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् आनन्दलाभ की अवस्था है जो इकत्तीस नील दस खरब चालीस अरब वर्ष तक बनी रहती है।

मोक्षावस्था किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

**ज्ञानकर्मोपासनासमुच्चयात्तत्सिद्धिः ।।७१।।**

ज्ञान, कर्म व उपासना के एक-साथ अनुष्ठान से उस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। शरीर की रचना भी इन दो गुणों की साक्षी है। शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के 'कर्मरूप' गुण को सार्थक करने के लिए हैं और कर्मेन्द्रियाँ उसके 'ज्ञान' गुण को सफल करने के लिए। जानना जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है। प्राप्ति के लिए कर्म की अपेक्षा है और कर्म को दिशानिर्देश ज्ञान से मिलता है। 'पंग्वन्धन्याय' के अनुसार ज्ञान के बिना कर्म अन्धा और कर्म के बिना ज्ञान लंगड़ा है। दोनों के संयोग-सहयोग से जीवनयात्रा सम्भव है। किन्तु ज्ञान और कर्म मिलकर आत्मा की गाड़ी को कहाँ ले जाएँगे ? यदि ज्ञान तथा कर्म का कोई लक्ष्य नहीं है तो वे बन्धन से मुक्त कराने के स्थान पर उसे और दृढ़ कर देंगे, अतः दोनों का समान उद्देश्य है आत्मा को परमात्मा के निकट पहुँचाकर उसे मोक्षलाभ कराना। ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय करते हुए यजुर्वेद में बताया है कि कर्म (अविद्या) से मृत्यु को पार करके आत्मा ज्ञान (विद्या) के द्वारा अमरता को प्राप्त करता है।[1] परलोक जाते जीवात्मा के लिए

१. **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।**—यजु० ४०।११

'अविद्या' शब्द में दो समास होते हैं—नञ् तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि। 'मन्त्रगत 'अविद्या' शब्द में नञ् तत्पुरुष है। यहाँ पर्युदास अर्थ में 'न' का विद्या शब्द के साथ समास हुआ है—न+विद्या=अविद्या। यह आद्युदात्त है। नञ् तत्पुरुष में उत्तर पद का निषेध करना हुआ तत्सदृश अर्थ का बोधक होता है। 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' यह व्याकरण-महाभाष्य (३।१।१२) का वचन इसमें प्रमाण है। 'अनश्वमानय' ऐसा आदेश होने पर भृत्य अश्व से भिन्न, किन्तु अश्वसदृश, सवारी के योग्य चतुष्पाद

विद्या (ज्ञान) तथा कर्म दोनों सहयोगी हैं। जब फल-प्राप्ति में दोनों का सहयोग है तो अकेले ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से फलोत्पादक नहीं माना जा सकता। उसका उपयोग कर्म का अंग होकर सम्भव है। छान्दोग्य० में कहा है कि "जो कर्म ज्ञानपूर्वक किया जाता है वह अधिक बलवान् होता है।"[1] कर्म जीवन की गाड़ी में इंजन है तो ज्ञान उसमें ब्रेक का काम देता है। कर्म के इंजन के बिना जीवन की गाड़ी चलती नहीं। पर ज्ञान का ब्रेक न हो, तो कहीं-न-कहीं उसके टकराकर टूट जाने का भय बना रहेगा। इसलिए ज्ञान और कर्म में समन्वय के बिना कार्यसिद्धि सम्भव नहीं। यह अमरता परमेश्वर के सान्निध्य में मिलती है। **'यस्य छायाऽमृतम्'** (यजु० २५।१३) जिसकी छाया में मोक्ष मिलता है—में यही भाव निहित है। जिस प्रकार तापगुण से युक्त अग्नि के सान्निध्य से उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपासना से आनन्द की उपलब्धि होती है, अतः ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए परमेश्वर की ओर बढ़ना मोक्षाभिलाषी का कर्त्तव्य है। बृहद्० में लिखा है कि "ब्राह्मण लोग वेदानुवचन से कर्म करते हुए परमात्मा को जानने का यत्न करते हैं। उसी को जानकर वे मुनि होते हैं।"[2] इस प्रकार के अनेक शास्त्रवचन ज्ञान-कर्म के समुच्चय के बोधक हैं।

शंकराचार्य अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में लिखते हैं—"अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों का वही फल है जो ज्ञान का।" इसपर शंका हुई—"ज्ञान तथा कर्म के फलों में तो भेद है, फिर दोनों का एक-सा फल कैसे हो सकता है?" इस शंका का समाधान स्वयं शंकराचार्य इस प्रकार

---

प्राणी को लाता है। इस प्रकार यहाँ 'अविद्या' शब्द से विद्या से भिन्न, किन्तु मोक्ष के साधन के रूप में तत्सदृश 'कर्म' का ग्रहण होता है। विद्या तथा कर्म का सहभाव शास्त्रों में अनेकत्र उपलब्ध है, जैसे—**'तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्वप्रज्ञा च'** (बृहद्० ४।४।२), (निरुक्त १४।७) दूसरा बहुव्रीहि समासवाला अविद्या शब्द **'नास्ति विद्या=यथार्थज्ञानं यस्यां सा'** जिसमें यथार्थज्ञान नहीं है, उस उल्टे ज्ञान को कहता है जो बन्ध का कारण है। योगसूत्रस्थ (२।५) 'अविद्या' के लक्षण में बहुव्रीहि समास अभिप्रेत है। कणाद मुनि ने भी लिखा है—**'इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या'**; **'तद् दुष्टं ज्ञानम्'** (वै० द० ६।२।१०,११)—युधिष्ठिर मीमांसक।

१. **यदेव विद्यया करोति···तदेव वीर्यवत्तरं भवति।**—छा० १।१।१०

२. **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। तमेव विदित्वा मुनिर्भवति।** —बृ० ४।४।२२

करते हैं—"इसमें कोई दोष नहीं। दही खाने से ज्वर हो जाता है और विष खाने से मृत्यु। परन्तु दही में गुड़ मिला दिया जाए तो उससे तृप्ति होती है, और विष को विशेष विधि से सेवन किया जाए तो उससे पुष्टि होती है। इसी प्रकार ज्ञान तथा कर्म के संयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है।"[1] अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने बृहद्० के पूर्वोद्धृत वचन (४।४।२२) को प्रस्तुत किया है। ये कर्म ज्ञानोत्पत्ति के लिए किये जाते हैं। इन कर्मों के अनुष्ठान से जब ज्ञान प्राप्त हो गया तो इन कर्मों से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो गई। तब ज्ञान द्वारा इनके नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। गीता में कहा है कि ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।[2] यह भी निर्विवाद सत्य है कि बिना भोगे कर्मों का क्षय नहीं होता।[3] तब इन परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में किस प्रकार सामञ्जस्य हो सकता है? कर्मफलप्राप्ति की प्रक्रिया को समझने पर ही इस समस्या का समाधान सम्भव है। कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं—क्रियमाण, सञ्चित तथा प्रारब्ध। क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्त्तमान जीवनकाल में किये जाते हैं। इनमें से जिनका फल उस जीवनकाल में नहीं भोगा जाता वे संचित कर्मों की राशि में जा पड़ते हैं। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनको भोगने के लिए आत्मा को देह प्राप्त हुआ है। जिनको भोगने का कार्य अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, वे अनारब्ध कर्म कहाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय तो बिना भोगे नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानाग्नि से संस्काररूप में अवस्थित संचित कर्मों में से केवल 'अनारब्ध' कर्मों का नाश होता है।

एक ओर शंकर कहते हैं कि ज्ञान तथा कर्म के संयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है (शां० भा० ४।१।१६), दूसरी ओर वे कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर्म का प्रवर्त्तक नहीं, किन्तु उच्छेदक है।[4] तदनुसार ज्ञान

---

१. यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत् कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः। ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात् कार्यैकानुपपत्तिः। नैष दोषः। ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत् कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः।
—शां० भा० ४।१।१६

२. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।—गीता ४।३७

३. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

४. न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्त्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति।
—शां० भा० ३।४।८

कर्म का साधक नहीं रहता। यहाँ कर्म को दो अर्थों में लिया गया है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु कर्म की प्रवर्त्तक है तो इसका अर्थ होता है कि वह कर्म करने में प्रवृत्ति कराती है। इस अर्थ में ब्रह्मज्ञान कर्म का उच्छेदक नहीं। ब्रह्मज्ञानी संसार का उपकार करने में रत रहता है। ब्रह्मज्ञानी श्रीकृष्ण मृत्युपर्यन्त कर्म करते रहे। परन्तु जब हम कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान कर्म का उच्छेदक है तो वहाँ कर्म करने से तात्पर्य नहीं, कर्म का फल भोगने से है। फल सकाम कर्म का मिलता है। अतएव ब्रह्मज्ञान को सकाम कर्म का उच्छेदक माना जा सकता है। शंकर को यही अभिमत है— यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—"फलासक्ति का परित्याग करके अनुष्ठित यज्ञादि कर्म मुमुक्षु के लिए ज्ञानप्राप्ति में सहायक होते हैं।"[1] यहाँ शंकर ने स्पष्टतः कर्म को ज्ञान का सहकारी माना है। जब कर्म ज्ञान की प्राप्ति में साधनरूप है और ज्ञान मुक्ति का साक्षात् साधन है तो कर्म के नितान्त त्याग की बात कैसे कही जा सकती है? वस्तुतः यहाँ प्रकारान्तर से ज्ञान तथा कर्म के समुच्चयवाद का प्रतिपादन है। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि कर्म ज्ञानप्राप्ति में साधनरूप है तो साध्य की सिद्धि हो जाने अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो जाने पर साधनरूप कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर, यदि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होते ही कर्तव्यों का अन्त माना जाएगा तो जीवन्मुक्ति की क्या स्थिति होगी और शास्त्रों में आये तत्सम्बन्धी वचनों का क्या होगा, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होते ही मोक्ष तथा अशरीरत्व हो जाएगा?

जीवन्मुक्ति का क्या स्वरूप है? अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति मोक्ष है। अज्ञान की निवृत्ति सदा देह रहने पर ही होती है। मुक्ति का अर्थ है—अब आगे जन्म न होना। इसलिए यदि जीवन में मुक्ति प्राप्त न हो तो मरने के पश्चात् उसकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध न होने से तदर्थ कोई प्रयत्न सम्भव न होगा। इसलिए यदि चालू देह के रहते अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तो उसके लिए पुनः देहान्तर धारण करना होगा। जब यह निश्चित है कि देह रहते ही अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है तब यह भी निश्चित है कि अज्ञान की निवृत्ति होते ही तत्काल देहपात नहीं होता। प्रारब्धकर्मानुसार कुछ नियतकाल तक

१. स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसन्धाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्।—शां० भा० ३।४।२७

उस दशा में भी देह बना रहता है। इससे पूर्व कि वह सर्वोपरि ब्रह्म के साथ संयुक्त हो, आत्मा के लिए प्रारब्ध कर्मों का फल भोग लेना आवश्यक है। इसलिए जबतक वे कर्म फल नहीं दे चुकते तबतक वह शरीर धारण किये रहता है। परन्तु उस अवधि में ऐसा कोई कर्म नहीं करता जिसका फल भोगने के लिए उसे देह धारण करना पड़े। यही अवस्था जीवन्मुक्ति की है। देह के रहते तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक व्यवहार—खाना-पीना, सोना-जागना आदि बराबर चालू रहते हैं। इतना ही नहीं, अपनी बाह्य तथा आभ्यन्तर—आध्यात्मिक पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आवश्यक सभी शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान अपेक्षित रहता है। उसके कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। उसका कर्म सामान्य अर्थों में कर्म नहीं होता।[1] जहाँ मुक्तात्मा केवल जीवन धारण के लिए (जीवनयात्रार्थम्) न्यून-से-न्यून कर्म करने का व्रत लेते हैं, अन्य व्यक्ति (लोकसंग्रहार्थम्) सांसारिक कार्यों में लिप्त रहते हैं। जब बुद्धिमान् तथा मूर्ख कर्म करते हैं तो शारीरिक अर्थात् बाह्य कर्म तो एक-जैसे होते हैं, किन्तु दोनों की भावना में अन्तर होता है।[2] महाभारत में यही बात इन शब्दों में कही है—"एकान्त में अनुष्ठित धर्मयुक्त कर्म ज्ञान के सदृश होता है।"[3] मुक्तात्माओं की इस प्रकार की क्रियाशीलता वैयक्तिक दृष्टिकोण में केन्द्रित नहीं होती और इस कारण जीवात्मा को संसारचक्र में बाँधनेवाली नहीं मानी जाती। मुक्तात्मा जो अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते हैं, संसारमात्र को अपने उदाहरण से मोक्ष का मार्ग निर्देश करते हैं। श्रुतिवाक्यों में मृत्युपर्यन्त कर्म करने का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[4]

परन्तु गीता में शंकर ने केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानी है, ज्ञान-कर्म के समुच्चय से नहीं।[5] यह बात गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है। यदि केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती और सर्वकर्मों के त्यागरूप संन्यास के वर्णन में ही गीता का तात्पर्य होता तो वहाँ यह क्यों कहा

---

१. विदुषः क्रियमाणमपि कार्यं परमार्थतोऽकर्मैव।—गीता शां० भा० ४।२०

२. प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे। समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः॥—अविमार, ५।५

३. सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः।—शान्तिपर्व, ३४८।७१

४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।—यजु० ४०।२; ईश २

५. तस्माद् गीतासु केवला देवतत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्न कर्मसमुच्चयादिति-निश्चितोऽर्थः।

जाता—"देहधारी लोग सब कर्मों का त्याग कदापि नहीं कर सकते। इसलिए जो कर्म करता हुआ कर्म के फल को त्यागता है वह संन्यासी कहाता है। कर्म के फल की इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्मों को करता है, वही संन्यासी और वही योगी है। कोई निरग्नि अथवा निष्कर्मी संन्यासी नहीं कहाता।"[1] और फिर जो असम्भव है उसका निर्देश करने का क्या लाभ ? स्वयं गीताकार का कथन है कि "कोई मनुष्य कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता।"[2] यहाँ तक कि कर्म के बिना तो सामान्य जीवन भी नहीं बिताया जा सकता।[3] गीता के नाम पर कथित शंकर का उक्त वचन वदतोव्याघात का उदाहरण है; क्योंकि, जैसा पहले उद्धृत किया जा चुका है, अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि गीता में फलासक्ति का परित्याग करके, किये गये कर्म को मोक्षप्राप्ति में सहायक माना है (शां० भा० ३।४।२७)। स्वयं गीताकार ने ज्ञान तथा कर्म के समुच्चयवाद का प्रतिपादन कितने स्पष्ट शब्दों में किया है—"मूर्ख लोग कहते हैं कि ज्ञानयोग तथा कर्मयोग में भेद है, विद्वान् नहीं।"[4] इसका विशदीकरण करते हुए वहाँ कहा—"जिस स्थान (मोक्ष) में ज्ञान (सांख्य) मार्गवाले पहुँचते हैं, वहीं कर्म (योग) मार्गवाले पहुँचते हैं। इसलिए जो ज्ञान तथा कर्म दोनों को एक-साथ समझता है, अर्थात् दोनों में समन्वयबुद्धि रखता है, वही यथार्थज्ञानी है।"[5] प्रस्तुत सन्दर्भ में सांख्य ज्ञान का पर्याय है तथा योग कर्म का।[6]

---

१. न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माणि सर्वशः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स संन्यासी विधीयते॥—गीता १८।११
अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥—गीता ६।१

२. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।—गीता ३।५

३. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।—गीता ३।८

४. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।—गीता ५।४

५. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥—गीता ५।५
तुलना करें—यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते।
एकं योगं च सांख्यं च यः पश्यति स तत्त्ववित्॥
—म० भा० शां० पर्व ३०५।१९, ३१६।४

६. In this chapter, Yoga means Karmayoga and Sankhya means the intellectual way.—Radhakrishnan : Gita 5.4

कर्म की उत्पत्ति अविद्या से है और वह काम का परिणाम है।[1] 'काम' से अभिप्राय है—प्रत्येक विषय के प्रति भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया, और कर्म से अभिप्राय है—उसे प्राप्त करने अथवा छोड़ने के लिए क्रियात्मक चेष्टा। मिथ्याज्ञान समस्त स्वार्थपरक इच्छा तथा क्रियाशीलता का आधार है। विद्वान् अपने काम का दमन कर सकते हैं और जगत् के कल्याण के लिए भी कर्म कर सकते हैं।[2] किन्तु फिर भी इसकी ओर से निश्चिन्त नहीं हो सकते कि जीवन के किसी क्षण में हम असत्य इच्छा अथवा स्वार्थपूर्ण कर्म करने के प्रलोभन का शिकार नहीं होंगे। अतएव इस मार्ग पर चलते हुए अत्यन्त सावधान रहना नितान्त आवश्यक है—छुरे की धार पर चलने के समान।[3] कर्ममार्ग पर चलने की विफलता पर शंकर ने जो अनावश्यक बल दिया, उसका कारण सम्भवतः मीमांसकों द्वारा केवल कर्मकाण्डपरक क्रियाकलाप को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताना था। मीमांसकों ने वैदिक क्रियाकलाप (जो कालान्तर में अवैदिक रूप धारण कर गया) पर आवश्यकता से अधिक बल दिया। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप शंकर ने कर्म (कर्मकाण्ड) को सर्वथा हेय सिद्ध करने की चेष्टा की।

कल्याणकारी कर्ममात्र भी हमें कुछ समय के लिए अपने व्यक्तित्व के संकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता प्रतीत होता है, किन्तु वह हमें चिर-स्थायी सन्तोष प्रदान नहीं कर सकता। केवल एक ही विषय ऐसा है जो हमें स्थायी शान्ति प्रदान कर सकता है और वह है ब्रह्म का अनुभव। यही सुख और शान्ति की सर्वोच्च अवस्था है एवं जीवात्मा के विकास की पूर्णता है।

शंकर अपने समय की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए निर्देश करते हैं कि शास्त्र द्वारा निषिद्ध कर्मों से हमें बचना चाहिए। वेद का स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तपश्चर्या, उपवास आदि सभी ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं।[4] वे सदाचार के पोषक हैं, आत्मा को पवित्र करते तथा अन्तर्दृष्टि को सूक्ष्म बनाते हैं। यद्यपि कुछेक आत्माएँ सत्य को तुरन्त

---

१. अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजम्।—केन० शां० भा० ४।६
२. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांसस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥—गीता ३।२५
३. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।—कठ० ३।१४
४. बृहद्० ४।४।२२

ग्रहण कर लेती हैं, तथापि एक सामान्य पुरुष के लिए समय तथा पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है। जीवन के दैनिक कर्त्तव्यों की पूर्ति मन को ब्रह्मसाक्षात्कार के योग्य बनाती है। भक्तिपूर्वक ध्यान लगाने से ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यथार्थज्ञान केवल ऐसे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं जिनके मन निरन्तर अभ्यास और कठोर नियन्त्रण द्वारा इसे ग्रहण करने में समर्थ हैं। ब्रह्म को जानने की अभिलाषा ऐसे ही पुरुष के भीतर उठती है जिसका मन पवित्र हो—कामनाओं के वश में न हो। मोक्ष की ओर ले-जानेवाला तो ज्ञान ही है, अन्य सब साधनरूप में उसके सहायक हैं। प्लैटो दार्शनिकों के लिए ज्ञानप्राप्ति का विधान करता है जिसका अन्तिम फल कल्याण (निःश्रेयस्) का विचार है तथा अन्यों के लिए सत्यसम्मति का जिसकी पहुँच अपने स्थान तथा कर्त्तव्यों तक ही है। इसी प्रकार अरस्तू साधारण पुरुषों के लिए 'नैतिक धर्मों' का विधान करता है जो अधिकतर 'मानवीय व्यापार' हैं, और ऐसे मनुष्यों के लिए, जिनका लक्ष्य अमरत्व-प्राप्ति है, तर्क का प्रयोग बताया है "जो उत्तम तथा दैवीय वस्तुओं का बोध करा सकता है।"[1]

मोक्षलाभ होने पर ब्रह्मानन्द में लीन होने का अर्थ आनन्द से आप्लावित होना है, आत्मा के अपने अस्तित्व का विनाश नहीं—इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया गया है।

**न स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः ॥७२॥**

मोक्ष का लक्षण (अर्थ) जीवात्मा के स्वरूप का नाश नहीं है।

तत्त्वज्ञान से अविद्या का नाश होने पर अविद्याजन्य जीव की सत्ता का लोप हो जाता है। इस प्रकार जीव के अपने स्वरूप=ब्रह्मत्व को प्राप्त होना मोक्ष समझा जाता है। वस्तुतः जीव स्वरूप से अविनाशी

---

१. Plato recommends for philosophers the pursuit of wisdom, which has for its final fruit the vision of the idea of the good, and for others true opinion, which is limited to one's station and its duties. Similarly, Aristotle recommends for the ordinary men 'moral virtues' which are emphatically 'human affairs' and for those, who aim at immortality, the exercise of reason, "which apprehends things noble and divine."

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 615

है। ब्रह्म की भाँति वह अनादि तत्त्व है। अनादि होने से वह अनन्त एवं अविनाशी है। लोप या विनाश होने पर वह सान्त हो जाएगा और सान्त होने पर वह अनादि नहीं रहेगा। अनादि न रहने पर वह किसी के द्वारा निर्मित होगा। निर्मित होने पर वह सावयव होगा और उसका कोई उपादान भी होगा। इस प्रकार जीव का सारा स्वरूप बिगड़ जाएगा। जो है उसका अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार 'नाभावो विद्यते सतः' इस न्याय के अनुसार भावरूप जीव का विनाश सम्भव नहीं। फिर, यदि मोक्ष का अर्थ मर जाना है तो इसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? यदि मोक्षावस्था में दुःखों के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाना है तो उसे पाने का क्या लाभ? यह तो 'न मर्ज़ रहा न मरीज़' वाली बात हुई। मोक्ष पानेवाला ही न रहा तो मोक्ष-लाभ किसे हुआ? ऐसे मोक्ष को दुःखों का नाश या निवृत्ति न कहकर जीव का उच्छेद अथवा आत्महत्या की चेष्टा कहना अधिक उपयुक्त होगा।

बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मा रूप, विज्ञान, वेदना, संस्कार व संज्ञा इन पाँच स्कन्धों का संघातमात्र है। निर्वाण प्राप्त होने पर यह संघात समाप्त हो जाता है। इसी से बौद्धदर्शन में निर्वाण का अर्थ बुझ जाना है। यदि निर्वाण की अवस्था में जीवात्मा का नाश हो जाता है तो निर्वाण में किसके दुःखों का अन्त हुआ? बौद्धों का निर्वाण दुःखों का अभावमात्र होने से अभावात्मक है। किन्तु केवल दुःखों से छुड़ाने के रूप में मोक्ष अभावात्मक वस्तु नहीं है। नवीन वेदान्ती भी मुक्ति को 'दुःखप्रध्वंसाभाव' कहते हैं। वे इसे भावात्मक पदार्थ नहीं मानते। ऋषि लोग मुक्ति को भावरूप मानते हैं। ब्रह्मसूत्र (४-१५-५) के भाष्य में वात्स्यायन मुनि मोक्ष के सम्बन्ध में कहते हैं—**"अभयमजरम-मृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति"** यह अभय देनेवाली, जीर्णता से रहित, जिसमें मृत्यु का ठिकाना नहीं, वह ब्रह्म सर्वतो महान् तथा कल्याण की प्राप्ति है। 'क्षेमप्राप्ति' शब्द स्पष्टतः अभाव का विरोधी है। मोक्ष में शरीर न रहने से वह 'अमृत्युपद' है। निश्चय ही वह भावरूप है। दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप परमात्मा की गोद में बैठकर आनन्द का उपभोग करना मोक्ष है। अनेक जन्मों के निरन्तर पुरुषार्थ के फल-स्वरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है।[1] तब उसकी उपलब्धि होने पर यदि उपलब्धा ही न रहे, तो यह बैठे-ठाले की खिलवाड़ नहीं तो क्या

१. **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।**—गीता ६।४५

है ? परिश्रम का क्या फल मिला ? अपना सर्वनाश ! मुक्तात्मा की ब्रह्म के साथ समता केवल मुक्त दशा में आत्मा द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति के आधार पर की गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—"जो सत्य, चेतन व अनन्त ब्रह्म को जान लेता है, वह 'ब्रह्म के साथ रहता हुआ' और सब प्रकार के आनन्द को भोगता हुआ आप्तकाम हो जाता है।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में आये 'सह ब्रह्मणा' (ब्रह्म के साथ) शब्दों से मोक्षावस्था में मोक्ष-लाभ करनेवाले जीव की सत्ता का बने रहना स्पष्ट है। रामानुज के मत में मोक्ष आत्मा का तिरोभाव नहीं है, किन्तु बाधक मर्यादाओं को भंग करके स्वतन्त्र होना ही मोक्ष है, क्योंकि आत्मा का तिरोभाव उसका विनाश है।[2] वस्तुतः जीवात्मा का अस्तित्व प्रत्येक अवस्था में बना रहता है।

**न मुक्तावात्मलयः ।।७३।।**

मुक्ति में आत्मा का (ब्रह्म में) लय नहीं होता।

लय का अर्थ है—स्वरूप को छोड़कर रूपान्तर की प्राप्ति। जीव से रहित होने अर्थात् जीवात्मा के शरीर से निकल जाने पर यह देह मरा हुआ कहा जाता है, आत्मा कभी नहीं मरता।[3] यदि मोक्षावस्था में जीवात्मा को ब्रह्म में लीन हुआ माना जाए, तो वह जीवात्मा का स्वरूप से मरना ही होगा। जीवात्मा के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। जीवात्मा और परमात्मा दोनों अनादि तत्त्व हैं—दोनों नित्य हैं। आत्मत्व दोनों में समान है। फलतः मोक्ष की अवस्था में भी परमात्मा के साथ जीवात्मा अवस्थित रहता है। अविद्या का नाश और कर्मबन्धन अर्थात् संस्कारों से मुक्त होने पर जीवात्मा सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर में वैसे ही अवस्थित रहता है जैसे आकाश में समस्त पदार्थ। शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव का अस्तित्व मोक्षदशा में बना रहता है। उस अवस्था में स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों का अभाव हो जाता है, किन्तु शुद्ध संकल्पमय शरीर, मन, प्राण तथा इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति के साथ जीवात्मा की सत्ता बनी रहती है। वस्तुतः ऐसी दो वस्तुओं में, जो स्वरूपतः एक-दूसरी से भिन्न हैं, पूर्ण तादात्म्य होना सर्वथा

---

१. **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म···योऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**
—तै० २।१

२. **रामानुज-ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१**

३. **जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।**—छां० ६।११।३
**न हन्यते हन्यमाने शरीरे।**—कठ० १।२।१८; गीता० २।२०

असम्भव है। ज्ञान तथा ध्यान-समाधि के द्वारा शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् उच्चतम आत्मा का साथी बनकर और उसके आनन्दरूप में भागीदार बनकर भी जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न रहता है। उस दशा में ब्रह्म उसका आश्रय अवस्थान रहता है।

समुद्र में जाकर नदी का प्रणाली-रूप में बहना तथा गङ्गा-यमुना आदि नाम नहीं रहता, पर वह जल जो गङ्गा-यमुना आदि नामरूप से वहाँ पहुँचा है, नष्ट नहीं हो जाता, यद्यपि समुद्र के लावण्य से वह ओतप्रोत हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सांसारिक देहादिरूप तथा देवदत्त आदि नाम से छूटकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। परन्तु ब्रह्मानन्द से आप्लावित होकर भी जीवात्मा अपने स्वरूप अथवा अस्तित्व को नहीं खो बैठता। मुण्डकोपनिषद् (३।२।८) के पूर्वोद्धृत सन्दर्भ **'यथा नद्यः स्यन्दमानाः'** इत्यादि का यही तात्पर्य है। इसी आशय को छान्दोग्य में इस प्रकार प्रकट किया है—"ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप में बना रहता है।"[1] इस प्रसंग में छान्दोग्य का वह सन्दर्भ भी द्रष्टव्य तथा विवेच्य है जिसमें कहा है—"जैसे मधुमक्खियाँ शहद बनाती हैं, विभिन्न दिशाओं में खड़े विविध वृक्षों के रसों को एकत्र कर एकरूप मधुरस बना देती हैं। वे वहाँ विभिन्न रूप में एक-दूसरे से पृथक् उपलब्ध नहीं होते—मैं उस वृक्ष का रस हूँ और मैं उसका—ऐसा उनका विभाग नहीं रहता। इसी प्रकार जीवात्माओं के ब्रह्म में अवस्थित रहने पर उन्हें अपने पृथक्त्व का अवभास नहीं होता।"[2] विविध वृक्षों से प्राप्त रस से बने मधु के दृष्टान्त से मोक्षावस्था में जीवात्माओं का ब्रह्म में लय होना अर्थात् उनका विनाश होना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार विविध वृक्ष विविध रसों का उपादान हैं, उसी प्रकार विविध शरीरों से जीवात्माओं की उत्पत्ति नहीं होती और अद्वैतवाद में तो समस्त जीव एक ही वृक्ष—साक्षात् ब्रह्म के अंश माने जाते हैं। वस्तुतः मधुरूप में विभिन्न रसों के पृथक् व्यवहार के निमित्त नहीं रहते, इसलिए उन विविध रूपों में

---

१. **परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**—छां० ८।३।४

२. **यथा सोम्य! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा न तत्र विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति। एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे।**—छां० ६।९।१,२

उनका पृथक् व्यवहार नहीं होता। ऐसे ही स्थूल देह के न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा आदि का पृथक् व्यवहार नहीं रहता। परन्तु उनका स्वरूप बराबर बना रहता है।

मुण्डक में कहा है—"जो उस परब्रह्म को जान लेता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है।"[1] इसी प्रकार बृहद्० में बताया है—"ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।"[2] उपनिषदों में प्रायः औपचारिक वर्णन हैं। 'एव' पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है। फिर, ब्रह्म क्या है? **'रसो वै सः'** (तै० २।७), **'आनन्दो ब्रह्मेति'** (तै० ३।६)। आनन्द का अपर नाम ब्रह्म है। इस प्रकार 'ब्रह्मैव भवति' का तात्पर्य है—ब्रह्मस्थ अथवा आनन्दमय होना। ब्रह्म को पाकर जीवात्मा भी आनन्दमय हो जाता है।[3] जिस प्रकार नदी के समुद्र में मिलने पर वह समुद्र के लावण्य से आप्लावित हो जाती है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप ब्रह्म से मिलकर जीवात्मा आनन्द से आप्लावित हो जाता है। मुक्ति से तात्पर्य ईश्वररूप होना नहीं, वरन् ईश्वर के सान्निध्य से आनन्द प्राप्त करना है। ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग से रहने का यही अभिप्राय है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और जीव उसका भागीदार है, अर्थात् ब्रह्म के साथ रहता हुआ जीव आनन्द का उपभोग करता है, किन्तु अपने अस्तित्व को नहीं गँवाता।



प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा तब होती है जब प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि अपनी सुधबुध खोकर कहने लगता है—'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' अथवा कबीर के शब्दों में—

**लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।**
**लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥**

योग की सातवीं सीढ़ी पर पहुँचने पर अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय को ध्यान करनेवाला समझता है। परन्तु आठवीं सीढ़ी पर पहुँचने पर उसे सर्वत्र ध्येय ही दीखने लगता है। उस अवस्था में वह न केवल अपने-आपको, प्रत्युत हर किसी को उसी का रूप समझने लगता है। उसी अवस्था का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि हे ईश्वर! "यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाए तो तेरा आशीर्वाद

---

१. **यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**—मु० ३।२।९
२. **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**—बृहद्० ४।४।६
३. **रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**—तै० २।७

संसार में सत्य हो जाए।"[1] औपचारिक रूप से कही हुई **'यत्र नान्यत् पश्यति'** (छा० ७।२४।१), **'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्'** (बृ० ४।३।२३) इत्यादि उक्तियों का यही तात्पर्य है। ये आनन्दानुभूति के अतिरेक में अतिशयता से कहे गये वचनमात्र हैं।

रामानुज के मत में मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप (आनन्द) को प्राप्त करता है, किन्तु उसके साथ तद्रूपता को प्राप्त नहीं होता।[2] वस्तुतः एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में परिणत नहीं हो सकता।[3] मनुष्य चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न उठ जाए, उसके ऊपर एक सर्वशक्तिमान् की सत्ता बनी ही रहेगी। मध्व के अनुसार मुक्ति ईश्वर के साथ साहचर्य की अवस्था है, किन्तु उसके साथ एकात्मभाव की नहीं। मुक्तात्मा पुरुष अपने व्यक्तित्व की चेतना को प्रलय तथा सर्ग दोनों अवस्थाओं में स्थिर रखते हैं। मोक्ष-दशा में दुःख का अभाव तथा स्थिर सुख का अनुभव होता है। यदि ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने को मोक्ष कहा जाता है तो वह औपचारिक ही है, अर्थात् आत्मा को ब्रह्म का दर्शन हो जाता है। 'जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि वाक्यों का यह भाव कदापि नहीं है कि दोनों में नितान्त ऐक्य हो जाता है।

जब ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और उसे पाकर जीव भी आनन्दमय हो जाता है तो दोनों एक न सही, एक-जैसे तो हो ही जाते हैं—इस भ्रान्ति का निवारण करते हैं—

**न सादृश्यम् ॥७४॥**

(मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के) सदृश भी नहीं होता।

यह ठीक है कि आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त करके जीव आनन्दमय हो जाता है, परन्तु एक गुण या कुछ गुणों में समानता होने पर दो पदार्थ एक या एक-जैसे नहीं हो जाते। जल और दूध द्रव्य होने मात्र से एक नहीं माने जा सकते। साधर्म्य के साथ-साथ वैधर्म्य का ज्ञान होने पर ही तत्त्वज्ञान होता है। ईश्वर का लक्षण है—क्लेश, कर्म, कर्म-विपाक और आशयों से असंपृक्त—अछूता विशेष चेतनतत्त्व ईश्वर है।[4]

---

१. **यदग्ने स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥**
—ऋ० ८।४४।२३

२. **ब्रह्मणोः भावः न तु स्वरूपैक्यम्।**—रामानुज-श्रीभाष्य १।१।१

३. विष्णुपुराण २।१४।२७

४. **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**—योग० १।२४

दूसरी ओर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं।[1] ईश्वर और जीव के अपने-अपने गुण हैं। गुणों का गुणी से समवाय-सम्बन्ध होता है, अर्थात् गुण और गुणी एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। ईश्वर के गुण ईश्वर में और जीव के जीव में सदा बने रहेंगे। अतः ईश्वर जीव के सदृश और जीव ईश्वर के सदृश कभी नहीं हो सकते।

मुण्डक के आधार पर कहा जाता है कि ज्ञानी पुरुष पाप-पुण्य से छूट निर्लेप होकर अत्यन्त समता को प्राप्त होता है।[2] प्रथम तो राग-द्वेषादि से युक्त होकर कालान्तर में उनसे मुक्त हुआ जीव नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव परमेश्वर के सदृश कैसे होगा? मुक्त होकर भी जीव अल्पज्ञ और परिमित गुणकर्मस्वभाववाला ही रहेगा। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकता। गुणों में न्यूनाधिक्य होने पर भी वस्तु का स्वभाव या स्वरूप कभी नहीं बदलता। दूसरे, 'साम्यमुपैति' में 'उपैति' क्रियापद का सामञ्जस्य तभी होगा जब पहले दोनों में भेद माना जाएगा, क्योंकि साम्य सदा भेदघटित रहता है।

ब्रह्म तो स्वभाव से आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा निमित्त से आनन्दमय होता है। जैसी स्थिति अग्नि के सम्पर्क से प्रकाश-उष्णता-युक्त एवं रक्तवर्ण बने लोहे की होती है, वैसी ही ब्रह्म के सम्पर्क से आनन्दयुक्त जीव की है। कुछ काल के लिए लोहा रक्तवर्ण अवश्य हो जाता है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं बन जाता। इसी प्रकार जीव के कुछ काल तक आनन्दयुक्त हो जाने पर भी वह आनन्दस्वरूप नहीं हो जाता। जो निमित्त से आनन्दमय है वह नित्य आनन्दस्वरूप के समान कैसे हो सकता है? और कुछ नहीं तो कालभेद तो रहेगा ही। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** अथवा **'यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति'** को लेकर यदि कोई आग्रह करे कि ब्रह्म को जाननेवाला सचमुच ब्रह्म हो जाता है तो भी यहाँ 'भवति' (हो जाता है) क्रियापद से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ। एक 'है', दूसरा 'होता है'। 'है' से नित्य का बोध होता है, 'होता है' से अनित्य का। नित्य और अनित्य में सादृश्य कैसे सम्भव है? उत्पन्न होनेवाला भाव अनित्य एवं पराधीन होता है। निमित्त से बननेवाला सादि, सादि होने से अनिवार्यतः सान्त तथा सादि-सान्त होने से अनित्य होगा। परन्तु असली

१. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।—न्याय० १।१।१०
२. तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।—मु० ३।१।३

ब्रह्म तो अनादि, नित्य तथा स्वभाव से आनन्दस्वरूप रहेगा और इस अन्तर के कारण दोनों में ऐकात्म्य अथवा सादृश्य कभी न होगा। वस्तुतः आत्मा परमात्मा के स्तर तक उठने की योग्यता नहीं रखता।

जीवात्मा कभी भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। वह जो कुछ करता है, **'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'**—अपने स्वरूप में स्थिर रहकर करता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया है कि मोक्षदशा में जब जीवात्मा देखना, सुनना, सूँघना चाहता है तो संकल्प से वैसा कर सकता है।[1] यदि जीवात्मा परमात्मा-जैसा बन जाता तो उसी की तरह देखता-सुनता, अपने ढंग से नहीं। रामानुज के मत में मोक्षावस्था में आत्माओं में, दो अंशों को छोड़कर, सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सब पूर्णताएँ विद्यमान रहती हैं। वे आकार में अणु-परिमाण हैं, जबकि सर्वश्रेष्ठ आत्मा विभु—सर्वव्यापी है। जीवात्मा प्रभु के रचे जगत् का अनुभव कर सकता है, किन्तु जगत् की सृजनात्मक गतिविधियों के ऊपर उसका कोई वश नहीं है, क्योंकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है।[2] मुक्तात्माओं को जिस ऐश्वर्य की प्राप्ति शास्त्र में बताई है, वह ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर सम्भव होती है। उसके लिए जीवात्मा को अनेक जन्मों में निरन्तर प्रयास करना पड़ता है।

असीम ऐश्वर्य की प्राप्ति जीवात्मा को कभी नहीं होती। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था आदि कार्य तो केवल परब्रह्म के सामर्थ्य में रहते हैं। रामानुज का स्पष्ट मत है कि "सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीवात्मा को मुक्तावस्था में भी प्राप्त नहीं हो सकते।"[3] वेदान्तसूत्रों के भाष्य में आचार्य शंकर ने स्वयं यही कहा—"जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को प्राप्त हो सकता है। जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही है। इसमें उसी का अधिकार है। जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्माओं का सहयोग या सान्निध्य सर्वथा अनपेक्षित है। यह भी सम्भव है कि उनके अनेक होने से रचना आदि के विषय में परस्पर

---

१. **शृण्वन् श्रोत्रत्वं भवति⋯मन्वानो मनो भवति।**—शत० १४।२।४।७

२. **रामानुज भाष्य**—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१३-१५, १७

३. **एते च जगत्पतित्वजगद्विधरणसर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि न कथञ्चिद् भवन्ति।**

विरोध खड़ा हो जाए।"[1] इस लेख से इतनी बातें विस्पष्ट हैं—

१. जीवात्मा का अस्तित्व तथा ब्रह्म से उसका भेद अविद्याकृत नहीं है। यदि ऐसा होता तो अविद्या का नाश हो जाने के कारण मुक्त हो जाने पर उसका अस्तित्व मिट जाना चाहिए था। परन्तु शंकर उसकी सत्ता का मोक्षदशा में भी बना रहना स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

२. जीवात्मा अन्तःकरण में पड़नेवाला ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो मोक्षलाभ होने पर अन्तःकरण के न रहने पर भी जीवात्मा का अस्तित्व न बना रहता।

३. समुद्र में नदियों की भाँति (सरित्सागरवत्) मोक्षावस्था में ब्रह्म में आत्मा का लय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो उस अवस्था में उनको 'अनेक' कैसे कहा जा सकता था?

४. जीवों को ब्रह्म का अंश अथवा अग्नि की चिंगारियों के सदृश भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के अंशों अथवा अग्नि की चिंगारियों में परस्पर भेद या विरोध नहीं होता, जबकि शंकर मोक्षावस्था में जीवात्माओं में 'अनैकमत्य' तथा 'विरोध' का होना मानते हैं।

५. शंकर के मत में मुक्त पुरुष सब प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त कर लेने पर भी सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य नहीं कर सकता। यदि जीव ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता, तो उसे सृष्टिनिर्माण आदि कार्य में असमर्थ क्यों बताया जाता? जो पहले भी ब्रह्म था और यदि उपाधि के कारण कुछ कसर भी थी तो उपाधि से छूटकर मोक्षावस्था में ब्रह्म में विलीन हो जाने से पूरी हो गई, तब उसमें किसी प्रकार की अयोग्यता क्यों रह जाए? स्पष्ट है कि किसी भी अवस्था में जीव न ब्रह्म बन सकता है, न ब्रह्म-जैसा।

६. अपने यथार्थस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी (अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जानेवाले राजकुमार की तरह) जीवात्मा न केवल 'ब्रह्म न भवति' अपितु 'साम्यमपि नोपैति'। तब भी ब्रह्म को प्राप्त

---

१. जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।—शां० भा० ४।४।१७

अनेक अधिकारों से वंचित रहता है। ब्रह्मलोक में रहते हुए भी उसे द्वितीय श्रेणी के नागरिक का जीवन बिताना पड़ता है। वह विशेषाधिकारसंपन्न ब्रह्म की बराबरी का दावा नहीं कर सकता।

७. जगत् के उत्पत्त्यादि कार्य में मुक्तात्माओं का सहयोग ही नहीं, उनका सान्निध्य भी परमेश्वर को पसन्द नहीं, क्योंकि उनके मतभेदों के कारण उसे अपने उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि कार्य में बाधा पड़ने की आशंका है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि परमेश्वर में मुक्तात्माओं को समझा-बुझाकर उनके मतभेदों को दूर करने अथवा उनके मतभेदों के रहते अपना काम करते रहने की शक्ति नहीं है।

८. परमेश्वर के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति तथा मतभेद बने रहने से उनका व्यवहार लोकवत् प्रतीत होता है जो मुक्त-दशा में भी उनके अविद्या से मुक्त होने में सन्देह उत्पन्न करता है।

अनादि काल में जब कोई आत्मा मुक्त हुआ है, उससे पहले संसार बराबर चालू रहा है। इसलिए जगत् की उत्पत्ति आदि में मुक्तात्मा को निमित्त या प्रयोजक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः मुक्तात्मा कभी परब्रह्म के कार्य का अधिकारी या स्थानापन्न नहीं हो सकता। जीवात्मा को मुक्तावस्था में प्राप्त ऐश्वर्य-सम्बन्धी शास्त्रवचनों का तात्पर्य उसके अधिकार की सीमा में अवस्थित ऐश्वर्य को प्रकट करना है। वह अब बिना किसी बाधा के अपने सामर्थ्य से सब भावनाओं की अनुभूति में पूर्ण क्षमता रखता है। पर, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह परब्रह्म के सदृश हो गया है।

मोक्षकाल नियत होने से मुक्तात्मा सदा के लिए मुक्त नहीं हो जाता। जिस प्रकार बन्धन का अन्त होता है, उसी प्रकार एक दिन मुक्ति का भी अन्त हो जाता है।

**नात्यन्तोच्छेद आदिमत्त्वे सत्यन्तवत्त्वप्रसङ्गात् ॥७५॥**

(बन्धन का) अत्यन्त उच्छेद नहीं, सादि के सान्त होने से।

जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य होगा। हम जीवन में जितने कर्म करते हैं वे सब सान्त हैं, अतः उनका फल अनन्त या नित्य नहीं हो सकता, कभी-न-कभी क्षीण होकर रहेगा। परन्तु जीवन-यात्रा में उठाया गया प्रत्येक पग सान्त होते हुए भी उपयोगी होता है। इसलिए सान्त कर्मों को भी छोड़ा नहीं जा सकता। यदि मुक्ति का आदि है तो कभी-न-कभी उसका अन्त होकर रहेगा और परिणामतः मुक्त जीवों

का प्रत्यावर्त्तन भी होगा। परन्तु उसके अनित्य होने के कारण उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार मुक्ति जीव के निरन्तर पुरुषार्थ के फल-स्वरूप प्राप्त होती है। नियत शरीर और नियत काल में सीमित सामर्थ्यवाला जीव सीमित कर्म ही कर सकता है। ऐसे कर्मों का फल असीम नहीं हो सकता। यदि ईश्वर नियत कर्मों का अनन्त फल दे, अर्थात् अनन्तकाल के लिए मोक्षसुख दे तो उसका यह कर्म न्याय्य नहीं होगा। फिर, निमित्त अथवा साधनों से प्राप्त पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। जल आदि के प्रयोग से वस्त्र स्वच्छ हो जाता है। किन्तु कालान्तर में मैल लग जाने पर फिर गन्दा हो जाता है। जीव का सामर्थ्य तथा साधन सीमित एवं अनित्य हैं। इन सीमित एवं अनित्य साधनों से प्राप्त नैमित्तिक मुक्ति नित्य कैसे हो सकती है ?

अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता आती है, अतः जबतक अग्नि का सम्पर्क बना रहता है, तबतक उसमें उष्णता बनी रहती है। इस निमित्त के हटते ही जल की उष्णता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है और वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। जीव स्वरूप से अल्पज्ञ है। वह कितना ही प्रयास क्यों न करे, परमेश्वर की भाँति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह ठीक है कि तत्त्वज्ञान के कारण जीव को मोक्षलाभ होता है, किन्तु मुक्तिकाल में वह केवल आनन्द का उप-भोग करता है। उस समय वह ज्ञानार्जन में प्रवृत्त नहीं होता, परिणामतः उसका पूर्वार्जित ज्ञान कालान्तर में क्षीण हो जाता है। मुक्ति की प्राप्ति में निमित्तरूप ज्ञान का ह्रास होने पर वह पुनः बन्धन में आ जाता है। स्वभाव से अल्पज्ञ होने के कारण जीव की बहुज्ञता नित्य नहीं हो सकती। इसलिए जीव का बन्ध तथा मोक्ष को सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय के समान, प्रवाह से अनादि मानना ही युक्त है।

**पर्यायेण बन्धमोक्षौ लोकवत् ।।७६।।**

बन्ध तथा मोक्ष पर्यायक्रम से आते हैं, लोकवत्।

संसार में नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है। दैनिक कामकाज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है। उस अवस्था में बाह्यार्थों से असंपृक्त होने के कारण उसके दुःखों का तिरोभाव हो जाता है। इसी आधार पर सुषुप्ति की अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है। प्रातःकाल

होते ही वह पुनः सांसारिक व्यवहाररूप बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन का होना प्रत्यक्ष है। जैसे सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति तथा दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का आना अवश्यम्भावी है, वैसे ही मुक्ति के पश्चात् बन्धन और बन्धन के पश्चात् प्रयत्न करने पर मुक्ति का आना अनिवार्य है। जिस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है, उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी निरन्तर बना रहता है। दो मुक्तियों के अन्तराल में बन्धन और दो बन्धनों के अन्तराल में मुक्ति का यह सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस सन्दर्भ में दो में से एक स्थिति का होना आवश्यक है—या तो जीवात्मा अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा चला आ रहा है, या किसी कालविशेष में इस चक्र का प्रारम्भ हुआ। यदि इस चक्र को अनादि माना जाए तो बन्धन आत्मा का स्वाभाविक गुण हो जाएगा; उस अवस्था में न कभी उसका अन्त होगा और न मोक्ष की सिद्धि सम्भव होगी, क्योंकि जिस भावरूप पदार्थ का आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं। तब, मोक्ष की सिद्धि के निमित्त अनिवार्यतः यही मानना होगा कि जन्म-मरण का क्रम किसी नियत काल में प्रारम्भ हुआ। किसी नियत काल में प्रारम्भ होने अर्थात् जीवात्मा के बन्धन में आने से पूर्व उसका मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही कैसे उठता? इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो जीवात्मा इस समय बन्धन में है और भविष्य में कभी मुक्त होगा, वह जन्म-मरण के वर्त्तमान क्रम के चालू होने से पूर्व मुक्त था। इस आधार पर वर्त्तमान बन्धन का दो मुक्तियों के अन्तराल में आना स्वतः सिद्ध है। यदि वर्त्तमान बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् जीवात्मा बन्धन में पड़ सकता था तो कोई कारण नहीं कि वर्त्तमान बन्धन के पश्चात् प्राप्त होनेवाली मुक्ति के बाद बन्धन में नहीं आएगा। जो नीचे गिरकर ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता कि बन्धन से मुक्ति में तो चला जाए, किन्तु मुक्ति से बन्धन में न आये। इस प्रकार दो मुक्तियों के बीच बन्धन और दो बन्धनों के बीच मुक्ति

के क्रम का न कभी आदि था, न अन्त होगा। न सदा बन्धन रहेगा, न मुक्ति।

यह कहा जा सकता है कि जब मुक्ति से लौटकर आना निश्चित है तो उसके लिए इतना प्रयास क्यों किया जाए? जन्म-जन्मान्तर की अनवरत साधना के फलस्वरूप मोक्षलाभ होता है। इतना श्रमसाध्य होने पर भी यदि मोक्ष अनित्य है तो उसके लिए इतना श्रम क्यों? परन्तु यह जानते हुए भी कि जीवन क्षणभंगुर है, क्या हम जीते रहने के लिए प्रयत्न नहीं करते? इतना ही नहीं, यह जानते हुए भी कि प्रातःकाल भोजन करने पर कुछ घण्टों बाद ही भूख फिर सताने लगती है, हम क्षुधानिवृत्ति के साधनों से उपराम नहीं होते, अपितु उसके निवारणार्थ अपेक्षित साधनोपायों को जुटाने में प्रवृत्त रहते हैं। जब हम क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए किये गये श्रम को व्यर्थ नहीं समझते तो इकत्तीस नील दस खरब चालीस अरब वर्षों तक रहनेवाले मोक्षसुख के लिए किये गये श्रम को व्यर्थ कैसे माना जा सकता है?

मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती—पूर्वपक्ष के रूप में इसे सूत्रबद्ध करके प्रस्तुत करते हैं।

**न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगः शब्दात् ॥७७॥**

मुक्तात्मा पुनः बन्धन में नहीं आता, शब्दप्रमाण होने से।

जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मोक्ष है। अतः मुक्तात्मा के फिर से जन्म-मरण के चक्र में फँसने का प्रश्न नहीं रहता। उपनिषद् आदि ग्रन्थों में अनेकत्र इसके पोषक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्ट शब्दों में मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध किया है। जैसे—

१. **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।**—न्याय० १।१।२२
२. **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।**—सांख्य० १।१
३. **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।**—वे० ४।४।२२
४. **तेषां न पुनरावृत्तिः।**—बृहद्० ६।२।१५
५. **तस्मान्न पुनरावर्त्तते।**—प्रश्न० १।१०
६. **यस्माद् भूयो न जायते।**—कठो० ३।१०
७. **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते।**
—छां० ८।१५।१
८. **एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते।**—छां० ४।१५।५
९. **यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते।**—गीता० १५।६

अगले सूत्र में उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए इस शंका का समाधान किया है।

**न परान्तकालपर्यन्तमावृत्तिरिति ॥७८॥**

परान्तकाल-पर्यन्त पुनरावृत्ति नहीं, ऐसा समझो।

जिसका आदि है उसका अन्त अनिवार्य है। जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नहीं जा सकती, वैसे ही मुक्ति भी ऐसी नहीं हो सकती जिसका आदि तो है, पर अन्त कभी नहीं होगा। वस्तुतः पूर्वोद्धृत वचनों में मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का किंचित् भी विरोध नहीं है। प्राचीन ऋषियों के कथन की शैली को ठीक-ठीक न समझकर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

मीमांसा के **'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'** इस न्याय का अन्यत्र व्याख्यासहित उल्लेख हो चुका है। तदनुसार 'अपशवो वाऽन्ये गो अश्वेभ्यः' इत्यादि वाक्य का गो-अश्व से भिन्न पशुओं के पशुत्वभाव के प्रख्यापन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अन्य पशुओं की अपेक्षा गो-अश्व की प्रशंसा करना मात्र अभीष्ट है। इसी प्रकार 'न च पुनरावर्त्तते' आदि का तात्पर्य मुक्ति से पुनरावृत्ति के निषेध में नहीं है, अपितु मुक्ति के पूर्णकाल-पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है, अर्थात् बीच में नहीं लौटता—यह तात्पर्य है। दर्शन, उपनिषद्, गीता आदि में जहाँ कहीं इस प्रकार के वाक्य मिलें वहाँ उनका यही अभिप्राय समझना चाहिए।

मीमांसा के 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१।२।१६) इस सूत्र के अनुसार इसे दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। ब्राह्मण-वचन है—**'पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति'** इसपर विचार करके 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' सूत्र से समाधान किया है कि पूर्णाहुति से प्राप्त जितना फल है, उतना ही सर्वत्र यहाँ विवक्षित है। मीमांसा के इस अधिकरण के अनुसार उपर्युक्त वचनों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—"उक्त वचनों में जो पुनरावर्त्तन का निषेध किया है, वह आत्यन्तिक निषेध न होकर प्रकृत मुक्ति विषय से सम्बद्ध है, अर्थात् मुक्ति का जितना काल शास्त्रों में लिखा है उस काल के मध्य मुक्त जीव का संसार में पुनरावर्त्तन नहीं होता। कभी पुनरावर्त्तन नहीं होता, यह अभिप्रेत नहीं है।

यह आवश्यक नहीं कि 'अत्यन्त' पद सर्वत्र नितान्त अन्तहीनता

का वाचक हो। 'नाभावो विद्यते सतः' सत् का अभाव नहीं होता। किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव अथवा तिरोभाव होता है, उत्पत्ति या विनाश नहीं। 'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्त्तते' का इतना ही तात्पर्य है कि इस मनुष्य को अत्यधिक दुःख वा सुख है। महाकवि कालिदास जब **"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"** में अत्यन्त शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अभिप्राय सुख-दुःख के नैरन्तर्य से होता है। न्याय तथा सांख्यदर्शन के उक्त सूत्रों में 'अत्यन्त' पद अतिशय का बोधक है और उसका अभिप्राय 'बहुत काल तक' से अधिक कुछ नहीं।

आचार्य शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ (८।१५।१) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जबतक ब्रह्मलोक में स्थिति है तबतक जीव वहीं रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता।"[1] ब्रह्म तो अनादि है, ब्रह्मलोक भी सदा वर्त्तमान रहता है, अतः ब्रह्मलोक की आयु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म का प्राप्त होना ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, अतः यहाँ 'यावदायुषम्' शब्द ब्रह्मलोक में जीव के रहने की अवधि के लिए आया है। शंकर की व्याख्या से स्पष्ट है कि जबतक ब्रह्मलोक में स्थिति का काल है, तबतक मुक्त आत्मा का प्रत्यावर्त्तन नहीं होता। किन्तु स्थितिकाल की समाप्ति पर आवर्त्तन में कोई बाधा नहीं। छान्दोग्य के द्वितीय सन्दर्भ (४।१५।५) की व्याख्या में भी शंकराचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा कि "देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव-आवर्त्त (मनुसम्बन्धी सर्ग अथवा मानुषी मैथुनी सृष्टि) में नहीं लौटते।"[2] इसकी टीका करते हुए आनन्दगिरि ने कहा है कि "यहाँ जो 'इमम्' विशेषण है इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा इस कल्प में नहीं लौटता, किन्तु कालान्तर में लौटता है।"[3] छान्दोग्य (५।१०) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"एक श्रुति कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव लौटता है, दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प में नहीं लौटता—क्या इनमें परस्पर विरोध नहीं है?" इसका

---

१. यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः।
२. एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनोसंबन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षण-मावर्त्तं नावर्त्तन्ते।
३. इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तर एवावृत्तिरिति सूच्यते।

समाधान करते हुए वे कहते हैं कि "यहाँ 'इमम्' विशेषण से स्पष्ट है कि मात्र इस कल्प में पुनरावृत्ति का निषेध किया है।"[1]

पुनः बृहद्० के अन्तर्गत **'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति न तेषां पुनरावृत्तिः'** (६।२।१५) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा—"अनेक संवत्सर पर्यन्त वहाँ निवास करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक वहाँ रहते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त कर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।"[2] शंकराचार्य ने यहाँ 'संवत्सरानेकान्' (अनेक वर्ष) तथा 'अनेकान् कल्पान्' (अनेक कल्प) कहकर मुक्ति के नियत कालविशेष का स्पष्ट निर्देश कर दिया। वर्षों और कल्पों से निर्दिष्ट मुक्ति निरवधि नहीं हो सकती। तब 'न लौटने' का अर्थ 'अवधि में न लौटने' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर आगे कहते हैं—'अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं' ('इह' इति शाखापाठात्' अर्थात् दूसरी शाखा में 'इह' पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवों का प्रत्यागमन) 'इस' संसार में नहीं होता। उपर्युक्त पाठ यजुर्वेदीय काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् का है। परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथ ब्राह्मण (१४।६।१।१८) में 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' यह 'इह' पदघटित पाठ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं कि "यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो, तो 'इह' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाए।"[3] इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए शंकराचार्य ने लिखा कि "इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है।"[4] इस प्रकार दर्शनों, उपनिषदों और उन पर आधारित गीता आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ मुक्ति से अनावृत्ति का प्रसंग मिले, वहाँ-वहाँ 'मुक्ति के लिए नियत अवधि में पुनरावृत्ति नहीं होती' यही तात्पर्य समझना चाहिए।

वेदान्त दर्शन में 'अनावृत्तिः शब्दात्' (४।४।२२) का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि शब्दप्रमाण से 'मुक्ति की अवधि में' अनावृत्ति

---

१. न च पुनरावर्त्तन्त इतीमं मानवमावर्त्तन्त इत्यादि श्रुतिविरोध इति। इमं मानवमिति विशेषणात् तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति।

२. पराः परावतः प्रकृष्टाः समा संवत्सरानेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः॥

३. यदि हि नावर्त्तन्त एव इह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्।

४. तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते।

सिद्ध है। अनावृत्ति का जो अर्थ श्रुति को मान्य है, वही ब्रह्मसूत्र को भी स्वीकार्य है, अर्थात् मुक्ति की नियत अवधि में, अथवा इस कल्प में, अथवा इस मानुषी (मैथुनी) सृष्टि में मुक्तात्मा का पुनरागमन नहीं होता। लोक में किसी व्यक्ति को सेवा में स्थिर या स्थायी करने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि अब वह मृत्युपर्यन्त सेवा से मुक्त नहीं किया जाएगा। इसका तात्पर्य इतना ही होता है कि उसे सेवा-निवृत्ति के लिए नियत आयु (५५-६०) से पूर्व नहीं हटाया जा सकेगा। इसी प्रकार आजीवन कारावास का अभिप्राय यही होता है कि दण्डित व्यक्ति को आजीवन कारावास की नियत अवधि (प्रायः २० वर्ष) तक कारागार में रहना होगा, यह नहीं कि अब वह मृत्युपर्यन्त कभी जेल से बाहर नहीं आएगा।

शब्दप्रमाण की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि है, अतः इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

**कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।**
**को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥**
**अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।**
**स नो मह्या पुनर्दात् अदितये पितरं च दृशेयं मातरं च॥**

—ऋ० १।२४।१,२

**प्रश्न**—हम लोग किसका पवित्र नाम जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव प्रकाशस्वरूप है जो हमें मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता है और माता-पिता का दर्शन कराता है?

**उत्तर**—हम उस प्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का पवित्र नाम जानें जो हमें मुक्ति का आनन्द भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता पिता के दर्शन कराता है।

**'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**—वेद के इन मन्त्रों में मुक्तात्माओं की पुनरा-वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।

अवतारवाद में विश्वास रखनेवाले के मत में तो स्वयं परमेश्वर अनेक बार शरीर धारण करके पृथिवी पर अवतरित होते हैं। यदि स्वरूपतः कभी जन्म न लेनेवाला नित्यमुक्त परमात्मा समय-समय पर शरीर धारण कर सकता है तो असंख्य बार जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले जीवात्मा का मनुष्यरूप में पुनर्जन्म क्यों नहीं हो सकता?

अद्वैतवाद के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में फँसने से पूर्व वर्त्तमान शरीरधारी जीवात्मा ब्रह्म ही था अथवा ब्रह्म में लीन था। कारण कुछ भी रहा हो, एक समय आया जब वह जीवरूप होकर अथवा ब्रह्म के अंश के रूप में शरीर धारण करके संसार में आ गया और जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँस गया। जब एक बार ऐसा हो गया तो फिर क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भी मुक्त जीव के मोक्ष से प्रत्यावर्त्तन की सम्भावना बनी रहती है।

मुक्ति से लौटनेवाला जीव ब्रह्म नहीं हो सकता—

**न ब्रह्मात्मैक्यं पुनरावृत्तेः ॥७९॥**

जीव-ब्रह्म एक नहीं, (मुक्ति से) पुनरावृत्ति होने से।

मोक्ष से प्रत्यागमन मानने पर जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है। यदि अविद्योपाधि के कारण ही जीवात्मा का अस्तित्व है और उसके दूर हो जाने पर तथाकथित जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, तो उसका पुनः जीवरूप होकर देह धारण करना कैसे संगत हो सकता है ? जो नदियाँ एक बार समुद्र में मिल जाती हैं वे फिर कभी उससे बाहर निकलकर नहीं बहतीं। यदि साक्षात्कार होने पर जीवात्मा का सरित्सागरवत् ब्रह्म में विलय हो जाना अथवा उसके साथ तादात्म्य हो जाना मोक्ष है तो उसका बार-बार जीवरूप में देह धारण करना सम्भव नहीं। जो बार-बार अविद्या में ग्रस्त होकर शरीर धारण करता है और मुक्त हो जाने पर भी संसार में लौट आता है, वह जीव ही हो सकता है, ब्रह्म नहीं। मुक्ति से पुनरावृत्ति के साथ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का सामञ्जस्य नहीं हो सकता।

मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने पर प्राप्त होनेवाले दोष का उल्लेख करते हैं—

**प्रत्यावर्त्तनाभावे संसारसमुच्छेदः जीवानां निःशेषत्त्वात् ॥८०॥**

पुनरावृत्ति न होने पर संसार का उच्छेद हो जाएगा, जीवों के शेष न रहने से।

यदि आत्माओं की बराबर मुक्ति होती रहे और उनमें से कोई कभी लौटकर न आए, तो एक दिन संसार का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोष क्यों न हो, निरन्तर कम-ही-कम होने पर कभी-न-कभी समाप्त हो जाता है। किन्तु आज तक संसार का

अत्यन्त उच्छेद नहीं हुआ। प्रवाह से अनादि सृष्टि की रचना प्रत्येक कल्प में होती है। यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक निर्बाध रूप से चलता रहता है। प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजन का लक्षण है—जिस अर्थ को लक्ष्य कर कोई प्रवृत्त होता है वह अर्थ प्रयोजन कहाता है।[1] इस प्रकार परमेश्वर द्वारा बार-बार सृष्टि-रचना का भी कोई-न-कोई प्रयोजन है। वह प्रयोजन **'तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य'** इस सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। स्पष्ट है कि जीव के निमित्त ही बार-बार सृष्टि की रचना होती है। तब, यदि सृष्टि प्रवाह से अनादि है तो जीवात्मा की मुक्ति भी प्रवाह से अनादि माननी होगी। जीव के मोक्ष में जाकर प्रत्यावर्त्तन होने में ही यह सम्भव है।

यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के लिए जीव की अपेक्षा है—इस तर्क से मुक्तात्माओं के मुक्ति से पुनरावर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। जीवात्माओं के न लौटने पर संसार का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि मुक्तात्माओं के स्थान पर नये जीव उत्पन्न करके सृष्टिक्रम को चालू रक्खा जा सकता है। सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर ऐसा करने में समर्थ है। परन्तु परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह जो चाहे कर सकता है। 'सर्वशक्तिमान्' होने का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर को अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती। जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना परमेश्वर का काम है, जीवों को उत्पन्न करना नहीं। यदि दुर्जनतोषन्याय से परमेश्वर द्वारा जीवों का उत्पन्न होना मान लिया जाए तो इन जीवों का अनादि न होने से अनित्य होना स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जब जीव ही अनित्य हो गया तो उसकी मुक्ति कैसे नित्य होगी? फिर, जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? जीव के न रहने पर दो ही पदार्थ शेष रह गये—ईश्वर और प्रकृति। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर में से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है? इसी प्रकार जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति भी असम्भव है। वस्तुतः अनुच्छित्तिधर्मा—अविनाशी जीव

---

१. **यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्।**

की उत्पत्ति सम्भव नहीं। मुक्ति से पुनरावृत्ति मानने में ही समस्त समस्याओं का समाधान निहित है।

आगे साधर्म्य-वैधर्म्य से अन्वय-व्यतिरेक का विवेचन किया है—

**अन्वयव्यतिरेकभावतो व्याप्यव्यापकयोर्भिन्नाभिन्नत्वम् ॥८१॥**

अन्वय-व्यतिरेक भाव से व्याप्य-व्यापक में भिन्नता-अभिन्नता दोनों हैं।

यदि दो पदार्थ वास्तव में एक हों तो उनमें परस्पर व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं घट सकता। अवकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य नहीं रह सकता। घर बनने से पूर्व लोहा, लकड़ी आदि भिन्न-भिन्न देश में रहते हुए भी आकाश में रहते हैं। घर बन जाने पर भी आकाश में स्थित रहते हैं। कालान्तर में घर के नष्ट हो जाने पर भी ये सब पदार्थ आकाश में बने रहते हैं। इस प्रकार तीन काल में ये पदार्थ आकाश से बाहर नहीं होते। इस प्रकार अन्यवभाव से देखने पर आकाश और मूर्त्त द्रव्य एक हैं, तथापि आकाश के विभुत्व, सूक्ष्मत्व, अरूपत्व आदि गुण और मूर्त्त के परिच्छिन्न, दृश्यत्व आदि गुणों में वैधर्म्य होने अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से व्यतिरेकभाव से देखने पर आकाश और मूर्त्त द्रव्य एक-दूसरे से पृथक् हैं। इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता, क्योंकि परब्रह्म देश व काल की परिधि से परे होने के कारण अंशरहित अर्थात् अखण्ड है। वह परब्रह्म का परिवर्त्तित रूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि परब्रह्म निर्विकार है। वह ईश्वर की कृति भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूप से नित्य है। इसके साथ वह परब्रह्म से भिन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब ब्रह्म के अन्दर समाया है और ब्रह्म सबमें ओत-प्रोत है। वस्तुतः ब्रह्म के आकाशवत् निराकार तथा सर्वव्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि समस्त द्रव्य तीनों काल में उससे अभिन्न हैं, क्योंकि वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। यदि वह जीवात्मा तथा जगत् से सर्वथा भिन्न होता तो वह सर्वव्यापक न हो सकता। तब वह भी वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे जीवात्मा और जगत्। समस्त जड़-चेतन के व्याप्य होने और ब्रह्म के उन सबमें व्यापक होने से कुछ भी उससे भिन्न नहीं है, किन्तु स्वरूप से भिन्न होने के कारण वे ब्रह्म से तद्रूप भी नहीं हो सकते। अन्वय के साथ जबतक व्यतिरेक न रहे, तबतक पदार्थों का यथार्थज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि

संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें सगुण-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य तथा विशेष्य-विशेषण भाव न हो।

निम्बार्क के अनुसार भेद और अभेद दोनों यथार्थ हैं। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से भिन्न हैं। वे ब्रह्म से अभिन्न हैं, क्योंकि वे अपने अस्तित्व को स्थिर नहीं रख सकते और सर्वथा ब्रह्म के ऊपर आश्रित हैं। भेद पृथक्त्व का तथा आश्रित अस्तित्व का द्योतक है (परतन्त्र-सत्ताभावः) और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव का द्योतक है (स्वतन्त्रसत्ताभावः)। भेद तथा एकत्व दोनों एकसमान यथार्थ हैं। जो भिन्न है वह एकात्म भी है।[1] जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा अभेदपरक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के उन असंख्य वाक्यों का विरोध होगा जिनमें पारस्परिक भेद को बलपूर्वक स्पष्ट किया है। इसके साथ ही भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों में सामञ्जस्य भी न हो सकेगा और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त तीनों तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि ऐसा कथन उपनिषदों के अन्तर्गत एकात्मपरक साक्ष्य से भागना होगा। प्रस्तुत सूत्र के आधार पर इस भेदाभेद की व्याख्या सम्भव है।

अगले सूत्र के द्वारा जीव तथा ब्रह्म के तादात्म्यभाव को स्पष्ट किया है—

**ब्रह्मात्मनोः तादात्म्यं देहात्मभावेन ॥८२॥**

शरीर एवं आत्मा की भाँति जीव तथा ब्रह्म में तादात्म्य है।

जीवात्मा की शरीर से भिन्न सत्ता है—वह शरीर के संघातमात्र से उत्पन्न चेतना नहीं है और न शरीर के न रहने पर उसकी मृत्यु होती है। फिर भी दोनों में ऐसा तादात्म्य है कि शरीर के मरने—शरीर से जीवात्मा के निष्क्रमण को मनुष्य की मृत्यु समझ लिया जाता

---

१. The difference signifies distinct and dependent existence (paratantrasattabhavah), and non-difference signifies the impossibility of independent existence (swatantrasatta-bhavah). Difference and identity are both equally real, and what is different is also identical.
—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P. 753-54

है। देहांगों में दोष आने पर मनुष्य कहता है—'मैं' अन्धा हो गया हूँ, 'मैं' बहरा हो गया हूँ, इत्यादि। वस्तुतः अन्धा या बहरा शरीर होता है, मैं अर्थात् आत्मा नहीं। तथापि दोनों में तादात्म्यभाव होने से शरीर में होनेवाले विकारों को आत्मा पर आरोपित कर लिया जाता है। जीवात्मा अणु—परिच्छिन्न होने के कारण शरीर के एक देश में स्थित हुआ अपने सामर्थ्य से समस्त शरीर का संचालन एवं नियन्त्रण करता है। इस प्रकार शरीर तथा जीवात्मा में तादात्म्यभाव माना जाता है। परमात्मा सृष्टि के कण-कण में ओतप्रोत है। औपचारिक रूप में कहा जा सकता है कि समस्त चराचर जगत् परमात्मा का शरीर है।[1] जिस प्रकार शरीर के परिवर्त्तनों अथवा विकारों से आत्मा में विकार नहीं आता, उसी प्रकार भौतिक जगत् के परिवर्त्तनों अथवा विकारों का परमात्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर समस्त संसार में इतनी पूर्णता के साथ व्याप्त है कि वह संसार से पृथक् प्रतीत नहीं होता। ईश्वर का उसमें वास होने से जीवात्मा भी परमात्मा का शरीर है। उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इन अर्थों में अर्थात् व्याप्य-व्यापक रूप में जीवात्मा तथा परमात्मा में तादात्म्य कथन किया जा सकता है। तथापि इस तादात्म्य से तात्पर्य एकत्व नहीं है, क्योंकि यह मात्र औपचारिक है।[2]

यदि आत्मा तथा परमात्मा में भेद न होता तो हम यह भी कैसे कह सकते थे कि वे एक-दूसरे के समान हैं, क्योंकि उपमा अथवा उत्प्रेक्षा सदा दो के बीच होती है। धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक वाक्य आते हैं जिनमें सन्तों द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर अन्य लोगों को वैसा करने की प्रेरणा की गई है। जब उपासक समाधि में बैठकर निरपेक्ष आनन्द का अनुभव करता है तो उसे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दिखाई पड़ता। उस अवस्था में इन्द्र द्वारा कथित 'मेरा ध्यान करो' अथवा वामदेव की घोषणा 'मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ' आदि की व्याख्या में

---

१. **स्वव्यतिरिक्तचेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति, स एव निरुपाधिकश्शारीर आत्मा।**—रामानुज ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य, १।१।१३

२. तुलना करें—

**मुझमें समा जा इस तरह तन-प्राण का ज्यूं तौर है।**
**जिससे न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है॥**
**मन तो शुदम् तो मन शुदी मन तन शुदम् तो जाँ शुदी।**
**ता कस न गोयद बाद'अजी मन दीगरम् तो दीगरी॥**

रामानुज ने कहा है कि इससे इस मत की पुष्टि होती है कि ब्रह्म सबकी अन्तरामा है,[1] क्योंकि अनन्त सबके अन्दर निवास करता है, इसलिए उसे व्यक्तिविशेष में भी निवास करनेवाला कहा जा सकता है।

देहात्मभाव से तादात्म्य की पुष्टि में अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं--

**अनुप्रविष्टो ब्रह्म ।।८३।।**

पीछे प्रविष्ट होनेवाला ब्रह्म है।

सूत्र में कतिपय उपनिषद्-वाक्यों की ओर संकेत किया है जिन्हें देखकर आपाततः ब्रह्म के जीवरूप में संसार में प्रविष्ट होने का आभास होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि "जगत् को उत्पन्न करके वही ब्रह्म जीवरूप होकर संसार में प्रविष्ट हुआ" (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—ब्रह्मवल्ली ६)। इसी प्रकार छान्दोग्य (६।३।२) में कहा है कि "मैं जगत् और शरीर को रचकर उसमें जीवरूप में प्रविष्ट हो नामरूप की व्याख्या करता हूँ" (अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि)। किन्तु उपनिषदों की इन उक्तियों में 'अनु' (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। 'प्रवेश' के पश्चात् ही 'अनुप्रवेश' होता है।[2] इससे स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तदनन्तर दूसरा। 'पहले' और 'पीछे' प्रवेश होने से द्वैत स्वयं सिद्ध है। 'शरीरं प्रविष्टो जीवो जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरः' अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर में जीव को प्रविष्ट कराके परमेश्वर जीव के भीतर प्रविष्ट होता है। 'सहार्थ' में तृतीया विभक्ति है—**'अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे करवाणि इत्यन्वयः'**। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करनेवाला तथा जिसमें वह प्रविष्ट होता है—उन दोनों का पृथक्त्व निश्चित है। परमात्मा प्रत्येक तत्त्व में सदा-सर्वथा प्रविष्ट है--व्याप्त है। इसलिए उसका ऐसा प्रवेश सम्भव नहीं कि पहले वहाँ न रहा हो और सर्ग के पश्चात् वहाँ आया हो। ऐसा मानने पर सर्वव्यापक एवं सर्वान्तिर्यामी स्वरूप नष्ट हो जाता है, क्योंकि लोक में ऐसा कहीं नहीं देखा जाता कि सर्वव्यापक तत्त्व पहले कहीं न रहा हो और बाद में वहाँ प्रवेश करे।

---

१. **सर्वान्तरात्मत्वम्**।—श्रीभाष्य १।१।३१

२. **प्रवेशानन्तरमनुप्रवेशः**।—अ० त० द० ७।६४

यहाँ प्रकारान्तर से इससे पूर्व के सूत्र में कथित देहात्मवत् जीव-ब्रह्म के तादात्म्यभाव की पुष्टि की गई है। जो पहले से ही सर्वत्र वर्त्तमान है (समवर्त्तताग्रे) ऐसे सर्वव्यापी परमेश्वर के कहीं प्रवेश का—पहले या पीछे-प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यहाँ यह सब औपचारिक रूप में कथित समझना चाहिए।

कार्योपाधि से ब्रह्म का जीवरूप होना तथा कारणोपाधि से उसका ईश्वररूप होना भी उपपन्न नहीं होता। एतद्विषयक आपत्ति प्रस्तुत करते हुए उसका समाधान अगले दो सूत्रों में किया है—

**न कार्यकारणोपाधिभ्यां जीवेश्वरौ ब्रह्मण्यज्ञानाभावात् ॥८४॥**

कार्यकारणोपाधि से जीव तथा ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, ब्रह्म में अज्ञान न होने से।

'संक्षेपशारीरक' का वचन है कि कार्योपाधि से ब्रह्म जीवरूप तथा कारणोपाधि से ईश्वररूप हो जाता है।[1] यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को अपने अज्ञानी होने का पता है या नहीं? यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता है तो अज्ञानी होने का अर्थ ही क्या है? यह कहना कि एक अज्ञानी पुरुष को अपने अज्ञानी होने का पता है—सर्वथा हास्यास्पद तथा मूर्खतापूर्ण है? और यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता नहीं है तो वह ब्रह्म कहाने का अधिकारी नहीं। इस प्रकार अद्वैत-वाद मात्र शब्दजाल बनकर रह जाता है। कार्य के अध्यास के परिणाम-स्वरूप जीव तथा कारण के अध्यास के परिणामस्वरूप ईश्वर की सिद्धि तभी हो सकती है, जब हम नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करें। किसी भी अवस्था में कार्यरूप होने पर ब्रह्म परिणामी तथा अज्ञानी हो जाएगा। किन्तु ब्रह्म के विषय में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

**विपरीतज्ञानस्य च नित्यत्वशङ्क्या ॥८५॥**

और, विपरीत ज्ञान के नित्यत्व की शंका से [ब्रह्म जीव नहीं हो सकता]।

यदि अज्ञान के कारण ब्रह्म परिणामी होगा तो ब्रह्म के साथ अज्ञान भी नित्य हो जाएगा। ज्ञान का अभाव अथवा मिथ्या ज्ञान दोनों अज्ञान-रूप हैं। प्रत्येक अवस्था में अज्ञान गुण है जो किसी द्रव्य के आश्रित

१. **कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।**—संक्षेपशारीरक

रहेगा। यदि ब्रह्म में अज्ञान होगा तो गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से न वह ब्रह्म को छोड़ सकेगा और न ब्रह्म उसको। ब्रह्म नित्य है, इसलिए उसका गुण होने से अज्ञान भी नित्य हो जाएगा।

अद्वैतमतानुसार ब्रह्म तथा ईश्वर नाम से अभिहित दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष एवं निष्क्रिय सत्ता है, जबकि ईश्वर में कर्त्तृत्व होने से वह सृष्टि के व्यापार से सम्बद्ध है। वस्तुतः ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। अगले सूत्र में इस विषय का प्रतिपादन किया है—

**ईश्वरो ब्रह्मैव नापरः ॥८६॥**

ईश्वर ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं।

शांकर मत में ब्रह्म के दो रूप हैं—एक परब्रह्म जो सर्वथा निर्गुण है, और दूसरा अपर ब्रह्म जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। परब्रह्म सत्तामात्र है और निर्विकल्प समाधि का विषय है। माया की उपाधि से बननेवाला अपर ब्रह्म ईश्वर कहाता है जो सविकल्प समाधि का विषय है। परब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति आदि के बखेड़े में नहीं पड़ता। माया से अभिभूत ब्रह्म का घटिया रूप ईश्वर है। वही जगत् का निमित्त तथा उपादानकारण है। मायारूपी अपनी शक्ति (प्रकृति) के सहयोग से वह लोकों की रचना करके उनका नियमन करता है।[1] इस प्रकार ईश्वर के रूप में ब्रह्म का संसार से सम्बन्ध है।

बादरायण के वेदान्तसूत्रों में ब्रह्म का यह भेद कहीं उपलब्ध नहीं होता। ब्रह्मसूत्र का आरम्भ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से होता है। इस प्रकार उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म है। दूसरे सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में उस ब्रह्म का लक्षण किया है। दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि जिज्ञास्य ब्रह्म वही है जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है। शांकर मत के अनुसार तो यह लक्षण अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ठहरता है। परन्तु सूत्र में तो इस बात का संकेत तक नहीं है कि अपर ब्रह्म अथवा माया की उपाधि से ईश्वर बना हुआ ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण है। यदि दुर्जनतोषन्याय से इसे माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म का लक्षण मान लिया जाए तो बादरायण ब्रह्मजिज्ञासु को अध्यस्त ब्रह्म के बताने के दोषी होंगे। यह जल के

---

१. ब्रह्मैव स्वशक्तिप्रकृत्यभिधेयमाश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा नियन्तृत्वादीश्वरः।

प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर भेज देने जैसा होगा। फिर, जैसे सीप में अध्यस्त चाँदी के आभूषण नहीं बन सकते और रस्सी में अध्यस्त साँप के बच्चे नहीं हो सकते, वैसे ही अतात्त्विक अध्यस्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती।

जिस ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है उसी से शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला और वेदादि शास्त्रों का ज्ञान देने-वाला एक ही ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म वास्तव में माया से अभिभूत ब्रह्म है तो उससे प्रादुर्भूत वेद को स्वतःप्रमाण एवं निर्भ्रान्त कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः ब्रह्म तथा ईश्वर दो न होकर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। एक होने पर भी परमात्मा को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है।[1] यजुर्वेद में स्पष्ट घोषणा की है कि "वह पूर्ण पुरुष ब्रह्म अग्नि, वायु आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।[2] ये सब यौगिक—गुणनिमित्तक, कार्मिक—कर्मनिमित्तक तथा स्वाभाविक—स्वभाव-निमित्तक नाम हैं। 'ईश् ऐश्वर्ये' धातु से निष्पन्न होने से वह ईश्वर है। महान्-से-महान् पर शासन करने के कारण भी वह ईश्वर कहाता है।[3] सर्वाधार तथा सबका स्वामी होने के कारण वह ईश्वर है।[4] उपनिषद् के अनुसार सर्वान्तर्यामी तथा सबकी बुद्धियों का प्रेरक होने से वह ईश्वर कहाता है।[5] 'विष्णुसहस्रनाम' की टीका के अनुसार उसे ईश्वर इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।[6] गीता के अनुसार

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥—ऋ० १।१६४।४६

In the eyes of the Hindus, there is but one supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words—'Ekam sadvipra bahudha vadanti' which may be translated as "The sages name the One Being variously."
—An Englishman defends Mother India
by Ernest Wood, P. 128.

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥—यजु० ३२।१

३. य ईशते महतो महान्।—यजु० २०।३२

४. यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।—अ० २।४।१

५. अन्तर्यामित्वेन बुद्धिनियन्तृत्वादीश्वरः।

६. निरुपाधिकमैश्वर्यमस्येतीश्वरः।

ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विद्यमान है।[1] इस प्रकार अन्य अनेक नामों की भाँति ईश्वर भी परमेश्वर का एक नाम है, ब्रह्म से किसी अन्य सत्ता का अथवा परब्रह्म के किसी घटिया संस्करण का नाम नहीं।[2]

उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनमें आपाततः अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मात्मैक्यवाद का प्रतिपादन किया गया प्रतीत होता है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इस भ्रम का निवारण हो जाता है। अगले कतिपय सूत्रों में ऐसे प्रसिद्ध सन्दर्भों पर विचार किया गया है। उन्हें देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस भ्रान्ति के मूल में विद्वानों का पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण विवेच्य सन्दर्भों को ठीक तरह न समझ पाना है।

**नोपनिषदामात्मकत्वे तात्पर्यम् ॥८७॥**

आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा) का एकत्व सिद्ध करना उपनिषदों का तात्पर्य नहीं।

दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषदों में भावात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शनों तथा उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक-दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। तर्क वहाँ पर मौन नहीं तो गौण अवश्य हो जाता है। अतएव एक समाधिस्थ पुरुष जब अपने चरम लक्ष्य—ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है तो उस अवस्था में उसका भावुक

---

१. **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**—गीता १८।६१

२. The Vedic hymns are chanted to the one deity under many names, names which are used and even designed to express his qualities and powers. Was this Dayanand's arbitrary concept fetched out of his own ingenious imagination ? Not at all. It is the explicit statemnet of the Veda itself.

—Aurobindo Ghosha : Bankim, Tilak and Dayanand.

**एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृङ् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।**

मै० उ० ६।८

**स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।**
**स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।**—कै० उ० ५।८
**सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः।**—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३।१२३।१३

हो उठना स्वाभाविक है। आनन्दातिरेक की उस तीव्र अनुभूति में उसका अपना व्यक्तित्व कुछ खो-सा जाता है। परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ भी उसे नहीं सूझता। परमात्मा में वह इस प्रकार लीन हो जाता है कि तादात्म्य का अनुभव करते हुए वह कह जाता है कि वे दोनों एक हैं। भावात्मक एकता के उन क्षणों में यदि वह कह उठे 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसे भावात्मक अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए। विवाह-संस्कार के अवसर पर पति-पत्नी दोनों कहते हैं—**"यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदेतद् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव"**। यहाँ भौतिक हृदयों के प्रत्यारोपण का प्रसंग नहीं है। यह दाम्पत्यसूत्र में बँधनेवाले दो व्यक्तियों के परस्पर अत्यधिक प्रेम अथवा तादात्म्यभाव का द्योतन है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' में भी यही भाव निहित है। जब पुत्र को दुःखी देखकर पिता दुःखी होता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह अपने को पुत्र समझता है। पुत्र को ज्वरग्रस्त जानकर वह अपने को ज्वरग्रस्त नहीं मानता। इसलिए उसे वही पीड़ा नहीं होती जो पुत्र को होती है। पुत्र का दुःख ज्वर से उत्पन्न होता है और पिता का दुःख पुत्र के दुःख से। इसलिए पुत्र के दुःख से पिता के दुःखी होने पर भी दोनों को एक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः उपनिषदों का अध्ययन अभिव्यक्ति की इस विशेषता को ध्यान में रखकर करना चाहिए, क्योंकि वहाँ इस प्रकार के वाक्य भरे पड़े हैं।

महावाक्य के नाम से प्रसिद्ध कतिपय ऐसे सन्दर्भ भी हैं जिन्हें प्रकरण से काटकर उनका अर्थ करने पर जीव एवं ब्रह्म के एकत्व अथवा तादात्म्य का आभास होता है। अगले सूत्रों में उनका संकेत करके पूर्वापर प्रसंग के अनुसार उनका अर्थ बतलाकर स्पष्ट किया है कि उनमें ब्रह्मात्मैक्य की गन्ध तक नहीं है।

**अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मोक्तम् ॥८८॥**

'अहं ब्रह्मास्मि' यह स्वयं ब्रह्म की उक्ति है।

बृहद्० के अन्तर्गत 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) को जीवात्मा की उक्ति समझकर ही उसे जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का प्रतिपादक माना जाता है। वास्तव में यह वाक्य ब्रह्म के संकल्परूप में कहा गया है। यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्—अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्।" —बृहद् ४।१।१०

अर्थात्—सर्ग से पूर्व केवल यह ब्रह्म था। उसने अपने-आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। वही इस समस्त कार्यजगत् का उत्पादक है। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि आज भी जो इस तथ्य को जान लेता है, वह वही हो जाता है अर्थात् वह आनन्द से आप्लावित हो जाता है। इसके विपरीत जो उपासक, यह समझकर कि उसका उपास्य अन्य है, उस ब्रह्म से अन्य की उपासना करता है वह यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता। इस पूरे सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेवाला वह (तत्) है जो सर्ग से पूर्व विद्यमान था (इदमग्र आसीत्)। निश्चय ही, सर्ग से पूर्व सबको अपने अन्दर धारण करनेवाला परमात्मा वर्त्तमान था (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे—यजु० १३।४)। उपनिषत्कार ने अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार यह वाक्य (अहं ब्रह्मास्मि) उसी ब्रह्म के द्वारा कहलवाया है। स्वयं उपासक जीवात्मा को यहाँ उपास्य ब्रह्म के रूप में नहीं कहा गया। वस्तुतः 'अहं ब्रह्मास्मि' का वक्ता स्वयं ब्रह्म है।

यदि इस वाक्य को जीवात्मा की उक्ति माना जाए तो वह मात्र औपचारिक कथन होगा। ऐसी भावना किसी वाक्य अथवा वाक्यांश से आपाततः प्रतीत हो तो उसे अतिशय भक्ति का उद्रेक जानकर औपचारिक समझना चाहिए, वास्तविक नहीं। अनेकत्र ऐसे वर्णनों में उपासक द्वारा ब्रह्म को माता, पिता, भ्राता, सखा आदि के रूप में सम्बोधित किया गया है जिसे यथार्थ नहीं माना जा सकता।

प्रायः सुना जाता है—'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मञ्च पुकारते हैं। मञ्च तो जड़ हैं, उनमें पुकारने की सामर्थ्य कहाँ? इसलिए 'मञ्च' का अर्थ यहाँ 'मञ्चस्थपुरुषाः' किया जाता है। जीव का ब्रह्म से साहचर्य तथा संयोगसम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रायः एक-साथ रहने और सहयोग करनेवाले दो व्यक्तियों को लोग 'दो शरीर, एक प्राण' अथवा 'वे दोनों एक ही हैं' कह देते हैं, इसी प्रकार जब जीवात्मा परमेश्वर का-सा गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार करते हुए ब्रह्मानन्द से आप्लावित होता है तब वह और ब्रह्म एक अर्थात् परस्पर अविरोधी हो जाते हैं। परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म वास्तव में एक हैं अथवा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की अपनी कोई सत्ता नहीं हैं, युक्तियुक्त नहीं होगा। यह वाक्य ब्रह्म के साथ जीवात्मा के अत्यधिक अथवा अव्यवहित सान्निध्य का द्योतक

हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार विचार करने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'अहं ब्रह्मस्थोऽस्मि' मानकर किया जाना चाहिए।

**साजात्यवैजात्यस्वगतभेदशून्यत्वादेकमेवाद्वितीयम् ॥८९॥**

सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से रहित होने से (ब्रह्म) अद्वितीय है।

एक वृक्ष अन्य वृक्षों से समानता रखता है, पत्थरों से असमानता रखता है और उसके पत्तों, फूलों और फलों में विविधता पाई जाती है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सजातीय है तथा पशु, वृक्षादि का विजातीय है। एक ही शरीर में स्थित आँख, कान, हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों में जो भेद है वह स्वगतभेद है। जीवात्मा ब्रह्म का सजातीय है, क्योंकि दोनों चेतन हैं और अनेक बातों में एक-दूसरे के समान हैं। फिर भी ब्रह्म का अपना वैशिष्ट्य है जिसके कारण वह अपने सजातीय जीवसे भिन्न है। जहाँ जीव अनेक हैं, वहाँ ब्रह्म केवल एक है। कोई भी जीव ब्रह्म के समान नहीं है, इसलिए ब्रह्म अद्वितीय है। ब्रह्म के समान प्रकृति नित्य है, किन्तु प्रकृति नित्य होते हुए भी जड़ तथा परिणामी है। प्रकृतिस्थ तत्त्व भी अनेक हैं। इसके विपरीत ब्रह्म चेतन, अपरिणामी तथा एक है। इस प्रकार विजातीय प्रकृति से भी ब्रह्म का वैशिष्ट्य है और परिणामतः वह अद्वितीय है। ब्रह्म निरवयव एवं अखण्ड है, इसलिए उसमें स्वगतभेद भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अद्वितीय है। इस प्रकार छान्दोग्य (६।२।२) के अन्तर्गत 'एकमेवाद्वितीयम्' में 'अद्वितीय' शब्द से ब्रह्म का एक तथा अन्य समस्त पदार्थों से उसका विलक्षण होना सिद्ध होता है, ब्रह्मेतर अन्य सबका अभाव नहीं।

'अद्वितीय' विशेषण पद है। यह ठीक है कि विशेषण भेदकारक होता है,[1] परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि विशेषण प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक होता है।[2] 'अद्वितीय' पद ब्रह्म का विशेषण है। व्यावर्त्तक धर्म के रूप में अद्वैत ब्रह्म को जीवों तथा अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है और प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक धर्म के नाते वह ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। यदि किसी के सम्बन्ध में यह कहा जाए कि वह अद्वितीय विद्वान् है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान

१. **व्यावर्त्तकं विशेषणं भवति।**
२. **प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणम्।**

कोई विद्वान् नहीं है, यह नहीं कि उससे अतिरिक्त कोई अन्य विद्वान् संसार में है ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय कहने का इतना ही अभिप्राय है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य होने के कारण ब्रह्म के सदृश अन्य कोई नहीं है। ईश्वर के गुण अपने स्वरूप में निरपेक्ष हैं। वह हर प्रकार से पूर्ण है। उत्कर्ष में न कोई उससे बढ़कर है और न कोई उसके समान। अद्वितीय का यही तात्पर्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि का अस्तित्व ही नहीं है।

ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर उपनिषत्कार ने अथर्ववेद के एतद्विषयक मन्त्र को सूत्रबद्ध करके ब्रह्म के एक होने की पुष्टि की है।[1] समूचे शरीर में एक ही आत्मा है जो उसका संचालन तथा नियन्त्रण करता है। इसीलिए शरीर का कार्य अबाध रूप से चलता है। इतने विशाल तथा विलक्षण संसार का व्यवस्थित रूप में संचालन इसीलिए सम्भव है, क्योंकि उसका स्वामी[2] तथा नियामक 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म है। यदि शरीर में एक से अधिक जीवात्मा और ब्रह्माण्ड में एक से अधिक परमात्मा होते तो संघर्ष अनिवार्य होता और सर्वत्र अराजकता होती।

जगत् में पाप-पुण्य प्रत्यक्ष हैं। यदि ईश्वर से भिन्न कोई सत्ता न हो तो पाप-पुण्य का दायित्व ईश्वर पर ही होगा। वही पाप-पुण्य का कर्त्ता और वही उनके फल का भोक्ता होगा। यदि पाप-पुण्य से ईश्वर को बचाने के लिए अविद्या या माया की[3] अथवा फ़ारस के पुराणशास्त्र

१. न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स एक एव वृदेक एव॥ अ० १३।४।१६-२०

२. पतिरेक आसीत्।

३. Maya has the two properties of 'Avaran' (आवरण) or hiding the truth, and 'Vikshepa' (विक्षेप) or misrepresenting it. (see Vedantasara iv) While the first is mere negation of knowledge, the second is positive generation of error. We not only do not perceive the Absolute but we apprehend something else in its place. Maya evolves a variety of names and forms which, in their totality is the 'jagat' or the universe. It also conceals the eternal Brahman under this aggregate of names and forms.
—Radhakrishnan : Indian Philosoply, Vol. II, P. 571

तथा इसलाम व ईसाई मत के अनुसार पाप के जनक या प्रेरक के रूप में शैतान की कल्पना की जाए तो ईश्वर और शैतान के बीच निरन्तर संघर्ष के साथ-साथ द्वैत की स्थापना हो जाएगी। यहूदियों के पैगम्बर द्वारा प्रस्तुत इस समाधान की, अर्थात् "मैं प्रकाश तथा अन्धकार की भी रचना करता हूँ, मैं शान्ति का निर्माता हूँ और पाप की भी रचना करता हूँ" प्रतिध्वनि कौषीतकी उपनिषद् (२-८) में इन शब्दों में मिलती है—"क्योंकि वही उन मनुष्यों से शुभ कर्म कराता है जिनका वह इस जगत् से मुक्त होने के लिए मार्गदर्शन करता है और उन मनुष्यों से पाप कराता है जिन्हें वह रसातल में भेजना चाहता है। इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को विकृत करती हैं तथा मनुष्यों को पापकर्म में प्रवृत्त करती हैं। वस्तुतः संसार में जो कुछ प्रत्यक्ष है उसकी व्याख्या ब्रह्म से अतिरिक्त अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीवात्माओं की सत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकती।

**ओङ्कारमधिकृत्योक्तमयमात्मा ब्रह्मेति ॥६०॥**

'अयमात्मा ब्रह्म' ओङ्कार के विषय में कहा है।

प्रस्तुत वाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म' माण्डूक्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र का अंश है। इससे पूर्व उपनिषद् के पहले मन्त्र में कहा गया है कि 'ओम्' यह एक अक्षर है। उसी का यह सब विस्तार है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब ओङ्कार ही है और जो इसके अतिरिक्त तीन काल से बाहर है वह भी ओङ्कार ही है।[1] अतएव माण्डूक्य में आद्योपान्त उसी ओङ्कार का विस्तृत विवेचन किया गया है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

इसका सीधा अर्थ इस प्रकार है—(हि) निश्चय से (एतत्सर्वम्) यह सब (ब्रह्म) ब्रह्म है। (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (ब्रह्म) ब्रह्म है। (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (चतुष्पात्) चतुष्पात् है।

इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, वह ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा गया है। उपर्युक्त व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट हैं—

---

१. ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम्। भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।—माण्डूक्य-१

१. यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है।
२. यह आत्मा ब्रह्म है।
३. इस आत्मा के चार पाद हैं।

'आत्मा' शब्द सामान्यतया जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। प्रकरण के अनुसार अर्थ का निश्चय होता है। पूर्वापर-प्रसंग तथा प्रस्तुत सन्दर्भ को देखते हुए 'अयमात्मा ब्रह्म' इस वाक्य में 'आप्लृ व्याप्तौ' से निष्पन्न 'आत्मा' अपने धात्वर्थ के अनुसार ब्रह्म के विशेषण-रूप में सर्वव्यापक अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार 'ओं खं ब्रह्म' का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर 'परमेश्वर आकाशवत् व्यापक है' है, उसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ 'यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म है' न होकर 'यह (आत्मा) सर्वव्यापक तत्त्व (ब्रह्म) महान् है' अथवा 'यह ब्रह्म सर्वव्यापक (आत्मा) है' होगा। इसी प्रकार 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' का अर्थ 'यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है' न होकर तात्स्थ्योपाधि से 'यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म में स्थित है' होगा। यदि यहाँ पर 'आत्मा' को 'जीवात्मा' का वाचक मानकर 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ 'यह जीवात्मा ब्रह्म है' किया जाएगा तो अगले वाक्य 'सोऽय-मात्मा चतुष्पात्' का अर्थ भी 'यह आत्मा चतुष्पात् है' करना होगा जो सर्वथा असंगत होगा। जो आत्मा ब्रह्म है वही (सोऽयं) 'चतुष्पात्' है। यह 'चतुष्पात्' जीवात्मा कदापि नहीं हो सकता। वह ब्रह्म ही है, इस बात को आगे आठवें मन्त्र में सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा है कि वह यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर ओङ्कार है और वह ओङ्कार मात्राओं में अधिष्ठित है। पाद मात्रा हैं और मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं अर्थात् ब्रह्म के चार पाद ओङ्कार की चार मात्राएँ हैं और ओङ्कार की मात्राएँ ब्रह्म के चार पाद हैं।[1] माण्डूक्य का लक्ष्य ब्रह्म तथा ओङ्कार का तादात्म्य बताना है, जीव तथा ब्रह्म का अभेद सिद्ध करना नहीं।

यदि इस वाक्य का जीवात्मापरक अर्थ करना ही अभिप्रेत हो तो यह 'तात्स्थ्योपाधि' अथवा 'तत्सहचरितोपाधि' से कहा गया भक्तिभाव के अतिरेक का द्योतक है। समाधिदशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो वह भावविभोर होकर कह उठता है—

१. **सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति।**

'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणों में कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। "जैसे इस शरीर में व्यापक होने से मैं इस शरीर का आत्मा हूँ, वैसे ही मेरी आत्मा में व्यापक होने से वह (ब्रह्म) मेरी आत्मा है।" तथापि व्याप्य-व्यापक भाव से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत 'तत्त्वमसि' को जीव और ब्रह्म की एकत्व-सिद्धि में अकाट्य प्रमाण समझा जाता है। इस वाक्य को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रस्तुत करके इसका विवेचन अगले सूत्र में किया है—

**तत्त्वमसीत्यैकात्म्यावगतिः ॥६१॥**

'तत्त्वमसि' कथन से (जीव व ब्रह्म का) ऐकात्म्य सिद्ध है।

जीवात्मा तथा परमात्मा में तादात्म्य-भाव है; भेद कल्पित है, उपाधि के कारण है। उस उपाधि का नाश होते ही जीवात्मा अपने स्वरूप को प्राप्त होकर अपने को साक्षात् ब्रह्म मानने लगता है। छान्दोग्य (६।८।१५) के अन्तर्गत 'तत्त्वमसि' का यही आशय है। आचार्य अपने शिष्य को कहते हैं—"त्वं तत् (ब्रह्म) असि।" सामने बैठे हुए, शरीर, इन्द्रियादि से युक्त तुम (त्वम्) परोक्ष सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म (तत्) हो (असि)। परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हुए भी 'त्वम्' और 'तत्' एक कैसे हो सकते हैं? साधक इसको समझने का प्रयास करता है तो आचार्य स्पष्ट करते हैं कि इन दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। 'त्वम्' तथा 'तत्' में चैतन्य गुण समान है। शेष गुण उपाधि के कारण कल्पित हैं, इसलिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। अतएव जब आचार्य कहते हैं 'त्वं तत् असि' तो उनके कहने का यही अभिप्राय है कि 'त्वम्' का चैतन्य और 'तत्' का चैतन्य एक ही है। तुच्छ एवं आरोपित भेदक गुणों का परित्याग कर देने पर एक चैतन्य दूसरे चैतन्य से भिन्न नहीं है। 'जहत्-अजहत् लक्षणा'[1] से इसका यही अर्थ है।

---

१. **'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**—'लक्षणा' शब्द की एक प्रकार की वृत्ति है। जब अभिधावृत्ति से किसी वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होता, तब उससे सम्बद्ध दूसरे अर्थ का बोध करानेवाली वृत्ति 'लक्षणा' कहाती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' का अभिधावृत्ति से कोई समन्वित अर्थ नहीं बनता। तब 'लक्षणा' वृत्ति के द्वारा 'गङ्गायां' का अर्थ 'गंगा की धारा' न करके 'गंगा का तीर' किया

**देहात्मभेदप्रतिपत्तये तत्त्वमसीति ॥६२॥**

शरीर व आत्मा में भेद स्पष्ट करने के लिए 'तत्त्वमसि' कथन किया है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के आरम्भ में वर्णन है कि आरुणि-उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त करके लौटा तो पिता को अपना पुत्र कुछ अभिमानी जान पड़ा। आरुणि समझ गये कि लड़के ने शब्दमात्र को जाना है, आत्मतत्त्व को—अपने स्वरूप को नहीं समझा। तब अपने देहादि पर गर्व करनेवाले श्वेतकेतु को उद्दालक ने यह समझाने का प्रयास किया कि तू प्राकृत देहादि के समान जड़ न होकर ब्रह्म के समान चेतन तत्त्व है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, ब्रह्म की है, उसी प्रकार पिण्ड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है। देहादि की रचना अचेतनरूप है, त्रिगुणात्मक है, जबकि आत्मा चेतन एवं त्रिगुणातीत है। आत्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए, अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके, अनात्मजगत् को उससे भिन्न दिखाकर उसकी हेयता को विवृत किया है। पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त सूत्र में 'तत्त्वमसि' का जो अर्थ किया गया है, वह उसे उपनिषद् के अन्तर्गत सम्बद्ध वाक्य से काटकर तथा पूर्वापर-प्रसंग से पृथक् करके किया गया है। छान्दोग्य के इस पूरे प्रकरण को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ 'तत्' पद 'ब्रह्म' का परामर्शक नहीं है। इस तथ्य का बोध होते ही इस वाक्य का जीव-ब्रह्म के भेदाभेद-विवेचन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रसंग के ग्यारहवें खण्ड में चेतन-अचेतन के भेद का स्पष्ट वर्णन है।

---

जाता है। यहाँ 'गङ्गा' शब्द के मुख्य अर्थ का परित्याग करके अर्थ की संगति बिठाई जाती है। इसे 'जहत्' लक्षणा कहते हैं। किन्तु जब लक्षणा द्वारा अर्थ करते हुए मुख्यार्थ का भी ग्रहण होता है, तब वह 'अजहत् लक्षणा' कहाती है। जैसे—'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है) इस वाक्य का मात्र मुख्यार्थ से कोई समन्वित अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि लाल रंग जड़ होने से दौड़ नहीं सकता। इसलिए लक्षणा के द्वारा 'शोणः' का अर्थ 'लाल रंग का घोड़ा' किया जाता है। यहाँ मुख्य अर्थ का ग्रहण भी अपेक्षित है, अर्थात् घोड़े के साथ-साथ लाल रंग भी दौड़ता है। यह 'अजहत् लक्षणा' कहाती है। इस प्रकार जहाँ 'छोड़ा भी जाए और न भी छोड़ा जाए' अर्थात् विरुद्ध धर्म का परित्याग और समान धर्म का ग्रहण किया जाए वहाँ 'जहत्-अजहत् लक्षणा' द्वारा अर्थ किया जाता है।

इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए समस्त प्रकरण में जो वाक्य बार-बार आया है, वह इस प्रकार है—

**स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो ॥**—छां० ६।८।७

अर्थात्—"जो यह सूक्ष्म है, यह सब जगत् आत्मा के लिए है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो।" स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश कर आत्मतत्त्व को उससे भी सूक्ष्म कहा है। जगत् की रचना जीवात्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए की गई है। अतएव स्थूल से सूक्ष्म तक जितना सद्रूप जड़तत्त्व है, वह सब आत्मा के लिए है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य भौतिक पदार्थ आत्मा के लिए मात्र साधनरूप हैं। देहादि सब विकारी हैं। जो अविकारी है वही सत्य है और वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो। जिस प्रकार जीव के निकल जाने पर हरा-भरा वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार जीव के निकल जाने पर यह शरीर मृत कहा जाता है। किन्तु जीवात्मा नहीं मरता, वह अमर, अपरिणामी है। हे श्वेतकेतो ! वही आत्मा सत्य है, तुम वही हो। जबतक कोई व्यक्ति इस तथ्य को नहीं जान पाता, तबतक अज्ञान में रहता है; जब उसे जान लेता है, तब कोई सांसारिक ताप उसे नहीं सताता।

इस समस्त प्रकरण में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' पद विचारणीय हैं। प्रकरणानुसार 'ऐतदात्म्यम्' का निर्वचन इस प्रकार किया जाना युक्ति-युक्त है—"एतस्मै आत्मने इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्।" यहाँ 'इदं सर्वं' पदों से जिस वस्तुतत्त्व का निर्देश किया जा रहा है, उसका विशेषण है—'ऐतदात्म्यम्'। इसका अर्थ होगा—यह सब आत्मा के लिए है।

शंकराचार्य का मत है कि यहाँ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इन पदों के आधार पर जो कुछ यह जगत् दीख रहा है, उसे आत्म-(ब्रह्म)-रूप मानकर श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही (ब्रह्म) है। इस दृष्टि से 'ऐतदात्म्यं' का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है—"एष चासौ आत्मा इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्।" इस निर्वचन के अनुसार ही 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' का अर्थ किया जाता है—यह सब जगत् आत्मा ही है। इस अर्थ के अनुसार ब्रह्म तथा जगत् में अभेद सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। तदनुसार यदि 'जगत्' का निर्देश करके श्वेतकेतु

को कहा गया है कि तू वही है, तो उसे जगत् के समान जड़रूप आत्मा बताया जा रहा है। आत्मा को जड़ कैसे माना जा सकता है ? नवीन वेदान्ती 'तत्' पद से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार 'तत्त्वमसि' का अर्थ 'तू (त्वं) ब्रह्म (तत्) है (असि)। किन्तु इस समस्त प्रकरण में कहीं भी ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। यदि आस-पास भी कहीं होता तो 'तत्' पद ब्रह्म का परामर्शक हो सकता था अथवा यहाँ ब्रह्म का अध्याहार किया जा सकता था। सन्दर्भान्तिर्गत बार-बार आया 'अणिमा' पद भी यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होने से विभु है। इसके विपरीत जीव का एकदेशी होने से अणु (परिच्छिन्न) होना शास्त्रसम्मत तथा तर्क-प्रतिष्ठित है। 'ऐतदात्म्यमिदं' की व्याख्या के लिए यहाँ जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, उन सबमें जड़ व चेतन का भेद दर्शाया है। इसलिए 'ऐतदात्म्यमिदं' पद के प्रचलित अर्थ के युक्तियुक्त न होने से उसके आधार पर 'तत्त्वमसि' से जीव तथा ब्रह्म का तादात्म्य उपपन्न नहीं होता।

छान्दोग्य के छठे अध्याय (प्रपाठक) के आठवें खण्ड से अध्याय की समाप्ति तक विभिन्न उदाहरणों द्वारा आत्मतत्त्व को समझाने का प्रयास किया है। इन उदाहरणों में स्थूल से सूक्ष्म-पर्यन्त अवस्था का निर्देश करके आत्मतत्त्व को उनसे भी सूक्ष्म कहा है। उन सभी प्रसंगों के अन्त में बार-बार कहा है कि वह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी के लिए यह सब जगत् है। जगत् परिणामी है, हेय है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस प्रसंग में देहादि समस्त जड़ जगत् को भिन्न पक्ष में रखकर उससे अतिरिक्त तत्त्व को आत्मा बताया है जो चेतन तत्त्व है।

इस सारे सन्दर्भ में अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व की स्थापना करके श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस सुन्दर, सुडौल, बलिष्ठ शरीर पर तुम्हें इतना गर्व है तुम वह शरीर नहीं हो—उससे परे आत्मतत्त्व हो। उसने प्राकृत जगत् से परे आत्म-तत्त्व को समझा और उसको निमित्त बनाकर इस मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु को उद्दालक ने अध्यात्म-तत्त्व का चिरन्तन उपदेश दिया। छान्दोग्य के प्रकृत प्रसंग का यही अभिप्राय है, यहाँ आत्मा को ब्रह्मरूप बताने की कोई भावना नहीं है। □

# तृतीयोऽध्यायः

**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।।१।।**

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।

परम यथार्थ सत्ता ब्रह्म है जो निर्विकल्प आत्मा है। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान सब-कुछ किसी-न-किसी रूप में ब्रह्म में ही निहित है। इसलिए जो कुछ दिखाई देता है, वह गन्धर्वनगर अथवा मृगमरीचिका की भाँति अयथार्थ है—मिथ्या है।[1] ब्रह्म तथा जगत् एवं एकत्व तथा अनेकत्व दोनों समान रूप से यथार्थ नहीं हो सकते। यदि एकत्व तथा अनेकत्व दोनों यथार्थ होते तो किसी भौतिकवादी के लिए यह नहीं कहा जा सकता था कि वह असत्य में ग्रस्त है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् के समानरूप से सत्य होने पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उस अवस्था में यह भी नहीं कहा जा सकता कि जगत् के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान उत्कृष्ट है। यथार्थता की कसौटी पर परखने से आनुभविक जगत् का मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। इसलिए जो कुछ भी ज्ञान का विषय है, वह नाशवान् है[2] और नाशवान् होने से अयथार्थ अथवा मिथ्या है। पदार्थरूप विषय जिनका प्रत्यक्ष होता है, अयथार्थ हैं, जबकि आत्मा, जो इनका प्रत्यक्ष करती है, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती, यथार्थ है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाओं में अन्तर करते हुए भी शंकर चैतन्य का विषय होने से दोनों को अयथार्थ मानते हैं।[3] यथार्थ वह है जो परस्पर विरोध से मुक्त हो।

---

१. **यदिदं दृश्यते किञ्चित् तन्नास्ति किमपि ध्रुवम्।**
**यथा गन्धर्वनगरं तथा वारि मरुस्थले।।**—योगवासिष्ठ

२. **यद्दृश्यं तन्नश्यम्।**

३. **दृश्यत्वमसत्यञ्च अविशिष्टमुभयत्र।**—गौडपाद कारिका पर शां० भा० २।४

किन्तु यह जगत् विरोधों से भरपूर है। विविधताओं से पूर्ण यह जगत् छिन्न-भिन्न होकर अन्ततः एकत्व के रूप में आ जाएगा।[1]

देशकाल तथा कार्य-कारणरूपी ढाँचों में प्रविष्ट अनुभव केवल प्रतीतिमात्र है। यथार्थ वह है जो सब कालों में विद्यमान है।[2] जो आज विद्यमान किन्तु कल विलुप्त हो जानेवाला है, वह यथार्थ नहीं हो सकता। आनुभविक जगत् सब कालों में विद्यमान नहीं रहता, इसलिए वह यथार्थ नहीं है। सांसारिक पदार्थ परिवर्त्तनशील हैं और जो परिवर्त्तित होता रहता है, वह यथार्थ नहीं होता। जैसे ही यथार्थ का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त होता है, वैसे ही यह आनुभविक जगत् नष्ट हो जाता है। इस जगत् को अयथार्थ अथवा मिथ्या इसीलिए कहा जाता है क्योंकि सत्यज्ञान के द्वारा इसका प्रत्याख्यान हो जाता है।

जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया है।

**न तत्त्वार्थदर्शनात् ॥२॥**

तत्त्वज्ञान के विषयों (प्रकृति-पुरुष-परमात्मा) का ज्ञान होने से [जगत् मिथ्या] नहीं।

जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना ज्ञान या विद्या है।[3] इसके विपरीत जो वस्तु जैसी नहीं है उसका वैसा दीखना अविद्या है।[4] अनित्य को नित्य अथवा नित्य को अनित्य और इसी प्रकार अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्म—देह, जगत् आदि को आत्मा समझना अविद्या का स्वरूप है।[5] इसी को वैशेषिक दर्शन में दुष्ट ज्ञान कहा है।[6] रज्जु को सर्प समझना और तुलसीदास की तरह सर्प को रज्जु समझना दोनों ही भ्रान्तिरूप हैं। इसी प्रकार जगत् को ब्रह्म मानना वास्तविकता से उतना ही दूर है, जितना ब्रह्म को जगत्

---

१. तुलना करें—**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।**
**आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥**
—देखें अप्पयदीक्षित-कृत सिद्धान्तलेश, २

२. **त्रैकालिकाद्यबाध्यत्वम्।**

३. **यथार्थदर्शनं हि ज्ञानम्।**—अ० त० द० १।२

४. **अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या।**—विद्यानन्द

५. **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।**—यो० द० २।५

६. **तद् दुष्टं ज्ञानम्।**—वै० द० ६।२।११;
**अदुष्टं विद्या।**—वै० द० ६।२।१२

माननना। दोनों ही अविद्या, अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान का परिणाम हैं। इसीलिए दोनों का ही प्रत्याख्यान अपेक्षित है।

किसी भी वस्तु का सत्य होना उसके साधक प्रमाणों के होने तथा बाधक प्रमाणों के न होने पर निर्भर करता है। इस रूप में जगत् एक यथार्थ सत्ता है। उसे मिथ्या कहना असङ्गत है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के मूल उपादान-तत्त्वों से जीवात्माओं के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि के लिए जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। चेतन आत्मतत्त्व तथा प्रकृति दोनों सत्य हैं—नित्य हैं। तब उन दोनों से मिलकर बना संसार कैसे मिथ्या हो सकता है? मूल उपादान से उत्पन्न होने के कारण जगत् की वास्तविकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। जब उपादान सत्य है तो उसका विकार नश्वर भले ही हो, उसे मिथ्या या कल्पित नहीं कहा जा सकता। वेद व वैदिक साहित्य में अदिति, स्वधा, त्रिधातु के रूप में मूल उपादान प्रकृति के सत्य होने का स्पष्ट उल्लेख है। उससे उत्पन्न जगत् के लिए भी "यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते" (तैत्ति० आ० ८।६) इत्यादि वाक्य उसके सत्य होने की घोषणा कर रहे हैं। संसार की पृष्ठभूमि में एक गम्भीर आशय निहित है। इसलिए उसे केवल भ्रान्तिमात्र कहकर परिहास की वस्तु नहीं माना जा सकता।

भ्रम की प्रतीति किसी वस्तु की वास्तविकता का अपलाप नहीं कर सकती। स्वप्न तथा भ्रान्ति-स्थलों में प्रतीति का कारण आरोपित वस्तु की अवास्तविकता नहीं है। मृगमरीचिका में बालू में जल की प्रतीति, रज्जु में सर्प का भ्रम अथवा शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होने से जल, सर्प अथवा रजत को अभावरूप नहीं माना जा सकता। जबतक वास्तविक जल, सर्प तथा रजत का अस्तित्व न हो, तबतक उनकी कहीं भी प्रतीति होना असम्भव है। ऐसे स्थलों में भ्रान्ति केवल इतनी है कि हम जल आदि की कल्पना वहाँ कर बैठते हैं जहाँ वह उस समय नहीं है, किन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि जल आदि अभावरूप हैं अथवा उनका सर्वत्र अभाव है। अभावमात्र तो सर्वत्र समान है। फिर, क्या कारण है कि रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, घोड़े की नहीं और बालू में जल का भ्रम होता है, पीतल का नहीं? वस्तुतः रज्जु और सर्प एवं बालू और जल सभी का अस्तित्व है और परस्पर सादृश्य के कारण एक में दूसरे की प्रतीति होती है।

इस प्रकार, यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि हमें

ब्रह्म में जगत् की प्रतीति हो रही है, तो भी भ्रान्तिस्थल के अतिरिक्त कहीं-न-कहीं जगत् की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा किये बिना आधेय जगत् को आधार ब्रह्म पर आरोपित करने की कल्पना नहीं की जा सकती। ब्रह्म में जगत् भ्रान्ति का आधार चेतन को अचेतन समझना है। इसी प्रकार देहादि को आत्मा समझना अचेतन में चेतन की भ्रान्ति होना है। रज्जु को सर्प समझना और सर्प को रज्जु समझना दोनों भ्रान्तिरूप हैं। इसी प्रकार चेतन को अचेतन समझना और अचेतन को चेतन समझना अविवेक=भ्रम या भ्रान्ति है, जबकि चेतन को चेतन और अचेतन को अचेतन समझना यथार्थ दर्शन है, फलतः जगत् को मिथ्या अथवा उसकी सत्ता को केवल भ्रम स्वीकार नहीं किया जा सकता।

गौड़पाद के मत में यह जीवन और जगत् जाग्रत्-अवस्था का स्वप्न है (२।३१), किन्तु यदि सम्पूर्ण ज्ञान प्रतीतिमात्र है तो फिर यथार्थ और मिथ्या ज्ञान में क्या अन्तर रहा? रज्जु का रज्जु के रूप में ज्ञान भी उतना ही निराधार है जितना रज्जु को सर्प के रूप में जानने का ज्ञान है।

**न निराधारं परिवर्त्तनम् ॥३॥**

परिवर्त्तन निराधार नहीं होता।

परिवर्त्तन नाश का पर्यायवाची नहीं है। परिवर्त्तन नाम-रूप का होता है, वस्तुतत्त्व का नहीं। जीवविज्ञान के अनुसार हर सात वर्ष में हमारे शरीर का कण-कण बदल जाता है। साठ-सत्तर वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते मानव-शरीर में अपचय-उपचय की, संघटन-विघटन की, न जाने कितनी विध्वंसकारी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। दस वर्ष की वय में देखे हुए बालक को साठ-सत्तर वर्ष के वृद्ध के रूप में देखकर पहचाना भी नहीं जाता। रूप ही नहीं, कभी-कभी नाम भी बदल जाता है। फिर भी, न इस शरीर को मिथ्या माना जा सकता है और न इस शरीर को धारण करनेवाले व्यक्ति—जीवात्मा को। एक वस्तु के स्थान पर सर्वथा भिन्न किसी दूसरी वस्तु का होना परिवर्त्तन नहीं कहाता। परिवर्त्तन नैरन्तर्य के बिना सम्भव नहीं। इसलिए जब हम कहीं परिवर्त्तन की बात कहते हैं तो उस परिवर्त्तनशीलता में किसी स्थायी तत्त्व की कल्पना अवश्य करते हैं। परिवर्त्तन की समस्त प्रक्रिया में वह वस्तु-तत्त्व सदा बना रहता है। निराधार न तो जगत् हो सकता है, न भ्रम,

न परिवर्त्तन। परिवर्त्तन के पीछे नित्य पदार्थ अवश्य होता है।[1] मेज़ की जगह कुर्सी को रख देना परिवर्त्तन नहीं कहलाएगा। उसका रंग बदल देना अथवा उसपर रैक्सीन आदि लगा देना परिवर्त्तन का द्योतक होगा। आटे की रोटी, पूरी, मठरी आदि बनाकर उसका रूपान्तर परिवर्त्तन कहलाएगा, किन्तु आटे के स्थान पर चावल रख देना आटे में परिवर्त्तन का द्योतक नहीं होगा। जगत् परिवर्त्तनशील है, क्योंकि वह सदा एक-सा नहीं रहता। किन्तु फिर भी, किसी-न-किसी रूप में उसकी सत्ता बनी रहती है। जब कार्यरूप में जगत् नहीं रहता तो वह अपने कारणरूप में अवस्थित रहता है और सर्गकाल आने पर पुनः कार्यरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्रवाहरूप से जगत् सदा बना रहता है।

**त्रिकालाबाधितं जगत् ॥४॥**

जगत् तीनों कालों में रहता है।

सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश (प्रलय) संसार की प्रक्रिया में एक प्रकार के पड़ाव हैं, क्योंकि संसार अनादिता से अनन्तता की ओर गति करता रहता है। प्रत्येक कल्प (सृष्टि की कालावधि) के प्रारम्भ में उस मूलभूत सम्मिश्रण का अनावरण होता है जो अपने अन्दर विविधता की सम्पूर्ण श्रृङ्खला को धारण करता है। भूत तथा वर्त्तमान काल के अन्दर तारतम्य बना रहता है और इसी प्रकार प्रलयावस्था तथा सृष्टि-रचना के अन्दर भी, क्योंकि प्रलय के पश्चात् सृष्टि अवश्यम्भावी है।

किसी वस्तु का हमारी आँखों से ओझल हो जाना उसका लोप होना समझा जाता है।[2] अभिव्यक्त अवस्था में आने के अनन्तर जब कोई वस्तु अपने उस रूप का परित्याग करती है, तब या तो उसका रूपान्तर हो जाता है या वह अपनी कारणावस्था में चली जाती है। अपने किसी दूसरे रूप में अवस्थित रहने पर भी वह हमारे लिए अदृश्य हो जाती है। इसी स्थिति को उस कार्यवस्तु के नाश की स्थिति कहते

---

१. According to Aristotle, identity is necessary for change. All change involves a permanent that changes. We cannot think of change without a permanent. It is this truth contained in Kant's Second Analogy of Experience. Without the permanent, no relation in time is possible.

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, p. 376

२. **अदर्शनं लोपः।**—पाणिनि

हैं।[1] यथार्थ में किसी कार्यवस्तु का सर्वात्मना नाश या अभाव नहीं होता।

शंकराचार्य स्वीकार करते हैं कि "जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता, वैसे ही कार्यजगत् भी तीनों कालों में कभी भी सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता।"[2] समझ में नहीं आता कि फिर भी शंकर जगत् को मिथ्या कैसे कहते हैं ? तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब किसी व्यक्ति को मोक्षलाभ हो जाता है तब भी संसार का अस्तित्व बराबर बना रहता है। किसी व्यक्तिविशेष के तत्त्वज्ञान से जगत् के अस्तित्व पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। तत्त्वज्ञान का स्वरूप यही है कि जो व्यक्ति अभी तक चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन समझता था वह अब दोनों की पृथक् वास्तविकता को समझ जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिए यह जगत्, जिसमें उसका अपना शरीर भी समाविष्ट है, नष्ट नहीं होता, किन्तु उसके प्रति उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। कामना से उत्पन्न अज्ञानता का भाव उस अवस्था में नहीं रह जाता। परिणामतः देह की उपस्थिति में भी उसे देह के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। मोक्ष का अर्थ जगत् का तिरोभाव नहीं है। मुक्तात्मा के लिए भले ही इस भौतिक जगत् की अब कोई उपयोगिता नहीं रह जाती, परन्तु अन्य असंख्य जीवात्माओं के भोग तथा अपवर्ग के लिए उसका चालू रहना सदा अपेक्षित है। परन्तु जहाँ जगत् नित्य परिवर्त्तनशील है वहाँ ब्रह्म सर्वथा अपरिणामी तथा निर्विकार है। इस दृष्टि से जगत् की अपेक्षा ब्रह्म उत्कृष्ट है। इसलिए, अपेक्षा से यदि ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या कह दिया जाए, तो व्यावहारिक दृष्टि से यह आपत्तिजनक नहीं होगा। तथापि यह कथन औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं।

सम्यक् ज्ञान का निरूपण अगले दो सूत्रों में किया है।

**सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् ॥५॥**

सम्यक् ज्ञान एकरूप होता है, वस्तु के आश्रित होने से।

किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान मानवीय भावना के ऊपर निर्भर नहीं करता। सम्यक् ज्ञान में मन की कल्पना के लिए स्थान नहीं रहता।

---

१. **नाशः कारणलयः।**—सां० १।८६

२. **यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति।**—शां० भा० २।१।१६

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना सत्य है। अग्नि के उष्ण होने का ज्ञान वस्तुविशेष के आश्रित होने के कारण त्रिकालाबाधित होने से सम्यक् ज्ञान कहाता है। 'अस् भुवि' धातु से निष्पन्न होने के कारण, जो पदार्थ है वह 'सत्' कहाता है। 'सते हितम्' अथवा 'सत् यत्' इस व्युत्पत्ति से 'सत्य' का अर्थ 'यथार्थ' उसके अपने स्वरूप में निहित है। पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव में पदार्थ के अपने स्वरूप का दर्शन है। इसलिए 'सत्य' शब्द 'तथ्य' एवं 'ज्ञान' का पर्यायवाची है। किसी खम्भे के विषय में यह कथन करना कि यह या तो खम्भा है, या मनुष्य, या कुछ और, इसकी सचाई को प्रकट करना नहीं है। 'यह खम्भा है'—मात्र यही यथार्थ है, यही सत्य है, क्योंकि यह वस्तु के स्वरूप के अनुकूल है। वस्तुतः वही ज्ञान जिसके विरोध में कुछ न हो, सत्य है।[1] शंकर के अनुसार जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो, वही ज्ञान कहाता है।[2] सम्यक् ज्ञान सब कालों में एक-समान रहता है, उसका प्रत्याख्यान नहीं होता। झुटपुटा होने पर टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर उसे साँप समझ बैठना अथवा मरुभूमि पर पड़नेवाली सूर्य की तीव्र किरणों के कारण बालू में जल का आभास होना सम्यक् ज्ञान नहीं है, क्योंकि प्रकाश होने अथवा समीप जाकर देखने पर हमारे पूर्वज्ञान का प्रत्याख्यान हो जाता है। न्यायदर्शन में जिसे 'अव्यभिचारी' ज्ञान कहा है, वही सम्यक् ज्ञान कहाता है। 'व्यभिचारी' ज्ञान वस्तु के आश्रित न होकर द्रष्टा के आश्रित होता है, इसलिए वह एकरूप नहीं रहता।

ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं जिन्हें नेत्रदोष के कारण एक समय में दो चन्द्रमा दिखाई देते हों। किन्तु वह सम्यक् ज्ञान नहीं है, क्योंकि वास्तव में चन्द्रमा एक है। किसी को दिखाई देने पर भी एक के अनेक चन्द्रमा नहीं बन जाते।[3] चन्द्रमा का एक दिखाई देना तदाश्रित होने से सम्यक् ज्ञान है, जबकि द्रष्टा के आश्रित होने से दो चन्द्रमा दीखना दुष्ट ज्ञान है।

---

१. **अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्।**
—भामती १।१।४

२. तुलना करें— **दयानन्द : यत् त्रिषुकालेषु न बाध्यते तत्सत्यम्।**

३. **न हि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक इव भवति।**
—शां० भा० २।१।२७

**देशकालनिमित्तयोगात्त्वन्यथा ॥६॥**

किन्तु देशकाल या निमित्त से अन्यथा (सम्यक् ज्ञान अनेक रूप होता है)।

दूध होने की अवस्था में उसके दूध होने का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, किन्तु यदि कालान्तर में वही दूध दही या पनीर के रूप में परिणत हो जाता है तो उसे दही या पनीर के रूप में जानना सम्यक् ज्ञान कहलाएगा। यही नहीं, यदि देश, काल अथवा निमित्त के कारण जो परिवर्त्तन होना चाहिए, वह दृष्टिगत नहीं होता तो उसकी यथार्थता में सन्देह हो जाता है। एक बालक को कालक्रमानुसार कुमार, युवक अथवा वृद्ध के रूप में देखकर उसे वैसा ही जानना सम्यक् ज्ञान होगा। इसके विपरीत यदि बीस वर्ष बाद भी कोई बालक वैसा ही जान पड़े जैसा हमने उसे बीस वर्ष पूर्व देखा था तो उसके सम्बन्ध में ज्ञान का एकरूप होना सम्यक् ज्ञान नहीं रहेगा। निश्चय ही वह बीस वर्ष पूर्व का बालक नहीं हो सकता, क्योंकि इस अवधि में उसमें जो परिवर्त्तन होना चाहिए था, वह नहीं है। इस प्रकार देश, काल, निमित्त की अपेक्षा से पदार्थों में परिवर्त्तन होने पर भी उनके यथार्थ होने में बाधा नहीं आती।

अगले कतिपय सूत्रों में कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विचार किया है।

**कारणानुरूपं कार्यम् ॥७॥**

कारण के अनुरूप कार्य होता है।

कारण के गुण के अनुरूप ही कार्य में गुण देखे जाते हैं। दाल को चटपटा बनाने के लिए दाल में मिर्च डाली जाती है, क्योंकि उसमें चटपटापन है। हलवे को मीठा बनाने के लिए उसमें चीनी डाली जाती है, क्योंकि चीनी में मिठास होती है। सोने का टुकड़ा मिट्टी के घड़े का कारण नहीं हो सकता, पानी में से मक्खन नहीं निकल सकता। जो गुण कारण में नहीं हैं, यदि वे कार्य में आ जाएँ तो कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी नियत कारण की अपेक्षा न हो। यह असत् से सत् की उत्पत्ति के समान होगा। किन्तु यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो सके। न यथार्थ का कारण अयथार्थ हो सकता है और न अयथार्थ का कारण यथार्थ। सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों

के स्वभाव में अन्तर है, अर्थात् कारण और कार्य एक-दूसरे से विलक्षण हैं। जगत् अशुद्ध एवं अधार्मिक है, इसलिए विशुद्ध एवं धार्मिक ईश्वर उसका कारण नहीं हो सकता। शंकराचार्य कहते हैं कि "यह आवश्यक नहीं कि जैसा अनुभव में होता है वैसा ही यहाँ भी हो,[1] क्योंकि इस विषय का ज्ञान हमें ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है।" किन्तु ऐसा लिखते हुए शंकर यह भूल जाते हैं कि अन्यत्र वह स्वीकार कर चुके हैं कि "श्रुति का उद्देश्य यह है कि वह हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करे जो साधारण साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते और उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष व अनुमान के विषय हैं, श्रुतिवाक्य अनुपयुक्त हैं।"[2] तात्पर्य यह कि श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए। वह अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वाचस्पति मिश्र का भी कहना है कि "सहस्र श्रुतिवाक्य भी घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[3]

इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए कि अनुभव के अनुसार उपादान-कारण ज्ञान-सम्पन्न नहीं हो सकता, शंकर अनुभव का ही आश्रय लेकर कहते हैं कि अचेतन पदार्थ प्रायः चेतन प्राणियों से जन्म लेते हैं, जैसे केश और नाखून चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि केश, नख आदि देह के विकार हैं। देहावयव ही केश, नख आदि के रूप में परिणत होते हैं, देह में बैठा जीवात्मा नहीं। यह ठीक है कि देह से केश, नख आदि का प्रादुर्भाव उसी अवस्था में सम्भव है जब जीवात्मा देह में बैठा रहे। इस दृष्टान्त से यही निष्कर्ष निकलता है कि जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जगद्रूप में परिणत नहीं होती। इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि चेतन तत्त्व स्वयं जगद्रूप हो जाता है।

**असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तिः ॥८॥**

कारण में अतिशय (योग्यता) न होने पर विकार अर्थात् कार्य उपपन्न नहीं होता।

किसी कार्य के प्रादुर्भाव के लिए किन्हीं नियत वस्तुओं का उपादान

---

१. **न अवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यम् ।**
और भी देखें ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त,—पृ० ९२-९३
२. **भगवद्गीता पर शां० भा० १८।६६; ब्रह्मसूत्र ३।२।२१**
३. **न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुं ईष्टे ।—भामती, प्रस्तावना**

होने से यह प्रमापित होता है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व हम उनमें नियत कार्य के उत्पाद की क्षमता स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो वस्त्र-निर्माण के लिए तन्तुओं का ग्रहण न किया जाए। फलतः कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध के लिए यह व्यवस्था है कि कारण वस्तु के न रहने पर कार्य का होना सम्भव नहीं। कार्य को उसकी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' कहना उसके अत्यन्त असत्त्व का द्योतक नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्यक्त होने से ऐसा कहा जाता है। यदि दूध में दही बनने की या मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता न हो तो कोई उनसे दही या घड़ा बनाने का प्रयास क्यों करे ? उत्पत्ति से पूर्व कारण की अपेक्षा से घड़े का केवल अवस्था-सम्बन्धी अभाव है, तात्त्विक नहीं। घड़े के बनने का ज्ञान कुम्हार की बुद्धि में सदा वर्त्तमान रहता है और कारण-तत्त्वों में कार्योत्पाद की क्षमता बराबर बनी रहती है। अतः कार्योत्पाद से पूर्व भी कारणतत्त्वों में कारण पद का प्रयोग असंगत नहीं।

यदि कारण के अनुरूप कार्य होता है, तो—

**कार्यकारणयोरनन्यत्वं मृत्पिण्डघटादिवत् ॥६॥**

पूर्वपक्ष कारण-कार्य अभिन्न हैं, मिट्टी और घड़े के समान।

कारण वह सत्ता है जिसमें कार्य गुप्तरूप से विद्यमान रहता है। अभाव किसी क्रिया का विषय नहीं हो सकता। असत् को कभी सत् नहीं बनाया जा सकता। उत्पन्न पदार्थ अपने उपादान से भिन्न नहीं होता। उत्पन्न होने से पूर्व यदि कारण में कार्य की विद्यमानता को स्वीकार न किया जाए तो हर किसी उपादान से हर एक वस्तु उत्पन्न हो सकेगी। किन्तु यह प्रत्यक्ष के सर्वथा विरुद्ध है। कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है। ऐसे पदार्थों में, जो तात्त्विक रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं, कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं हो सकता। अपने तात्त्विक रूप में मिट्टी के पात्र मिट्टी से, वस्त्र धागों से और इसी प्रकार आभूषण स्वर्ण से भिन्न नहीं हैं। कारण केवल कार्य का पूर्ववर्ती ही नहीं है, उसका निर्माणकर्त्ता भी है। यदि कारण कार्य में विद्यमान न रहे तो कार्य में दिखाई नहीं दे सकता। मिट्टी के पात्र में मिट्टी और वस्त्र में धागे बराबर बने रहते हैं। इस प्रकार कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो भिन्न रूपों को प्रकट करते हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही प्रकृति के हैं एवं कारण तथा कार्य में अनन्यत्व होने के कारण ब्रह्म और जगत् में तादात्म्य है। जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व ऐसे ही

लोगों के लिए है जो अविद्या से ग्रस्त हैं। तत्त्वज्ञानियों के लिए ब्रह्म से भिन्न जगत् की कोई सत्ता नहीं।

जैसे घटाकाश आदि का महाकाश से अनन्यत्व है और मृगतृष्णिका के जल का ऊसर आदि से अनन्यत्व है, क्योंकि दृष्ट होकर अदृष्ट हो जाता है और स्वरूप से उसका लक्षण नहीं जाना जाता, इसी प्रकार भोग्य और भोक्ता आदि वाला यह प्रपंच जगत् भी ब्रह्म के व्यतिरेक से अभावमात्र है।[1]

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कार्य-कारण के अनन्यत्व का प्रत्याख्यान आगे के तीन सूत्रों में किया है—

**न कार्यकारणविभागात् ॥१०॥**

कारण और कार्य का विभाग होने से (उनमें अनन्यत्व) नहीं।

यदि कार्य कारण के सर्वथा समान हो तो कारण और कार्य दोनों एकार्थवाची हो जाएँ। वस्तुतः 'कारण' और 'कार्य' इन दोनों का पृथक् अस्तित्व एवं उनमें अर्थभेद उनके पृथक्त्व में स्पष्ट प्रमाण है। प्रत्येक मनुष्य कारण और कार्य को पृथक्-पृथक् रूप में जानता और मानता है। कारण तथा कार्य भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं और इसलिए एक-दूसरे से भिन्न हैं। मिट्टी से उत्पन्न होने पर भी कोई घड़े को मिट्टी या मिट्टी को घड़ा नहीं कहता। घड़ा अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं होता, मिट्टी तब भी होती है। कारण की अपेक्षा कार्य अनित्य होता है। कारणरूप मिट्टी एक है, जबकि कार्यरूप घड़े, शरावे आदि अनेक नामरूपात्मक हैं। जो आकार घड़े का है वह मिट्टी का नहीं और जो मिट्टी का है वह घड़े का नहीं। कार्य के कारण में विद्यमान रहने पर भी एक ऐसी सत्ता की अपेक्षा होती है जो उसे कारणरूप से कार्यरूप में परिणत कर सके। जहाँ उपादानकारण कार्य के अन्दर प्रविष्ट होता है, वहाँ निमित्तकारण बाहर रहकर अपना कार्य करता है। निमित्तकारण की क्रिया उपादानकारणों के साथ मिलकर सहायक का कार्य करती है। यह ठीक है कि बालू में से तेल नहीं निकल सकता है, किन्तु सरसों से तेल प्राप्त करने के लिए भी उसे पेलना पड़ता

---

१. यथा घटकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं यथा च मृगतृष्णिकोदकादीना-मूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्।

—शां० भा० २।१।१४

है। इसी प्रकार चावल प्राप्त करने के लिए धान को कूटना पड़ता है और वस्त्र प्राप्त करने के लिए विशेष प्रक्रिया के अनुसार धागों का ताना बाना तैयार करके बुनना पड़ता है। यदि कारण और कार्य में अभेद या अनन्यत्व हो तो यह सब परिश्रम क्यों करना पड़े? यदि घड़ा मिट्टी से भिन्न न होता तो कुम्हार उसे बनाने क्यों बैठता?

शंकराचार्य कहते हैं कि "कार्य-कारण और द्रव्य-गुण में घोड़े और भैंसे के समान भेदबुद्धि का भाव नहीं है, अतः उनमें तादात्म्य है।[1] यह ठीक है कि कार्य-कारण अथवा द्रव्य-गुण में घोड़े और भैंसे के समान भेदबुद्धि नहीं है, किन्तु भेदबुद्धि है अवश्य। अन्यथा एक को कारण और दूसरे को कार्य अथवा एक को द्रव्य और दूसरे को गुण क्यों कहा जाता? स्वर्ण तो था ही, फिर उसका कंगन बनवाने के लिए स्वर्णकार के पास जाने की क्या आवश्यकता थी?[2] वस्तुतः कारण से कार्य कुछ-न-कुछ विलक्षण अवश्य होता है। यदि विलक्षणता न रहे तो कारण तथा कार्य में भेद न रहे। परन्तु कारण, कारण है और कार्य, कार्य, न कारण कार्य हो सकता है, न कार्य कारण। जब शंकर से कहा गया कि चेतन और शुद्ध ब्रह्म से अचेतन और अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है तो उन्हें विवश होकर कहना पड़ा कि "इस प्रकार की कुछ-न-कुछ विलक्षणता अवश्य ही रहती है।"[3] विलक्षणता के होते हुए दोनों में तादात्म्य कैसे हो सकता है?

यदि कारण और कार्य में अनन्यत्व है तो न लकड़ी और मेज़ में अन्तर है और न लकड़ी व कुर्सी में। जब दो वस्तुएँ किसी एक ही वस्तु के समान होती हैं तो वे दोनों परस्पर भी समान होती हैं। इस तर्क से मेज़ और कुर्सी समान हो गईं। किन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार कर मेज़ से कुर्सी का या कुर्सी से मेज़ का काम लेने को तैयार नहीं होगा।

इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए कि यदि कारण और कार्य में अनन्यत्व है तो कारणरूप कर्त्ता की क्रिया उद्देश्यहीन है, शंकर को कहना पड़ा कि "कर्त्ता की क्रिया का उद्देश्य यह समझना चाहिए कि वह कारण-

---

१. कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद् भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।—शां० भा० २।१।१८

२. न करणात्कार्यमभिन्नम् अभेदे कार्यत्वानुपपत्तेः।—भामती २।१।७

३. शां० भा० २।१।६

रूप द्रव्य को कार्यरूप में लाने की व्यवस्था करती है।" स्पष्ट है कि कारण-रूप से कार्यरूप में लाने की व्यवस्था इसलिए करनी पड़ी, क्योंकि वे दोनों एक नहीं थे। जब यह कहा जाता है कि जिन वस्तुओं की आकृति में परिवर्त्तन होता है वे व्यक्त होने तथा विलय होने से एक ही स्वरूप की नहीं हो सकतीं तो शंकर कहते हैं कि "बीजों से पौधों के उत्पन्न होने के समान उस पदार्थ का व्यक्त होना जो पहले से विद्यमान है, केवल परिणमनमात्र है, एवं तत्समान अवयवों के एकत्र हो जाने से सोपाधिक है; इसी प्रकार विलय भी केवल दृश्यावस्था में परिणमन का नाम है जो उन्हीं अवयवों के तिरोभाव के कारण होता है।"[1]

परिवर्त्तन हर जगह और हर एक क्षण में हो रहा है। हम एक ही जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकते, क्योंकि जल दो क्षण के लिए भी वही नहीं रहता, और यह भी सत्य है कि वही व्यक्ति उसी जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकता, क्योंकि इस बीच जैसे जलधारा में परिवर्त्तन हो गया, वैसे ही उस व्यक्ति में भी परिवर्त्तन हो गया। सब वस्तुएँ तथा अवस्थाएँ, बाह्य तथा आभ्यन्तर, इस परिवर्त्तन के विधान के अधीन हैं।[2] इसी परिवर्त्तनरूप प्रक्रिया में से मनुष्य का मस्तिष्क पूर्ववर्त्तियों तथा पश्चाद्वर्त्तियों आदि के सम्बन्ध द्वारा कार्य-कारणभाव की रचना करता है। तथापि ऐसे पदार्थों में, जो तत्त्वतः एक-दूसरे से भिन्न हैं, कार्य-कारणभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि "बीजों से पौधों के उत्पन्न होने के समान उस पदार्थ का व्यक्त होना, जो पहले से विद्यमान है, केवल परिणमनमात्र है," किन्तु यह परिणमन वस्तुतत्त्व से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि भिन्न रूप में प्रकट होने पर भी कोई द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। प्रत्येक परिवर्त्तन किसी वस्तु का तथा उस वस्तु के अन्दर का परिवर्त्तन है। परस्पर असम्बद्ध वस्तु-विषयों का केवल एक-दूसरे के पश्चात् क्रम में आना ही परिवर्त्तन नहीं कहाता। जो कुछ भी होता है वह केवल आकृति का परिवर्त्तन होता है। दही व मट्ठे के रूप में दूध की निरन्तर उपस्थिति तथा वृक्ष में बीज की स्थितिरूप निरन्तरता माननी ही पड़ती है—चाहे वह प्रत्यक्षरूप में दिखाई दे, जैसे दही की अवस्था में; अथवा न दिखाई दे, जैसे कि वृक्ष

१. शां० भा० २।१।१८
२. सांख्यप्रवचनसूत्र १।१२१

के रूप में; किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि कारण ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और कार्य सब प्रतीतिमात्र है।

निस्सन्देह कार्यजगत् परिणमनशील है, किन्तु यदि कारणरूप ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और आकाश आदि प्रपंच जगत् उसी का परिणाम अथवा विकास है तो शंकर के मतानुसार कारण व कार्य का अनन्यत्व मानने और कार्यरूप जगत् के मिथ्या होने से ब्रह्म स्वतः मिथ्या हो जाएगा। वस्तुतः कारण तथा कार्य में अनन्यत्व होने पर दोनों समानरूप से सत्य अथवा मिथ्या होंगे।

जहाँ तक घटाकाश-महाकाश आदि के अनन्यत्व-सम्बन्धी दृष्टान्तों का सम्बन्ध है, वे यहाँ स्पष्टतः असंगत हैं, क्योंकि न घटाकाश-महाकाश में कार्य-कारण-सम्बन्ध है और न मृगतृष्णिका और ऊसर में। यह कहना भी अनुभव के विरुद्ध है कि जगत् देखते ही नष्ट हो जाता है। परिवर्त्तन विनाश का पर्याय नहीं है। उपनिषदें भी जगत् को विकार तो बताती हैं, मिथ्या नहीं। इसलिए उसपर शंकराचार्य का न 'दृष्टनष्ट-स्वरूपत्व' लागू होता है, न 'स्वरूपेणानुपाख्यत्व'।

**व्यवहारासिद्धेः ॥११॥**

व्यवहार में असिद्ध होने से (कार्य-कारण में अनन्यत्व नहीं)।

उपादान कारण तथा उसका कार्य मूलतः एक होने पर भी क्रियात्मक रूप में भिन्न हैं, क्योंकि उनसे भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं। कार्यावस्था में वस्तु की जिन क्रियाओं तथा गुणों का व्यवहार किया जाता है, कारण-दशा में उनका अभाव रहता है। मिट्टी से घड़ा, सूत से कपड़ा और स्वर्ण से अंगूठी बनती है, अतः मूलतः मिट्टी व घड़ा, सूत व वस्त्र तथा स्वर्ण व अंगूठी एक हैं, तथापि मिट्टी से घड़े में, सूत से वस्त्र में और स्वर्ण से अंगूठी में विलक्षणता है। इस विलक्षणता के कारण घड़े की तरह मिट्टी में जल आदि नहीं भरा जा सकता। इसी प्रकार न सूत से धोती या कुर्ते का काम लिया जा सकता है और न सोने की डली को अंगूठी की तरह पहना जा सकता है। विशेष प्रक्रिया के द्वारा रख देने से दूध दही में परिणत हो जाता है। वही दूध पीने-वाले के पेट में पचकर रक्त बन जाता है, परन्तु क्या कारणरूप दूध का कार्यरूप दही और रक्त से अनन्यत्व मानकर एक से दूसरे का अर्थात् दही से दूध का अथवा रक्त से दूध या दही का काम लिया जा सकता है? गाय के पेट में जाकर घास का दूध बन जाता है। दूध को घास

का विकार मानकर भी कोई मनुष्य दूध की जगह घास खाने को तैयार नहीं होगा। दूध खट्टा हो जाने पर दूध ही रहता है, फिर भी कोई उसे पीना नहीं चाहता। अद्वैतवाद कार्य-कारण के जिस अनन्यत्व का प्रतिपादन करता है, वह यथार्थ का सामना होते ही नष्ट हो जाता है।

**सत्यासत्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेश्च ॥१२॥**

और सत्य व मिथ्या अर्थों में तादात्म्य उपपन्न न होने से (कार्य-कारण में अनन्यत्व नहीं)।

यदि मिट्टी के रूपान्तर उसके कार्य होने से मिथ्या हैं और रूपान्तरों के पीछे मिट्टी ही यथार्थ वस्तु है तो कार्य-कारण में अनन्यत्व होने से यह यथार्थ एवं अयथार्थ का अर्थात् सत्य और मिथ्यात्व का तादात्म्य होगा जो किसी प्रकार सम्भव नहीं। प्रकाश तथा अन्धकार में तादात्म्य-भाव नितान्त असम्भव है। यह निश्चित है कि जो लोग कार्य को कारण से भिन्न नहीं मानते, इस आधार पर कि कार्य अयथार्थ है, वे जिस अभेद की स्थापना के लिए प्रयास करते हैं, उसे सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि सत्यरूप सत्ता और मिथ्यात्व में कभी तादात्म्य नहीं हो सकता। यदि हो सके तो या तो ब्रह्म को मिथ्या मानना होगा या जगत् को यथार्थ। अद्वैतवादी यह नहीं मानता कि समस्त परिवर्त्तनों से रहित ब्रह्म अपने यथार्थरूप में तथा परिवर्त्तनशील जगत् एक हैं। वह यह भी नहीं कहता कि वह ब्रह्म, जो परिवर्त्तनशील जगत् को धारण करता है, स्वयं में भी वैसा ही अयथार्थ है, जैसाकि यह जगत् अयथार्थ है। उसकी मान्यता है कि आनुभविक प्रतीतिरूप जगत् अयथार्थ है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न उसका कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं है। यदि दुर्जनतोषन्याय से कारण तथा कार्य के अनन्यत्व के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह कैसे सम्भव है कि कारणरूप ब्रह्म तो सत्य हो और यह आनुभविक जगत् जो तात्त्विक रूप में ब्रह्म है और जिसकी ब्रह्म से अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं, मिथ्या हो। यह तो वदतोव्याघात के समान होगा। तादात्म्य के लिए दो वस्तुओं का सर्वथा समान होना अनिवार्य है। इसलिए यथार्थ (ब्रह्म) एवं अयथार्थ (जगत्) में किसी भी अवस्था में तादात्म्य सम्भव नहीं।

कहाँ परब्रह्म परमात्मा और कहाँ यह तुच्छ जगत्! यजुर्वेद में कहा है कि "उस ब्रह्म का एक भाग समस्त भूत हैं और तीन भाग दिव्यलोक में हैं। वह ब्रह्मपुरुष अपने तीन भागों से जगत् के बाहर या ऊपर है

ग्रौर एक भाग यहाँ है।"[१] यह गणित की नहीं, उपचार की भाषा है। ईश्वर निरवयव एवं ग्रखण्ड है, इसलिए एक पाद या तीन पाद का यह तात्पर्य नहीं कि ईश्वर के चार पाद या चार भाग हैं जिनमें से एक पाद सृष्टि है ग्रौर तीन पाद द्युलोक। संस्कृत ग्रथवा वैदिक साहित्य में किसी वस्तु का चतुष्पाद कहा जाना उसके पूर्णत्व का द्योतक है, जैसे ग्राजकल किसी बात को सोलह ग्राने सही बताना उसके पूरी तरह सत्य होने का विश्वास प्रकट करना है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को भी पूरी तरह नहीं देख पाता, उसके केवल एक ग्रंश का ही प्रत्यक्ष कर पाता है। किन्तु इस थोड़े-से ग्रंश से ही चमत्कृत होकर उसके स्रष्टा की ग्रनन्तता का ग्राभास या उसकी झलक पा लेता है। इतना विशाल जगत् उसके स्रष्टा की तुलना में ग्रत्यन्त तुच्छ है—सागर की तुलना में एक बूँद के समान ग्रथवा हिमालय की तुलना में एक रजकण के समान। दोनों में—एक पाद ग्रौर तीन पाद में—तादात्म्य की बात करना सर्वथा हास्यास्पद है।

शंकर का मत है कि जगत् के ब्रह्म का कार्यरूप होने से ब्रह्म तथा जगत् का ग्रनन्यत्व है[२] ग्रौर धर्मशास्त्र में दिये गये सृष्टिविषयक विवरण का उद्देश्य ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर तादात्म्य सिद्ध करना है।[३] ग्राप्त पुरुषों में मनु सर्वोपरि हैं[४] ग्रौर मनु के ग्रनुसार शास्त्रों में सर्वोपरि प्रामाण्य वेदों का है।[५] सामवेद में जिन शब्दों में जगत् का ब्रह्म से भिन्न होना कहा है, उसे देखने के बाद शंकर का वचन सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाता है। वहाँ लिखा है—"सर्वप्रेरक परमेश्वर ने उस जगत् को उत्पन्न किया जो उससे पृथक् है।"[६]

वस्तुतः नश्वर परिणामी जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रमाण ग्रथवा युक्ति से सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म ग्रौर जगत् का स्वरूप प्रकाश तथा ग्रन्धकार के समान परस्पर भिन्न है। जहाँ जगत् जड़ ग्रादि धर्मों से युक्त है, वहाँ ब्रह्म चेतन, ग्रविनाशी, ग्रपरिणामी रहता हुग्रा उसका

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।—यजु० ३१।३,४

२. ग्रतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वम्।—शां० भा० २।१।२०

३. एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वात्।—शां० भा० ४।४।१४

४. यत्किञ्चिद्वै मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः।—ताण्ड्यमहाब्राह्मण

५. धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।—मनु० २।१३

६. प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक्।—साम० उत्तर० ८।१७।१ (१७५८)

नियन्ता है। नियन्ता और नियम्य का अनन्य होना सम्भव नहीं। न तो जगत् मिथ्या या अभावरूप है और न ब्रह्मरूप। ब्रह्म तथा जगत् दोनों अपनी-अपनी जगह सत्य हैं। कार्य-कारण के अनन्यत्व के शब्दजाल में फँसकर तर्काभास के आधार पर एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या बताकर वास्तविकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। फलतः यह कहना अप्रामाणिक है कि एकमात्र ब्रह्म की सत्ता सत्य है, अन्य सब मिथ्या है।

जगत् की यथार्थता सिद्ध करने के लिए हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा है—

**न सदसतोर्योगः ॥१३॥**

सत् और असत् का योग नहीं हो सकता।

किसी भी सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदार्थों की पूर्वकल्पना आवश्यक है। 'सम्बन्ध' शब्द में ही कम-से-कम दो सत्ताओं का भाव निहित है। यदि ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध है तो उन्हें दो सत्ताएँ मानना होगा। सत्=यथार्थ का असत्=अयथार्थ से सम्बन्ध होना कल्पनातीत है। स्वयं शंकर की स्पष्ट घोषणा है कि "दो सत्पदार्थों के बीच ही सम्बन्ध सम्भव है—न सत् और असत् के बीच और न दो असत् पदार्थों के बीच।"[1] जगत् किसी-न-किसी प्रकार से अस्तित्व रखता है, इसीलिए ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध माना गया है।[2] अद्वैतमत के अनुसार जगत् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है।[3] शंकर कार्य-कारणत्व के वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा 'अनन्यत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त में भेद करते हैं। ब्रह्म और जगत् के अनन्य होने पर दोनों के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। केवलमात्र ब्रह्म के सत् तथा जगत् के असत् (प्रतीतिमात्र) होने से भी, सत् व असत् के बीच सम्बन्ध सम्भव न होने से, किसी प्रकार के सम्बन्ध की

---

१. **सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति, न सदसतोरसतोर्वा।**—शां० भा० २।१।१८
**न हि सदसतोः सम्बन्धः।**—माण्डूक्य पर शां० भा० २।७

२. **जन्माद्यस्य यतः।**—वे० द० १।१।२;
**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव।**—ऋ० १०।१२९।६
**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।**—तैत्ति० ३।१

३. **अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वम्।**—शां० भा० २।१।२०

कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में न तो ब्रह्म जगत् की वस्तुओं का पुंजमात्र है और न वह जगत् के परिवर्त्तनों के अधीन है। तब दोनों में तादात्म्यभाव कैसे सम्भव है?

शंकराचार्य गौडपाद के 'अजाति' अथवा अविकास-सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। तदनुसार यह जगत् न तो विकसित हुआ है और न ही उत्पन्न हुआ है—वह केवल ऐसा प्रतीत होता है।[1] किन्तु 'कर्त्तृत्व-मनुपपत्तेः' (१।१।४) लिखकर भी ब्रह्मसूत्र (१।१।२) के भाष्य में जब वे कहते हैं—"श्रुतिनिर्देशस्तावत्—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३।१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्" तो वह जगत् की उत्पत्ति और उसके विकास आदि को स्पष्टतः स्वीकार करते दीख पड़ते हैं। ब्रह्मसूत्र (४।४।१७) के भाष्य में मुक्तात्माओं की स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने मुक्तात्माओं के सहयोग के बिना ईश्वर द्वारा जगत् की उत्पत्ति आदि का स्पष्ट उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, शंकर के मत में सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाला है।[2] पहले सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १।१।१) के द्वारा उत्पन्न जिज्ञासा का यह समाधान कैसे उचित ठहराया जा सकता है कि ब्रह्म का परिचय यह कहकर कराया जाए कि वह ऐसे जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण है जिसकी वास्तव में कोई सत्ता नहीं है—जिसकी रचना आदि मात्र प्रवंचना है।

क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही यथार्थसत्ता है, इसलिए ब्रह्म से अतिरिक्त जो कुछ है सब मिथ्या है।[3] 'ब्रह्म से भिन्न' शब्दों से यह तो स्पष्ट है कि ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ 'है' अवश्य। जो 'है' वह 'था' भी अवश्य, क्योंकि न होता तो कहाँ से हो जाता।[4] इसी प्रकार जो 'है' वह 'होगा'

---

१. **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न साधकः।**
**न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**
—माण्डूक्य पर गौडपादीय कारिका, वैतथ्य प्रकरण ३२
**न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा।**
—कारिका पर शां० भा०

२. **सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्।**
—शां० भा० १।२।६

३. **ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्।**—वेदान्त परिभाषा

४. **कथमसतः सज्जायेत्** (छां०) **नासतो विद्यते भावः** (गीता) **नावस्तुनो सिद्धिः**
—सा०

भी अवश्य, क्योंकि जो है उसका नाश नहीं हो सकता[1] और जो इस प्रकार तीनों कालों में विद्यमान है, वह नित्य है और जो नित्य है वह यथार्थ है।[2] यथार्थ वह है जो काल की गति में आकर भी रूपादि के परिवर्त्तन से किसी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता।[3] जो सदा से है, सदा रहेगा वह सत् है और सद्ब्रह्म से उसका सम्बन्ध भी नित्य है। जगत् प्रवाह से अनादि है, इसलिए अनन्त है। वह परिवर्त्तनशील है। परन्तु जगत् सदा जगत् ही रहता है, ब्रह्म कभी नहीं बनता।

**आरम्भकपरिणामविवर्त्तभेदात्त्रिविधमुपादानत्वम् ॥१४॥**

आरम्भक, परिणाम तथा विवर्त्त भेद से उपादान के तीन रूप हैं।

उपादानकारण से कार्य उत्पन्न करने के विषय में तीन मत या वाद प्रचलित हैं—आरम्भकवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद। कई वस्तुओं से मिलकर किसी वस्तु के बन जाने को आरम्भकवाद कहते हैं, जैसे-बहुत-सी ईंटों से मिलकर घर बन जाना। एक वस्तु का दूसरी में रूपान्तर हो जाना परिणाम कहाता है, जैसे—मिट्टी से घड़ा बन जाना और सुवर्ण से आभूषण बन जाना। किसी वस्तु का अपने स्वरूप में रह-कर भी कुछ-का-कुछ प्रतीत होना विवर्त्त कहाता है, जैसे—रज्जु का सर्प अथवा सीप का चाँदी प्रतीत होना। इनमें 'आरम्भक' तथा 'परिणाम' वस्तुओं में अपनी अपेक्षा से होते हैं, जबकि विवर्त्त केवल द्रष्टा अथवा ज्ञाता की अपेक्षा से होता है। कार्य तथा कारण शब्दों का तात्त्विक प्रयोग आरम्भक तथा परिणाम की दशा में ही किया जा सकता है। विवर्त्त वस्तुतः कार्य नहीं है। वह एक प्रकार का भ्रम है जिसका कार्य-कारण-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। आटे से बनी रोटी सबके लिए रोटी है, किन्तु रज्जु से बना सर्प सबको सब समय सर्प नहीं दीख पड़ता। जो काम आटे से लिया जा सकता था वह उससे रोटी बन जाने पर नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह अब आटे के रूप में नहीं रहा। परन्तु सर्प के रूप में प्रतीयमान रज्जु से रज्जु का काम लिया

---

१. **नाभावो विद्यते सतः** (गीता) **नाशः कारणलयः**—सां० १।८६

२. **त्रैकालिकाद्यबाध्यत्वम्।**

३. **यत्तु कालान्तरेणाऽपि नान्यां संज्ञामुपैति वै।**—विष्णुपुराण २।१३।१००

तुलना करें—क्रिश्चियन मार्ग के शब्दों में—

As it was in the beginning, is now, and ever shall be, world without end.

जा सकता है, क्योंकि जैसे आटे की रोटी बन गई, वैसे रज्जु का सर्प नहीं बना। आटा और रोटी दोनों यथार्थ हैं, किन्तु विवर्त्त में रज्जु यथार्थ है, सर्प वहाँ भ्रम या प्रतीतिमात्र है। प्रतीति में कारणरूप होने अथवा विवर्त्त का आधार होने से ही रज्जु आदि को उपादान कह दिया जाता है।

अगले दो सूत्रों में परिणामोपादान का विवेचन किया है।

**तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः ॥१५॥**

किसी वस्तु का तत्त्वतः रूपान्तर होना परिणाम है।

जब कारण स्वयं कार्यरूप में परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है तो वह परिणामोपादान कहाता है। जब दूध दही का रूप धारण करता है अथवा मिट्टी से घड़ा आदि बनते हैं तो उसे परिणाम अथवा परिवर्त्तन कहते हैं। परिणाम सदा जड़ पदार्थों में होता है। फलतः जड़ जगत् का उपादानकारण जड़तत्त्व होना चाहिए जिसे वैदिक साहित्य में प्रकृति, स्वधा, त्रिधातु, अदिति आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। जो भौतिक जगत् को प्रकृति का परिणाम नहीं मानते उनकी दृष्टि में जगत् ब्रह्म का परिणाम है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त मानते हुए भी वेदान्तसूत्रों का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने अनेकत्र (२।१।२४; २।१।२६) जगत् को ब्रह्म का परिणाम लिखा है।

**परिणामो नाम समसत्ताककार्यापत्तिः ॥१६॥**

परिणाम में एक तत्त्व से दूसरा तत्त्व यथार्थरूप में अभिव्यक्त होता है, अतएव परिणाम की अवस्था में कारण और कार्य दोनों यथार्थता के ही समान भाव से रहते हैं। नामरूपात्मक परिवर्त्तन होने पर भी मिट्टी और घड़ा दोनों समान रूप से यथार्थ हैं।

उपादान कारण का कार्य से सम्बन्ध बताते हैं—

**सजातीयकार्यजनकत्वमुपादानत्वम् ॥१७॥**

अपने समान कार्य को उत्पन्न करना उपादानत्व है।

उपादान कारण वह होता है जो अपने ही समान पदार्थ को उत्पन्न करता है। किसी भी प्रकार यह सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा विपरीत गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो जाए। विवर्त्त-उपादान की अवस्था में भी रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, घोड़े का नहीं,

क्योंकि रज्जु और सर्प में कुछ बातों में समानता है, अतएव जड़ जगत् का उपादान जड़ प्रकृति है। उसी से ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् की रचना करता है।

जगत् का जड़ होना प्रत्यक्ष है और ब्रह्म का चेतन होना निर्विवाद है। चेतन का जड़ परिणाम न होने से ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकता। अगले सूत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

**न जगद्रूपं ब्रह्म चेतनादचेतनोत्पत्त्यसम्भवात् ।।१८।।**

चेतन से अचेतन की उत्पत्ति असम्भव होने से ब्रह्म जगद्रूप नहीं।

शास्त्र में चेतन तथा अचेतन के भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि विश्व में दो प्रकार के तत्त्व हैं—नित्य और विकारी, आश्रय और आश्रित, व्यक्त और अव्यक्त, चेतन और अचेतन, सत्य और अनृत।[1] यह वर्णन चेतन ब्रह्म से अचेतन तत्त्वों को पृथक् बता रहा है। चेतनता और प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की यथार्थता को प्रस्तुत करती हैं। एक को दूसरे में परिणत नहीं किया जा सकता। जोड के अनुसार सृष्टि में एक से अधिक तत्त्व हैं। चित् और अचित् दोनों तात्त्विक हैं। कोई एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं होता।[2] चेतन तत्त्व अपरिणामी होता है। वह न किसी पदार्थ का उपादान होता है और न स्वयं किसी का कार्य। चेतन तत्त्व में किसी प्रकार की विक्रिया सम्भव नहीं। समस्त विकारी विश्व अचेतन है अतएव वह किसी अचेतन मूल उपादान-तत्त्व का ही परिणमित रूप है। चेतन तत्त्व को परिणामी मानने पर चेतन-अचेतन का भेद जाता रहेगा। इसलिए उपादानभूत चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

कोई वस्तु अपने स्वरूप का त्याग नहीं कर सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जगत् का जड़ होना सिद्ध है। ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले भी उसे जड़ मानते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के चेतनस्वरूप होने में किसी को शंका नहीं है। अपने-अपने स्वरूप में ब्रह्म की अपनी सत्ता

---

१. **सच्च त्यच्च। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयञ्चानिलयञ्च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च ॥**—तैत्ति० २।६

२. The universe is or contains more than one kind of thing. Both life and matter are real in the sense that neither can be derived from the other.
—C. E. M. Joad : Guide to Modern Thought, P. 126

है, जगत् की अपनी। मूलतः पृथक् इन सत्ताओं को एक नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। चैतन्य ब्रह्म की कोई अवस्था नहीं, प्रत्युत स्वरूप है। इसके विपरीत जगत् का स्वरूप अचैतन्य है। एक बुद्धिसम्पन्न तत्त्व ऐसी सामग्री में परिणत नहीं हो सकता जिससे जड़ जगत् का निर्माण हो सके, क्योंकि आत्मा प्रकृति के परमाणुओं में नहीं बदल सकती। इसलिए अचेतन जगत् चेतन ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता, वह अचेतन प्रकृति का ही परिणाम है।

यदि जड़ चेतन और चेतन जड़ हो सकता तो सम्भव है, चेतन ब्रह्म जड़ जगत् के रूप में परिणत हो जाता। पर ऐसा दृष्टान्त लोक में उपलब्ध नहीं होता। किसी भी चेतन तत्त्व को, जो निमित्तकारण है, उपादानकारण के रूप में परिवर्त्तित होते नहीं देखा जाता। कपड़ा सूत से बनता है, मेज़ लकड़ी से और मकान ईंटों से। कभी किसी ने जुलाहे को वस्त्र के रूप में, बढ़ई को मेज़ के रूप में या राज को मकान के रूप में परिणत होते नहीं देखा। इसलिए ब्रह्म को जगद्रूप कहना अथवा उसे चेतन-अचेतन समस्त विश्व का उपादान बताना सर्वथा निराधार है।

अनुभव के आधार पर जब यह कहा जाता है कि उपादान कारण ज्ञानसम्पन्न नहीं हो सकता, तो शंकर कहते हैं कि "यह आवश्यक नहीं कि यहाँ भी वैसा हो जैसा अनुभव में होता है, क्योंकि इस विषय का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है, अनुमान के द्वारा नहीं।"[1] परन्तु, जैसा कि पहले प्रमाणित किया जा चुका है, वही शंकर अन्यत्र[2] स्वीकार करते हैं कि श्रुति को अनुभव का अतिक्रमण न करके उसके अनुकूल होना चाहिए। यह 'वदतोव्याघात' है। परन्तु शंकर के ग्रन्थों में तो 'वदतोव्याघात' की भरमार है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यावत् हैं'[3] और उसी अध्याय में कुछ आगे चलकर कह देते हैं कि 'ज्ञान (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों से होता है'।[4]

यदि चेतन ब्रह्म जगद्रूप में प्रतिभासित होता है तो किसके लिए? जब ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थसत्ता है तो ब्रह्म में जगत् के आभास का आश्रय ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। किन्तु, क्या सर्वज्ञ-

---

१. न अवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यम्।
२. ब्र० शां० भा० ३।२।२१; गीता भाष्य १८।६६
३. अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि।—शां० भा० १।१।१
४. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्।—शां० भा० १।४।४

सर्वशक्ति ब्रह्मतत्त्व के विषय में भ्रम की कल्पना की जा सकती है ? यदि चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का कारण है तो प्रश्न उपस्थित है कि चेतन-तत्त्व जड़ रूप में कैसे परिणत हो जाता है ? इसका समाधान यह कह-कर करने की चेष्टा की जाती है कि प्रकृतिरूप जड़मूल भी तो अदृश्य अथवा अव्यक्त है। जैसे यह अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है, वैसे ही चेतन से जड़ हो जाता है। परन्तु यह समाधान सर्वथा असंगत है। अव्यक्त से व्यक्त होना केवल एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होना है। उस प्रक्रिया में कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती। प्रकृति जब अव्यक्त से व्यक्त दशा में आती है तो उसका जड़ स्वरूप बना रहता है किन्तु यदि ब्रह्म, जो चेतनस्वरूप है, जगद्रूप में परिणत होता है तो उसे अपने चेतन स्वरूप का परित्याग करके जड़रूप होना पड़ता है। किन्तु कोई तत्त्व किसी भी अवस्था में अपने स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकता। यह भी सम्भव है कि उसका सर्वथा नाश हो जाए। जड़ जगत् का ब्रह्म का परिणाम होना, किसी प्रमाण के उपलब्ध न होने से, सर्वथा असंगत है।



चेतन तत्त्व का जड़ परिणाम मानने पर जड़ तत्त्व का चेतन परि-णाम मानने पर भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में अद्वैत-वादी और चार्वाक एक ही स्तर पर आ जाते हैं। जैसे शंकर ने प्रकृति-रूप उपादान-तत्त्व को न मानकर एकमात्र चेतन-तत्त्व से जड़-चेतन-जगत् की उत्पत्ति की स्थापना की, वैसे ही चार्वाक (बृहस्पति) ने चेतन-तत्त्व की सत्ता को नकारते हुए केवल जड़ उपादान-तत्त्व से जड़-चेतन-रूप समस्त विश्व की उत्पत्ति की घोषणा की। सिद्धान्ततः दोनों ही अद्वैतवादी हैं, क्योंकि सृष्टि के मूलतत्त्व के रूप में दोनों एक ही पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं—एक उसे 'चेतन' मानता है, दूसरा 'जड़'। वस्तुतः आचार्य शंकर की यह मान्यता सर्वथा असंगत है कि मूल में एकमात्र चेतन-तत्त्व है और वही जड़-चेतन समस्त विश्व का उपादान कारण है।

अद्वैतवादी इसके उत्तर में कहता है—

**चेतनादचेतनोत्पत्तिः केशनखादिवत् ॥१९॥**

चेतन से अचेतन की उत्पत्ति (सम्भव है) केश नख आदि के समान।

संसार में चेतन से अचेतन की उत्पत्ति होती देखी जाती है।[1] उपनिषदों में उपलब्ध कतिपय दृष्टान्तों के आधार पर आचार्य शंकर ने चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान सिद्ध करने का प्रयास किया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि जैसे "मकड़ी जाला बनाती है और जैसे पुरुष से केश-नख आदि प्रकट होते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से इस जगत् की उत्पत्ति होती है।[2] मकड़ी और पुरुष दोनों चेतन हैं तथापि उनसे जड़ तन्तुजाल तथा केशनखादि का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे ही चेतन ब्रह्म से समस्त जड़ चेतन विश्व का प्रादुर्भाव होता है। यही नहीं, जैसे चेतन ब्रह्म से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही अचेतन गोबर से बिच्छू, गुबरैला आदि चेतन जीवों की भी उत्पत्ति होती है।[3] इसलिए अद्वैतमत में ब्रह्म से ही सब भूतों की उत्पत्ति मानी गई है।

अगले सूत्र में इस भ्रान्ति का निवारण किया है।

**न अचेतनादचेतनोत्पत्तेर्दर्शनात् ॥२०॥**

नहीं, अचेतन से अचेतन की उत्पत्ति देखे जाने से [यह दृष्टान्त ठीक नहीं]।

शरीर से संयुक्त जीवात्मा का नाम पुरुष है—अर्थात् 'पुरुष' पद का अर्थ सजीव देह है। केश, नख आदि देह के विकार हैं, देह में अधिष्ठित जीवात्मा के नहीं। मकड़ी का जाला उसके देह का परिणाम है, चेतन आत्मा का नहीं। मकड़ी के देह के अवयव तन्तुजाल के रूप में परिणत होते हैं, देह में बैठे चेतन आत्मतत्त्व का स्वतःपरिणाम तन्तुजाल नहीं होता। इसी प्रकार केश-नखादि भी देह के विकार हैं, स्वयं चेतन आत्मा केश-नख आदि के रूप में परिणत नहीं होता। इस प्रकार इन दृष्टान्तों से अचेतन से अचेतन की उत्पत्ति सिद्ध होती है, चेतन से अचेतन की नहीं। इसी प्रकार यह भौतिक जगत् ब्रह्म के देहस्थानीय प्रकृति का परिणाम है, चेतन ब्रह्मतत्त्व का नहीं। मुण्डक-

---

१. **दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां नखादीनामुत्पत्तिः।**—शां० भा० २।१।६

२. **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥**—मुण्डक० १।१।७

३. **अचेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्।**—शां० भा० २।१।६

४. **परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा।**
—शां० भा० १।१।२२

उपनिषद् के विवेच्य सन्दर्भ में 'अक्षर'-पद प्रकृति का वाचक है—यह अन्यत्र स्पष्टतः प्रमाणित किया जा चुका है। परन्तु जैसे मकड़ी और पुरुष के देह में चेतन आत्मतत्त्व के सहयोग से उसकी प्रेरणा व संकल्प के अनुसार देहावयव तन्तुजाल और केश आदि के रूप में परिणत होते हैं, वैसे ही, यद्यपि जड़ जगत् ब्रह्म के देहस्थानीय प्रकृति का परिणाम है, तथापि जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की प्रेरणा तथा उसके संकल्प व सहयोग के बिना स्वतः जगद्रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकती।

बिच्छू आदि को गोमय का विकार कहना अपने आपको धोखा देना है। बिच्छू उसके देहविशेष और उसमें अधिष्ठित आत्मतत्त्व के संयुक्त पदार्थ का नाम है। गोमय का विकार बिच्छू का देह हो सकता है या उसका आत्मा। यदि देह है तो यह जड़ से जड़ की उत्पत्ति होना है। तब यह वैलक्षण्य का दृष्टान्त नहीं बनता। यदि चेतन आत्मतत्त्व भी गोमय का विकार है तो यह चार्वाक के सिद्धान्त (जड़ से चेतन की उत्पत्ति) को स्वीकार करना है। किन्तु जैसाकि अन्यत्र पहले ही सिद्ध किया जा चुका है, यह असम्भव है। इन दृष्टान्तों के गूढार्थ को न समझने के कारण ही चेतन से अचेतन की उत्पत्ति का भ्रम हो जाता है। वास्तव में न जड़ से चेतन की उत्पत्ति सम्भव है, न चेतन से जड़ की।

इन युक्तियों से बाधित होकर आचार्य शंकर ने इस जड़ जगत् को भी अविभावित रूप में चेतन घोषित कर दिया[1] और अपने पक्ष के समर्थन में शास्त्र-वचनों को उद्धृत किया। इस मान्यता को सूत्रबद्ध करके अगले सूत्र में इसका प्रत्याख्यान किया है—

**चेतनत्वं प्रकृतेः शब्दात् ॥२१॥**

शब्द-(शास्त्र)-प्रमाण से प्रकृति चेतन है।

पृथिवी आदि में जड़ता से विलक्षण धर्म की प्रतीति शब्दप्रमाण से सिद्ध है। इससे जगत् ब्रह्म के समान चेतन प्रमाणित होता है और चेतन होने से उसे चेतन ब्रह्म का परिणाम माना जाना चाहिए। शतपथ-ब्राह्मण में कहा 'मृदब्रवीत्' (६।१।३।४) मिट्टी बोली, 'आपोऽब्रुवन्' (६।१।३।२) जल बोले। उपनिषदों में तो ऐसे अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। केनोपनिषद् में अग्नि, वायु आदि का यक्ष से संवाद प्रसिद्ध है।

---

१. शां० भा० २।१।६

बृहद्० (६।१।७) में कहा है—"ते इमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः" वे प्राण अपने बड़प्पन के लिए झगड़ते हुए ब्रह्म के पास गये। वहीं अन्यत्र (१।३।२) कहा है—"ते वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद्गायत्" देवों ने वाणी से कहा—तू हमारे लिए उद्गान कर। वाणी ने कहा—ऐसा ही होगा, तब वाणी ने देवों के लिए उद्गान किया। 'बोलना', 'गाना', 'जाना', 'झगड़ना' आदि पृथिव्यादि जड़ पदार्थों के धर्म नहीं हैं। इस प्रकार के क्रियापदों का प्रयोग उनके चेतन होने पर ही सम्भव है। पृथिवी, जल, वाक्, प्राण आदि के ये धर्म जड़ प्रकृति से विलक्षण हैं, अतएव इनका प्रादुर्भाव उपादानभूत चेतन ब्रह्म से ही माना जाना चाहिए, जड़ प्रकृति से नहीं।

**तत्त्वौपचारिकम् ॥२२॥**

ये तो औपचारिक कथन हैं।

चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान है, अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए—कारण और कार्य में सारूप्य दिखाने की भावना से—जड़ जगत् को चेतन बताना दुराग्रह ही कहा जाएगा। चार्वाक (बृहस्पति) चेतन तत्त्व का निषेध करते हुए समस्त विश्व को प्रकृति का विकार मानते हैं। उनके मत में चैतन्य भी जड़ का परिणाम है। इसी प्रकार शंकर चेतन से तो जड़ की उत्पत्ति मानते ही हैं, गोबर से उत्पन्न बिच्छू का दृष्टान्त प्रस्तुत करके जड़ से चेतन की उत्पत्ति होना भी स्वीकार करते हैं। दोनों अद्वैतवादी हैं, क्योंकि दोनों ही एक से अधिक तत्त्व का निषेध करते हैं और एक ही तत्त्व से जड़-चेतनरूप समस्त जगत् का प्रादुर्भाव मानते हैं। इस प्रकार जिस अर्थ में चार्वाक नास्तिक हैं, उसी अर्थ में शंकर भी हैं।

जगत् का चेतन होना प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। जगत् अपने स्वरूप जड़ता और त्रिगुणात्मकता का परित्याग नहीं कर सकता। कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अनुरूप होता है। उन दोनों के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। यदि जगत् का उपादान प्रकृति है तो उसके स्वरूप—जड़ता व त्रिगुणात्मकता का परित्याग पृथिवी आदि कार्यों में नहीं होना चाहिए। सन्दर्भान्तर्गत उदाहरणों में 'मृदब्रवीत्'-'आपोऽब्रुवन्' आदि कविसमय के प्रयोग हैं। अर्थ के प्रतिपादन को सरस बनाने के लिए आलंकारिक रूप में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के वाक्यों में पृथिवी

आदि के बोलने का वर्णन केवल कल्पनामूलक है जो किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। इससे पृथिवी आदि का चेतन होना सिद्ध नहीं होता।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (अष्टा० ३।१।७) के भाष्य में 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' सारे पदार्थों में चेतनवदुपचार मानकर 'शृणोत ग्रावाण' (पत्थर सुनें) यह उदाहरण दिया है। इतना ही नहीं **'दामहायन्ताच्च'** (अष्टा० ४।१।१७) के भाष्य में तो 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः' स्पष्ट ही लिख दिया है जिससे इस प्रकार के वर्णनों का औपचारिकत्व सिद्ध है। प्रकृत विषय में शबरस्वामी ने अपने मीमांसा-भाष्य (पृष्ठ १५५-५६) में लिखा है कि "वेद में चेतनों के सादृश्य से अचेतनों में चेतनवद् व्यवहार होता है। सम्बोधन आमन्त्रण आदि होने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये चेतन हो गये।"[1]

मुण्डन-संस्कार के अवसर पर जब बालक का पिता उस्तरे को लक्ष्य करके कहता है—**'स्वधिते मैनं हिंसीः'** तो वह उस्तरे में चेतनता का आरोप करके वास्तव में उस्तरे से नहीं, 'तत्सहचरितोपाधि' से उस्तरा लिये हुए नाई से बात करता है। मचान जड़ होते हैं, तथापि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' प्रयोग प्रसिद्ध है। वहाँ भी 'तात्स्थ्योपाधि' से 'मञ्चाः' का अर्थ 'मञ्चस्थपुरुषाः' किया जाता है। संस्कृत का एक कवि अन्योक्ति (अलंकार) के द्वारा चन्दन के वृक्ष को सुनाकर कहता है—

**लोकानन्दनचन्दनद्रुमसखे नास्मिन् स्थीयताम्।**
**दुर्वंशैः परुषैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद्वनम्॥**

चन्दन का वृक्ष न किसी की बात सुनता है, न कुछ अनुभव करता है। उसके माध्यम से किसी सज्जन पुरुष को दुर्जनों के स्वभाव से परिचित कराकर उनसे दूर रहने की प्रेरणा करना ही कवि को अभीष्ट है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में इस प्रकार के आरोप का अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण वर्णन मिलता है। मन में पापवासना का उदय होने पर

---

१. **यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति। ओषधे त्रायस्वैनमिति। शृणोत ग्रावाण इति। यत्राचेतनाः सन्ता ग्रावाणोऽपि शृणुयुः किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति।**

कोई सत्यसंकल्प व्यक्ति उसे किस प्रकार मार भगाये—यह बताने के लिए मन्त्र में कहा है—

**परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।**
**परे हि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ।।**

अथर्व० ६।४५।१

अर्थात्—अये मन की पापवासना ! दूर हो। क्यों तू मेरे सामने निन्दनीय कर्मों की प्रशंसा कर रही है। परे हट, मैं तुझे नहीं चाहता। मेरा मन तो घरेलू कामकाज में और सद्विचारों में रम रहा है। जा, कहीं जंगलों में जाकर अपना शिकार ढूंढ।

पापवासना चेतन नहीं, पर उस भावना को आश्रय देनेवाला चेतन है। इसलिए वह उसे चेतन के रूप में सम्बोधित करके अपने शिवसंकल्प की ओर, मनोवैज्ञानिक स्तर पर, उसे सुदृढ़ करने के लिए अपना मनोभाव व्यक्त कर रहा है।

जिस प्रकार अचेतनों में चेतनवत् व्यवहार होता है, वैसे ही पंचतन्त्र आदि कथासाहित्य में तिर्यक् तथा व्यक्तवाक् प्राणियों में मनुष्यवत् व्यवहार होता है।

आज भी लोक में इस प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं, जैसे—'कूलं पिपितिषति' (किनारा गिरना ही चाहता है=गिरनेवाला है), 'वृष्टिराजिगमिषति' (वर्षा आना ही चाहती है=आनेवाली है)। जड़ होने पर भी किनारे और वर्षा में इच्छार्थक प्रयोग हो रहा है। इसी प्रकार शास्त्रों में नदी, पर्वत, समुद्र, आदि जड़ पदार्थों के परस्पर तथा मनुष्यों से संवाद उपलब्ध होते हैं। ये सब आलंकारिक कथोपकथन हैं। लौकिक भाषाओं में भी 'धरती बोलती है' 'वृक्ष मंगलगान करते हैं' जैसे प्रयोग उक्त भावना के द्योतक हैं।

**न ब्रह्मरूपं जगत् त्रिगुणापत्तेः ।।२३।।**

त्रिगुणात्मक होने से जगत् ब्रह्मरूप नहीं है।

जगत् में वैविध्य एवं वैषम्य प्रत्यक्ष है। ब्रह्म के अपरिणामी होने से वह इस वैविध्य अथवा वैषम्य का कारण नहीं हो सकता। प्रकृति सत्त्व-रजस्-तमस्‌रूप है जो कार्यावस्था में आने पर जगत् के उपादान के रूप में व्यक्त होती है। सत्त्व-रजस्-तमस् की विविध क्रियाओं का अर्थात् अन्योन्यमिथुनता का विविध रूपों में उपस्थित होना जगत् की विचित्रता का निमित्त है। ये उपादान-तत्त्व एक-दूसरे के साथ जितने

रूपों में मिथुनीभूत होते हैं, उनकी गणना कल्पनातीत है। इसलिए उन अनन्त प्रकार के मिथुनों के आधार पर जो कार्य उभरकर आते हैं, वे अनन्तरूप हैं।

सत्त्व-रजस्-तमस् मूल उपादान-तत्त्वों के सरूप तथा विरूप दो प्रकार के कार्य अथवा परिणाम होते हैं। सरूप परिणाम मूल उपादान की साम्यावस्था है। उसे प्रलयकाल कहा जाता है। जब त्रिगुण के परस्पर मिथुनीकरण से विलक्षण परिणाम होते हैं, वह सर्गकाल होता है। इसी को विसदृश अथवा विषम परिणाम कहा जाता है। जीवात्माओं के नानाविध कर्मों के फलोपभोग के लिए उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती है। इस प्रकार जीवात्माओं से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म अर्थात् धर्माधर्म की विभिन्नता भी सृष्टि की विविधता में कारण है।

इस दृश्यमान जगत् के रूप में जो मूल तत्त्व परिणत होता है, वह प्रकृति है जो सत्त्वरजस्तमोरूप है। उसका कार्यजगत् भी त्रिगुणात्मक है। पृथिवी, द्युलोक तथा देवलोकों में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।[1] विकारभूत सूक्ष्म अथवा स्थूल तत्त्व का बाह्यरूप चाहे कैसा ही हो, उसकी त्रिगुणात्मकता बराबर बनी रहती है। प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न निमित्तों के अनुसार सुख, दुःख और मोह की जनक होने से प्रीति (सत्त्व) अप्रीति (रजस्) एवं विषाद (तमस्) रूप में त्रिगुणात्मक रहती है, जो मूल उपादान का स्वरूप है।

ब्रह्म त्रिगुणातीत है। इसलिए यदि जगत् ब्रह्मरूप होता तो वह प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त होता, किन्तु जगत् तो मानो त्रिगुण की अभिव्यक्ति का अपर नाम है। सर्वत्र उन्हीं का खेल होता दिखाई दे रहा है। बाइबिल में लिखा है कि परमेश्वर ने अपनी रचना को देखा और उस पर सन्तोष व्यक्त किया।[2] अपनी सृष्टि को देखकर परमेश्वर भले ही सन्तुष्ट हो गया हो, उससे मनुष्य को सन्तोष नहीं हो सकता। प्लैटो जैसा विचारक विश्वास नहीं कर सका कि संसार में सर्वत्र व्याप्त विषमताओं तथा दुःखों की सृष्टि करनेवाला कोई दयालु परमेश्वर हो

---

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥—गीता० १८।४०

२. And God saw everything that he had made and beheld that everything was very good.

सकता है। उसे ऐसा प्रतीत होता था जैसे परमेश्वर प्रकृति को वश में नहीं कर सका और इस कारण एक अच्छा संसार बनाने का उसका प्रयास विफल हो गया।[1] सृष्टि के मूल में कोई बहुत बड़ा दोष प्रतीत होता है जिसे देखते हुए उसके रचयिता की बुद्धिमत्ता पर सन्देह होने लगता है। लिबनिज़ (Leibnitz) का कहना है कि इस सृष्टि के दोषपूर्ण होते हुए भी इससे अच्छी किसी अन्य सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु उसकी इस मान्यता से किसी को सन्तोष नहीं हो सकता। इस असन्तोष का कारण है सृष्टि को ब्रह्मरूप मानकर उसे उसके समान पूर्ण मानने की मिथ्या कल्पना कर बैठना। सृष्टि ब्रह्म के समान त्रिगुणातीत नहीं है। इसी कारण उसमें वैविध्य तथा विषमता है। जगत् को ब्रह्मरूप मानकर संसार में व्याप्त वैविध्य आदि की व्याख्या नहीं हो सकती। इस समस्या का समाधान सृष्टि को ब्रह्मरूप न मानकर ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत जीवात्माओं की सत्ता, उनके कर्मस्वातन्त्र्य तथा परिणमनशील त्रिगुणात्मक प्रकृति के उपादानत्व के सिद्धान्तों को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता।

जगत् के ब्रह्मरूप न होने में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**हेयत्वात् ॥२४॥**

हेय होने से [जगत् ब्रह्मरूप नहीं है]।

समस्त शास्त्रों में जड़रूप में विद्यमान जगत् को हेय—परित्याज्य कहा गया है। यदि वास्तव में ब्रह्म ही जगद्रूप में भासित हो रहा है अर्थात् जगत् ब्रह्म ही का परिणाम है तो कारण और कार्य में (अद्वैतमतानुसार) अनन्यत्व होने से जगत् भी वैसा ही सत्य एवं यथार्थ है, जैसा स्वयं ब्रह्म। तब 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का क्या अर्थ रह जाता है? जब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, तो जगद्रूप में भासमान ब्रह्म में आसक्त होना हेय क्यों माना जाना चाहिए? यदि जगत् ब्रह्मरूप होता तो कठोपनिषद् के अन्तर्गत यमाचार्य-नचिकेता-संवाद में जगत् से विरत होने की बात क्यों कही जाती? यदि यह जगत् ब्रह्म

---

१. Unable to believe that a good God could be responsible for the horrors of the world, Plato held that the goodness of God was made somewhat ineffective by the intractableness of nature which he tried in vain to control.

—Radhakrishnan : Hindu View of Life, P. 49

का ही रूप है तो जगत् में ग्रासक्त व्यक्ति ब्रह्म में ही ग्रासक्त समझा जाना चाहिए। ज्ञान, कर्म, उपासना ग्रादि सब व्यर्थ हैं। संसार में जो जितना लिप्त है वह मानो उतना ही ब्रह्मानन्द में लीन है, क्योंकि जगत् वास्तव में ब्रह्म ही तो है—ब्रह्म से ग्रतिरिक्त उसकी सत्ता ही नहीं है। तथापि सभी ग्राचार्यों ने जगत् को मिथ्या ग्रौर हेय कहा है। ब्रह्म एवं जगत् में ग्रनन्यभाव होने के कारण जगत् के हेय होने से ब्रह्म भी हेय हो जाता है। फलतः जगत् का ब्रह्मभाव सिद्ध नहीं होता।

इसी विषय में एक ग्रतिरिक्त हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**क्षणिकत्वाच्च ॥२५॥**

ग्रौर (जगत् के) क्षणिक होने से (उसका ब्रह्मरूप नहीं)।

संसार के समस्त पदार्थ सत् हैं, किन्तु परिवर्त्तनशील। सूत्रान्तर्गत 'क्षणिक' पद सीमित ग्रर्थ (एकक्षणवर्ती) को न कहकर सामान्य ग्रर्थ—विनाशी का वाचक है। 'क्षणिक' पद का प्रयोग वस्तु एवं ग्रवस्था की ग्रस्थिरता एवं क्षणभंगुरता का द्योतक है।[1] परमाणुग्रों का संयोग-वियोग नित्य नवीन वस्तुग्रों का सृजन करता रहता है। पण्डितराज

---

१. बौद्धों के मत में प्रत्येक वस्तु की क्षणिक सत्ता है। जब दूसरा क्षण आरम्भ होता है तो वह वस्तु, जो पहले क्षण में थी, विलय हो जाती है और एक सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि दूसरी वस्तु उत्पन्न होने से पूर्व पहली वस्तु की सत्ता समाप्त हो चुकी होती है। इसलिए पहली वस्तु ने दूसरी को उत्पन्न किया, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असत् (अभाव) से सत् (भाव) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। महात्मा बुद्ध ने जब इस संसार को 'सर्वं क्षणिकम्' कहा तो उस समय इससे उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि 'जिस संसार में हम रहते हैं वह नित्य नहीं है' ('अनिच्चा-वत संखारा'—बलदेव उपाध्याय, 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' भाग १, पृष्ठ ७०१ पर 'अंगुतर निकाय' से उद्धृत)। 'संसार को पानी के बुलबुले की तरह देखो तो यमराज तुम्हारी ओर देखेगा भी नहीं' (**यथा बब्ब-लूकं पस्से यथा पस्से मरीचकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति ॥** धम्मपद ९३-९४)। यह ऐसा उपदेश है जो बौद्धसाहित्य में ही नहीं, गीता, उपनिषद् आदि समस्त साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलेगा। जिसे महात्मा बुद्ध ने 'सर्वं क्षणिकं' कहा, नचिकेता ने उसी को 'श्वोभाव' कहा था (कठ० १।२६)। 'क्षणिक' तथा 'श्वोभाव' का भाव एक ही है। उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों ने तो 'क्षणिकवाद' को केन्द्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, परन्तु बुद्ध के लिए तो यह मात्र नैतिक प्रश्न था, विशुद्ध तार्किक सिद्धान्त नहीं। तर्कशास्त्र बड़ी कड़ाई से काम लेता है। बुद्ध को एक स्थायी तत्त्व की आवश्यकता से बाधित होकर कहना पड़ा—"हे शिष्यो! कोई सत्ता

जगन्नाथ ने काव्य के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—**'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'**—अर्थात् पुनः-पुनः देखने पर जो नवीन प्रतीत हो वही सौन्दर्य का रूप है। जगत् का उत्पाद और विनाश हर समय होता रहता है। इस प्रकार जगत् परिणामी एवं परिवर्त्तनशील है। क्षणिकवाद से नामरूपात्मक जगत् की परिवर्त्तनशीलता ही अभिप्रेत है। प्रकृति उपादान-तत्त्व से अनेकानेकरूप में उसका परिणाम हुआ करता है। इसके विपरीत ब्रह्म को नित्य कूटस्थ माना गया है। वह सर्वथा अपरिणामी है—सदा एकरूप रहनेवाला है। समस्त शास्त्र इस बात के साक्षी हैं कि कोई भी चेतन तत्त्व परिणामी नहीं होता। कहाँ कूटस्थ अविनाशी ब्रह्म और कहाँ नित्यपरिवर्त्तनशील नश्वर जगत्! दोनों में तादात्म्य असम्भव है। अतएव जगत् को ब्रह्म-रूप नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण नहीं माना जा सकता—इस विषय का विवेचन आगे के कतिपय सूत्रों में किया है।

**नोपादानं ब्रह्म सारूप्यादर्शनात् ॥२६॥**

(जगत् का) उपादान ब्रह्म नहीं है, सारूप्य न देखे जाने से।

प्रकृतिविकारभाव में सारूप्य का होना अनिवार्य है। ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर उनकी परस्पर विलक्षणता को दूर करने के लिए उनमें सारूप्य सिद्ध होना आवश्यक है। वैशेषिकदर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार उपादानकारण के गुणकर्मस्वभाव तत्त्वतः उसके कार्य में अवश्य रहते हैं।[1] हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को सोने का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बना पदार्थ मिट्टी-जैसा और सोने से बना सोने-जैसा अवश्य होना चाहिए। परस्पर

---

है जो अजन्मा, अनादि, स्वयंभू एवं विशुद्धस्वरूप है, क्योंकि ऐसी सत्ता न होती तो जन्म, निर्माण और संयोग-वियोग आदि के अधीन इस जगत् से छुटकारा कैसे सम्भव होता!" (उदान ८।३) परवर्त्ती अनेक बौद्ध विद्वानों का यही कहना है कि समस्त परिवर्त्तनों की तह में एक स्थायी तत्त्व है। श्री सोजन कहते हैं—"प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान नित्य एवं स्थायी है। जो कुछ क्षण-क्षण में परिवर्त्तित होता है, वह वस्तु की अवस्था या रूप है। इसलिए यह कहना भूल है कि बौद्ध मत के अनुसार पहले क्षण की वस्तु नष्ट हो चुकी होती है, जबकि दूसरा क्षण आरम्भ होता है।

—सिस्टम आफ़ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १३४

१. **कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।**—वै० २।१।२४

विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि किसी कारण से उसके विपरीत गुणवाले कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म का कार्यरूप माना जानेवाला जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म दृश्यमान जगत् से सर्वथा विलक्षण दिखाई देते हैं। इसलिए नश्वर परिणामी जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। यदि ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण होता, अर्थात् यह जगत् ब्रह्म के ही सारतत्त्व का परिणमित रूप होता तो उसकी भाँति जगत् भी चेतन, निराकार, अखण्ड, अनुत्पन्न तथा सच्चिदानन्दस्वरूप होता, परन्तु इसके विपरीत जगत् जड़, दृश्य, खण्डरूप, उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा आनन्दरहित है। सुख, दुःख मोह आदि से युक्त अचेतन जगत् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है! ब्रह्म को उपादान मानने से ब्रह्म की चेतनता जगत् में आ जानी चाहिए और परिणामस्वरूप जगत् में कोई भी जड़ पदार्थ नहीं होना चाहिए। यदि ब्रह्म तथा जगत् में उपादानत्व के आधार पर कार्यकारणभाव होता तो या तो पृथिव्यादि को ब्रह्म की भाँति चेतन होना चाहिए था या ब्रह्म को पृथिव्यादि की भाँति जड़। अतः एकमात्र चेतन ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है। जिन आचार्यों ने यह कहा है कि ब्रह्म से जगत् ऐसे ही उत्पन्न होता है जैसे मिट्टी से घड़ा, वे अपने इस विचार की निर्बाधरूप से व्याख्या करने में असमर्थ रहे, तब उन्हें अपनी बात बनाने के लिए जगत् के उपादानकारणरूप में ब्रह्म के साथ माया की कल्पना करनी पड़ी, जो त्रिकाल में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। जब इससे भी बात न बनी तो अपने आग्रह पर अड़े रहने के लिए 'विवर्त्त' की कल्पना की। इस पद (विवर्त्त) तक का वेदान्तसूत्रों में अभाव है। 'माया' शब्द का प्रयोग भी वेदान्तसूत्रों में केवल एक स्थान (३।२।३) पर स्वप्न में अनुभूत पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिए हुआ है। जाग्रत् के पदार्थों का कारण माया को कहीं कथन नहीं किया गया। वस्तुतः माया शब्द प्रकृति का ही वाचक है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि "माया का अर्थ प्रकृति है और इस माया (प्रकृति) से जगत् की रचना करनेवाला परमेश्वर 'मायी' है।"[1]

जगत् सीमित है और सोपाधिक है। एक अनन्त और निरुपाधिक

---

१. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।— श्वेत० ४।१०

ब्रह्म इसका कारण कैसे हो सकता है ? यदि सान्त जगत् प्रतिबन्धयुक्त और अस्थायी है तब अनन्त भी सीमित जगत् के प्रतिबन्ध के रूप में स्वयं सीमित हो जाता है और तब वह अनन्त नहीं रहता। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि कैसे अनन्त अपने से बाहर जाकर सान्त का रूप धारण कर लेता है। क्या अनन्त किसी विशेष क्षण में आवश्यकतावश सीमित रूप धारण करने के लिए आता है ?[1] मैक्समूलर के मत में यह बड़ी विचित्र बात है कि ब्रह्म को, जो स्वयं अभौतिक है, भौतिक जगत् का उपादान बताया जाता है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि यथार्थ ब्रह्म से बने जगत् को मिथ्या कहा जाता है, जबकि साथ-ही-साथ कारण और कार्य को अभिन्न अथवा अनन्य माना जाता है।[2] वस्तुतः यदि कारण और कार्य में अनन्यभाव है तो सद् ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

मुण्डक० में अक्षर ब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा है कि "जो अदृश्य है, इन्द्रियों का अविषय है, कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है, जिसका न कोई गोत्र है, न वर्ण है, न जिसके हाथ-पाँव या आँख-कान हैं अर्थात् जो सर्वथा निरवयव है, जो नित्य और सर्वत्र व्याप्त है, सबमें अन्तर्निविष्ट है, अतिसूक्ष्म है, अव्यय है और जो समस्त भूतों—चराचर जगत् का कारण है, उसे धीर पुरुष देखते व जानते हैं।[3] यह अविनाशी, अपरिणामी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है, किन्तु आचार्य शंकर ने यहाँ 'योनि'

---

१. The world is finite and conditioned. How can the infinite unconditioned be its cause ? If the finite is the limited and the transitory, then the infinite, as the limit of the finite, is itself finite and not infinite. It is difficult to conceive how the infinite comes out of itself into the finite. Does the infinite come out at a particular instant of time under the necessity to become finite ?

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P.567

२. To steer between all these rocks is no easy matter. Brahma, though himself immaterial, is said to be the material cause of the world. And yet the world, of which he is the cause, is considered unreal; while at the same time cause and effect are held to be identical.

३. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम् तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं-सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥—मुण्डक० १।१।६

पद को उपादानपरक मानकर ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] वस्तुतः 'योनि' पद कारणमात्र का वाचक है, केवल उपादानकारण का नहीं। लोक में प्रसिद्ध 'स्त्रीयोनि' शब्द स्थानविशेष का वाचक है।[2] सब जानते हैं कि स्त्रीयोनि किसी देह का उपादानकारण नहीं, अपितु देह के गर्भाशय से बाहर आने का मार्ग है। उसके उपादानकारण आरम्भ में माता-पिता के रजवीर्य और तदनन्तर शरीर की वृद्धि में सहायक तत्त्व हैं। पृथिवी को ओषधि—वनस्पतियों की योनि कहा जाता है।[3] किन्तु वास्तव में पृथिवी उनके प्रादुर्भाव का आधारमात्र है। ओषधि आदि के बीज ही उनके उपादान हैं। पृथिवी आदि तत्त्व उनके प्रादुर्भाव व वृद्धि में सहायक मात्र हैं। एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न पौधों के उत्पन्न होने का कारण यही है कि उनके उपादान बीज भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए 'भूतयोनि' शब्द से ब्रह्म का जगदुत्पत्ति में उपादानकारण होना सिद्ध नहीं होता। फिर, उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में ब्रह्म के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, आनुभविक जगत् उससे सर्वथा विलक्षण है। इसलिए भी दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं बन सकता। किन्तु जहाँ कहीं आनुभविक जगत् के तथ्य शंकर को अपने पूर्वाग्रह में बाधक जान पड़ते हैं, वहीं वह **'न लोकवदिह भवितव्यम्'** कहकर उससे छुटकारा पाने का विफल प्रयास करते हैं।

इस प्रसंग में गीता के उन दो श्लोकों को उद्धृत किया जाता है जिनमें कहा है कि "महद् ब्रह्म मेरी योनि है और मैं उसमें गर्भ धारण कराता हूँ। फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्म लेती हैं उनकी योनि महद् ब्रह्म है और मैं उसमें बीज डालनेवाला पिता हूँ।"[4] अद्वैतपरक समझे जाने-

---

१. एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्।—शां० भा० १।४।२७

२. क्वचित्स्थानवचनोऽपियोनि शब्दो दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० १।१०४।१) —शां० भा० १।४।२७

३. योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम् इति'।—तदेव

४. मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥—गीता० १४।३, ४

वाले इन श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। पिता के रूप में बीज डालनेवाला ब्रह्म निमित्तकारण है और जिसमें वह बीज डालता अथवा गर्भ धारण कराता है, उसके रूप में प्रकृति उपादानकारण है। 'ब्रह्म'-पद परमात्मा और प्रकृति दोनों का वाचक है। तात्स्थ्योपाधि से यहाँ परमात्मा के प्रतिनिधिरूप श्रीकृष्ण गीता के कविनिबद्ध वक्ता हैं। अतएव 'अहम्' पद से यहाँ परमात्मा अभिप्रेत है जो पितृरूप में कथन किया गया है। तब 'ब्रह्म' पद का दूसरा वाच्य प्रकृति रह जाता है जिसे मातृस्थानी समझना चाहिए। गीता को उपनिषदों का सार कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि "पुमान् (परमात्मा) योषित् (प्रकृति) में रेतःसिंचन करता है और इस प्रकार ब्रह्म पुरुष से समस्त प्रजा उत्पन्न होती है।"[1] जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना ही योषित् में परमात्मा का रेतःसिंचन करना है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में गीता का आशय स्पष्ट हो जाता है।

यदि आपाततः 'योनि' पद का कहीं उपादानकारण के रूप में प्रयोग हुआ प्रतीत हो तो उतनेमात्र से 'ब्रह्मयोनि' 'भूतयोनि' आदि पदों के आधार पर ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहना सर्वथा असंगत होगा। यह केवल औपचारिक वर्णन माना जाना चाहिए, क्योंकि न लोक में किसी चेतन तत्त्व को किसी जड़ तत्त्व का उपादान देखा जाता है और न कहीं शास्त्र में इसका उपपादन उपलब्ध है।

जब यह कहा जाता है कि "ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर है अर्थात् कारण और कार्य एक-दूसरे से विलक्षण हैं। सोने का टुकड़ा मिट्टी के बर्तन का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार विशुद्ध और धार्मिक ईश्वर अशुद्ध और अधार्मिक जगत् का कारण नहीं हो सकता,"[2] तो ब्रह्म और जगत् में सारूप्य सिद्ध करने के लिए शंकर कहते हैं कि "ब्रह्म और जगत् में सत्ता का सामान्य लक्षण है, अतः दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं और यदि ईश्वर में कुछ अतिशय है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि

---

१. पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः।
—मु० २।१।५

२. शां० भा० २।१।४

कारण में ऐसी विशेषता सर्वत्र पाई जाती है।"[1] प्रथम तो किंचित् साधर्म्य से दो पदार्थों में तादात्म्य नहीं हो सकता। नमक और चीनी में सत्ता और सफ़ेदी के गुण होने से दोनों एक नहीं हो जाते। दूसरे, शंकर तो कारण और कार्य में अनन्यभाव मानते हैं, तब कार्य की अपेक्षा कारण में किसी विशेषता के होने अथवा कारण और कार्य में किंचित् भी भेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**अपरिणामित्वादीश्वरस्य ॥२७॥**

ईश्वर के अपरिणामी होने से (ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं)।

ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने से ब्रह्म में विकार आदि अनेक दोषों का उद्भावन हो जाता है। ब्रह्म जगत् का निर्माता-नियन्ता होता हुआ त्रिगुणात्मक प्रकृति उपादान से इस जगत् का स्रष्टा है। यदि वह अपने-आपको उपादानरूप में परिणत करे तो उसे विकारी अथवा परिणामी होने से कोई नहीं बचा सकता, क्योंकि परिणाम अथवा विकार के बिना उपादान नहीं हो सकता, किन्तु ब्रह्म को परिणामी मानना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। शुद्ध-बुद्ध-आनन्दस्वरूप ब्रह्म अशुद्ध तथा विकारी कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई भी चेतनतत्त्व जड़-कार्य के रूप में परिणत नहीं हो सकता। तब अपरिणामी ब्रह्म के परिणामी होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? विकार अथवा परिवर्त्तन दो प्रकार से होता है—भीतर से या बाहर से। भीतर से परिवर्त्तन होने का अर्थ है किसी इच्छा या अभाव की पूर्ति जो परिवर्त्तन के बिना सम्भव नहीं। ब्रह्म के पूर्णकाम होने से इसकी कोई सम्भावना नहीं। बाहर से परिवर्त्तन होगा तो परिवर्त्तन करनेवाली सत्ता ब्रह्म से अतिरिक्त माननी होगी। यदि केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और जगत्सर्ग से पूर्व अन्य कुछ भी नहीं था तो बाहर से परिवर्त्तन होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से उससे परे या बाहर अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। ब्रह्म के सर्वशक्तिमान् होने से भी ब्रह्म में विकार उत्पन्न करने का सामर्थ्य किसी में नहीं हो सकता था। किसी भी रूप में ब्रह्म में विकार सम्भव नहीं।

**'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'** (तै० २।६) इत्यादि उपनिषद्-

---

१. शां० भा० २।१।६

वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के परिणामी होने में नहीं है, क्योंकि 'बहु स्यां'—(बहुत हो जाऊँ) के पश्चात् **'इदं सर्वं स्वयमभवत्'**—(वह सब स्वयं हो गया) न कहकर **'इदं सर्वमसृजत'** (इस सबको बनाया) कहा है। यदि ब्रह्म परिणामी होता तो 'असृजत' क्रियापद के स्थान पर 'अभवत्' क्रियापद का प्रयोग किया जाता। इसी प्रकार यदि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) आदि वाक्यों के आधार पर यह मान लिया जाए कि ब्रह्म जगत् के रूप में स्वयं परिणत हो जाता है तो यह भी मानना होगा कि विविध नामरूपात्मक पदार्थ ब्रह्म का ही परिणाम हैं। नामरूपात्मक जड़ जगत् भोग्य है और चेतन उसका भोक्ता है। यदि ब्रह्म ही जगद्रूप है तो चेतन भोक्ता एवं जड़ भोग्य का भेद जाता रहेगा। इस प्रकार चेतन्न ब्रह्म स्वयं अपना भोक्ता होगा जो नितान्त असम्भव है।

वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत 'आत्मकृतेः परिणामात्' (१।४।२६) इस सूत्र के आधार पर ब्रह्म को परिणामी मानकर शंकराचार्य कहते हैं—'इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म' अर्थात् इससे ब्रह्म का उपादानत्व सिद्ध है। उपादान से परिणमन द्वारा ही नामरूपात्मक पदार्थों की रचना होती है, परन्तु शंकर ब्रह्म को 'विक्रियारहितम्' (शां० भा० १।१।४) विकाररहित मानते हैं। जो विक्रियारहित है वह उपादान कैसे हो सकता है? वस्तुतः इस सूत्र में निमित्त एवं उपादान कारणों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है। ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों ही जगद्रचना में कारण हैं। उनमें ब्रह्म के संकल्परूप प्रयत्न (कृति) तथा प्रकृति के परिणाम से जगत्सर्ग होता है अर्थात् जब परमात्मा अपने संकल्परूप प्रयत्न (कृति=तप) से उपादानतत्त्व प्रकृति को प्रेरित करता है तब वह जगद्रूप में परिणत होती है।[1] श्वेत० (६।१२) के शब्दों में सबका नियन्ता एकमात्र ब्रह्म है जो त्रिगुणात्मक प्रकृति में एकसमान विद्यमान बीज उपादान को अनेकरूप करके विविध संसार के रूप में परिणत कर देता है।[2] जैसे गति के लिए यह आवश्यक है कि गति देनेवाला स्वयं गति न करे, वैसे ही परिणमन द्वारा जगत्सर्ग करनेवाले के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह स्वयं परिणामी न हो। निरन्तर हिलता रहनेवाला हाथ लेखनी को गति देता हुआ कुछ नहीं लिख सकता।

१. **स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।**—तै० २।६
२. **एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।**—श्वेत० ६।१२

**निरवयवत्वान्नित्यत्वाद्विभुत्वात् ॥२८॥**

(ब्रह्म के) निरवयव, नित्य तथा विभु होने से (वह उपादान नहीं हो सकता)।

शास्त्रवर्णित निरवयव व निर्विकार ब्रह्मस्वरूप के साथ उसके उपादानत्व का स्पष्ट विरोध है। ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है, सर्वत्र व्याप्त है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप से परिणत होता है अथवा उसके किसी भाग में परिवर्त्तन होकर जगत् का निर्माण होता है। यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप होकर हमारी आँखों के सामने फैला हुआ है तो उसका ब्रह्मत्व ही जाता रहा, क्योंकि ऐसा होते ही उसकी समस्त विलक्षणताओं का लोप हो जाएगा। वह परिणामी तो हो ही जाएगा, इसके अतिरिक्त ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता नहीं रहेगी जिसकी खोज के लिए हमें प्रयास करना अपेक्षित होगा। वस्तुतः जगत् में रहने का अर्थ ब्रह्म में रहना, अर्थात् ब्रह्मलीन होना होगा। सम्पूर्ण ब्रह्म के जगद्रूप हो जाने पर परात्पर ब्रह्म की कोई सत्ता संसार में नहीं रह जाएगी। केवल उसका कार्यरूप जगत् रहेगा। कार्यरूप होने से वह एकदेशी हो जाएगा। कार्यरूप में छोटे-से-छोटा कण तथा यह समस्त विशाल जगत् सदा गतिशील रहता है—एक देश से दूसरे देश के लिए उसमें बराबर गति होती रहती है। इस प्रकार ब्रह्म के एकदेशी हो जाने से उसका निष्क्रिय, निश्चल बना रहना सम्भव नहीं होगा। तब वह 'अनेजत्' नहीं रहेगा।

यदि ब्रह्म के किसी एक देश में परिवर्त्तन होकर जगत्सर्ग होगा तो उसकी अखण्डता नष्ट हो जाएगी। एक के दो ब्रह्म हो जाएँगे—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा जगज्जाल में परिणत ब्रह्म। ब्रह्म के किसी अंश को जगद्रूप में परिणत मानना उसमें विकार होने का आपादन करना और उसे सावयव सिद्ध कर देना है। संकोच-विकास भी उसकी सावयवता को प्रकट करना है। जो भाग जगद्रूप में परिणत हो जाएगा वहाँ ब्रह्मरूप न रहने से उसकी अव्यापिता होगी। जिस वस्तु के भाग होंगे वह नित्य नहीं होगी। इसी प्रकार जिस वस्तु के अवयव होंगे वह अनिवार्यतः साकार होगी। परन्तु सभी शास्त्र एक स्वर से परमेश्वर

को अकाम एवं निरवयव बताते हैं।[1] इस प्रकार न केवल ब्रह्म का कात्स्न्र्य तिरोहित हो जाएगा, अपितु उसका सच्चिदानन्दस्वरूप नष्ट होकर वह **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः'** नहीं रह सकेगा। वस्तुतः अध्यास, विवर्त्त, अनिर्वचनीयख्याति आदि सबका आश्रय लेकर भी उपादान के रूप में निरवयव ब्रह्म से सावयव जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने और स्वयं शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में उपर्युक्त आपत्तियाँ उठाते हुए ब्रह्म के जगद्रूप में परिणत होने पर अनेक प्रश्नचिह्न लगाये हैं।[2] प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डा० राधाकृष्णन के शब्दों में ब्रह्म के एक भाग का जगद्रूप में परिणत होना ऐसा होगा "जैसे कोई आधी मुर्गी को तो मारकर खा जाए और शेष आधी को अण्डे देते रहने के लिए छोड़ दे।"[3]

ब्रह्म के समान प्रकृति एक व्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। वह त्रिगुणात्मक अनन्ततत्त्वरूप है। इसलिए प्रकृति से जगत्परिणाम मानने में ऐसा कोई दोष प्राप्त नहीं होता। अनन्त कारणतत्त्वों के रूप में अवस्थित रहते हुए भी प्रकृति के अपेक्षित तत्त्व उपयोग में आते रहते हैं। जगत्सर्ग के लिए जितने तत्त्व जिस रूप में अपेक्षित हैं, सर्वज्ञ ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत कर देता है। जगत् को ब्रह्म

---

१. तत्सर्वात्मना वा परिणमते एकदेशे वा ? सर्वात्मना परिणामे कथं न तत्त्वव्याहतिः ? एकदेशपरिणामे वा स एकदेशस्ततो भिन्नो वा अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत् कथं तस्य परिणामः ? अभेदे वा कथं न सर्वात्मना परिणामः ?

—भामती

२. ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके साधिगता इति। नेत्युच्यते···ब्रह्मणः कूटस्थत्वाभ्युपगमात्। न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिः गतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम॥—शां० भा० २।१।१४॥ आश्चर्य है कि आचार्य शंकर अन्यत्र **"चेतनमेकं ब्रह्म स्वयं परिणाममानं कारणमिति स्थितम्"** (२।१।१६) तथा **"एकस्यापि ब्रह्मणः···विचित्र परिणाम उपपद्यते"** (२।१।२४) कैसे लिख बैठे ?

३. We cannot have one part of God above and another part below. It would be like having half the fowl for cooking and leaving the other half for laying eggs.

—Radhakrishnan : Hindu View of Life, P. 49

का परिणाम मानने पर उसके स्वरूप को निर्दोष नहीं रक्खा जा सकता। वह सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है।

वेद में कहा है—"उस ब्रह्मपुरुष का एक पाद समस्त भूत हैं और अमरणधर्मा (अपरिणत) तीन भाग दिव्यलोक में हैं। वह अपने तीन भागों से जगत् के बाहर या ऊपर है और एक भाग यहाँ जगद्रूप में विद्यमान है।"[1] "उस चतुष्पाद ब्रह्मपुरुष का एक पाद इस संसार में प्रकट हुआ। उसी से चेतन-अचेतन समस्त जगत् प्रवृत्त हुआ।"[2] इससे यह प्रतीत होता है कि वेद के अनुसार ब्रह्म का कुछ अंश जगद्रूप में परिणत होता है, और शेष अपने रूप में बना रहता है, परन्तु इन मन्त्र-पदों का यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर वेद में अन्यत्र अनेक स्थलों पर ब्रह्म के निरवयव रूप का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों से विरोध होगा। प्रस्तुत वर्णन सर्वथा औपचारिक है और केवल इतने भाव को प्रकट करता है कि इतना विशाल जगत् भी उसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ है—सर्वथा महत्त्वहीन है। यही कारण है कि परमात्मा समस्त विश्व का नियमन करने में समर्थ है। स्वयं परिणत होकर विकारी होनेवाले के लिए सबपर नियन्त्रण करना सम्भव नहीं। इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके उसे परिणामी मानना उसकी यथार्थ सत्ता से हाथ धो बैठना होगा।

**उपादानस्यान्तर्भावात् ॥२९॥**

उपादान के अन्तःस्थ होने से [ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं]।

किसी पदार्थ के उपादानतत्त्व उस पदार्थ के भीतर रहते हैं, बाहर नहीं; जैसे—घड़े का उपादान मिट्टी घड़े में सीमित रहती है, घड़े से परे मिट्टी का अस्तित्व नहीं होता। इसलिए कोई सर्वव्यापक तत्त्व किसी का उपादान नहीं हो सकता। परमात्मा अन्तर्यामीरूप से व्याप्त होकर प्रत्येक वस्तु के बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है।[3] जितना वह जगत् के भीतर है, उससे कहीं अधिक बाहर है।[4] प्रत्येक पदार्थ के

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्वं उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥—यजु० ३१।३, ४

२. पादोऽस्येहाभवत्। ततो विश्वङ् व्यक्रामत। साशनानशने अभि।
—यजु० ३१।४

३. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।—यजु० ४०।५

४. ऋ० १०।९०।३; अथर्व० १९।६।३

अन्दर और बाहर ब्रह्म की व्यापकता इस बात का प्रमाण है कि वह उन पदार्थों का उपादान नहीं है।

इस प्रसंग में अग्नि का दृष्टान्त देते हुए कठोपनिषद् में कहा है कि—जैसे एक अग्नि संसार में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक वस्तु के पूरे आकार के अनुसार उसमें व्याप्त रहता है, वैसे ही एक परमात्मा समस्त विश्व में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर विद्यमान है।[1] इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि दृश्यमान जगत् के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर व बाहर उसके जीवन व अस्तित्व का हेतु सर्व-व्यापी ब्रह्म है। यदि परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर ही होता तो वस्तुएँ परमात्मा से बड़ी होतीं, क्योंकि छोटी वस्तु अपने से बड़ी वस्तु के भीतर रह सकती है। इसी प्रकार यदि परमात्मा प्रत्येक वस्तु के बाहर ही होता तो उसकी सर्वव्यापकता में बाधा आती। क्यारी के भीतर रहता हुआ जल क्यारी के आकार को धारण कर लेता है। किन्तु जब जल क्यारी के भीतर-बाहर सर्वत्र फैल जाता है तब उसका कोई आकार नहीं रहता। उपादान कारण क्योंकि पदार्थ के भीतर ही रहता है, इसलिए यदि ब्रह्म को उपादान माना जाएगा तो वह उस पदार्थ के आकार को धारण कर साकार तथा संख्या में अनन्त हो जाएगा। किन्तु ब्रह्म एक तथा सर्वथा निराकार है, अतः उसका बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त होना स्वतः सिद्ध है, और बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त होने से वह जगत् का निमित्तकारण ही हो सकता है, उपादान-कारण नहीं। उपादानरूप केवल प्रकृति है जो ब्रह्म के नियन्त्रण में जगद्रूप में परिणत होती है। यही सर्वथा तर्कसम्मत है।

**विकृतेः ॥३०॥**

विकृति (परिवर्त्तन) होने से [ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता]।

प्रत्येक सीमित पदार्थ अपने तक सीमित ही नहीं है, वह सापेक्ष भी है। अनुभूत पदार्थों में से कोई भी आत्मनिर्भर अथवा स्वनिर्णीत नहीं है—किसी-न-किसी रूप में अन्य के ऊपर आश्रित है। प्रत्येक पदार्थ अपने से गुज़रकर अन्य पदार्थों में परिणत होने की प्रवृत्ति रखता है।

---

१. **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥**—कठ० ५।९

परिवर्त्तन अस्थिरता, न्यूनता अथवा अपूर्णता का उपलक्षण है। "प्लैटो परिवर्त्तन को केवल ह्रास के रूप में मानता है, जबकि अरस्तू उसे साक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति के रूप में मानता है, किन्तु दोनों ही यथार्थ सत्ता को अपरिवर्त्तनशील मानते हैं। यह सत्य है कि अरस्तू ईश्वर को क्रियात्मक शक्ति के रूप में मानता है, किन्तु यह क्रियात्मक शक्ति अपरिवर्त्तनशील है। शंकर की दृष्टि में यथार्थसत्ता निर्विकार है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव नहीं है। न उसमें कोई न्यूनता है, न उसे किसी वस्तु की आवश्यकता है; इसलिए उसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन अथवा द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रैडले की दृष्टि में जो सम्पूर्ण अर्थों में यथार्थ है, वह गति नहीं करता, अर्थात् अचल है।"[1]

संसार परिवर्त्तनशील है, इसे कोई नकार नहीं सकता। इसे नकारना प्रत्यक्ष को नकारना होगा। परिवर्त्तन नैरन्तर्य के बिना कभी सम्भव नहीं। किसी नित्य तत्त्व के अभाव में परिवर्त्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवर्त्तन किसी वस्तु में होता है, शून्य में नहीं। इसलिए जबतक किसी ऐसे पदार्थ की सत्ता स्वीकार न की जाए जो परिवर्त्तन के बीच भी तत्त्वतः यथावत् बना रहे, तबतक 'परिवर्त्तन' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। "अरस्तू के मत में समस्त परिवर्त्तन के लिए एक स्थायी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवर्त्तन के अन्दर कुछ स्थायी अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवर्त्तन हो सके। बिना स्थायी तत्त्व को स्वीकार किये परि-



१. Plato regards change as mere lapse, and Aristotle as a tendency to realisation. But both view the real as changeless. It is true that Aristotle regards God as activity or energy, but this activity knows no change. For Shankar, the real is changeless, unalterable, so full of being that it always is and for ever maintains itself in rest and repose. It has no lack, no need and so knows no change or strife. For Bradley, "nothing, that is perfectly real, moves."

—Radha. Ind. Phil., Vol. II, P. 532

वर्त्तन की कल्पना नहीं की जा सकती।"[१] एक मकान को गिराकर दूसरा मकान खड़ा कर देना परिवर्त्तन नहीं कहाता। मकान के मूल ढाँचे को यथावत् बनाये रखकर उसमें दरवाजे-खिड़कियों को बदल देना, दो छोटे कमरों के बीच की दीवार निकालकर एक बड़ा कमरा बना देना या एक कमरे को दो बना देना आदि परिवर्त्तन कहाता है। इसी प्रकार संसार में प्रतिक्षण होनेवाली परिवर्त्तनशीलता के लिए भी आवश्यक है कि उसका आधार कोई ऐसा तत्त्व हो जो यथार्थ एवं नित्य हो। वह तत्त्व जगत् का उपादान प्रकृति है जो परिणामिनी होते हुए भी नित्य है।

किसी भावरूप पदार्थ का सर्वथा उच्छेद (विनाश) नहीं होता। उत्पत्ति के समान विनाश भी एक परिवर्त्तन है। परिवर्त्तन आश्रय के बिना सम्भव नहीं। जैसे उत्पत्ति में कार्य अपने कारणतत्त्वों से अन्वित रहता है, वैसे ही कार्य का विनाशरूप परिवर्त्तन कारण से अन्वित रहता है। कपड़े के फट जाने पर या घड़े के फूट जाने पर उनके कारणरूप तन्तुओं या मृण्मय टुकड़ों को पहले के समान तात्त्विकरूप में उपलब्ध किया जा सकता है।

यदि आनुभविक जगत् केवल भ्रम या भ्रान्ति है तो भी यह एक विचित्र भ्रम या भ्रान्ति है जिसमें सर्वत्र कार्य-कारण-सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः समस्त परिवर्त्तन व्यवस्थित है और यथार्थ पर आधारित है, किन्तु जड़ प्रकृति में इस प्रकार का शृङ्खलाबद्ध परिवर्त्तन स्वतः सम्भव नहीं। तिलों में तेल होते हुए भी उन्हें द्रवीभूत करने के लिए किसी चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। प्रकृति नित्य एवं परिणामिनी है, तथापि उसमें व्यवस्थित परिवर्त्तन के लिए किसी स्वयं अपरिवर्त्तनशील सत्ता का होना आवश्यक है। स्वयं न हिलनेवाली कीली ही चक्की के पाट को गति दे सकती है और स्वयं न हिलनेवाली धुरी के सहारे ही गाड़ी के पहिये गति करते हैं। ब्रह्म अविकारी है, वही परिवर्त्तन के मूल में प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकृति में विकृति

---

१. According to Aristotle, identity is necessary for change. All change involves a permanant that changes. We cannot think of change without a permanant. Without a permanant, no relations in time are possible.

—Radha : Ind. Phil., Vol. I, P. 376-77

उत्पन्न करता है। परन्तु अविकारी ब्रह्म विकृति का उपादान नहीं हो सकता।

**द्रष्टृदृश्ययोर्भेदात् ॥३१॥**

द्रष्टा और दृश्य में भेद के होने से [ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता]।

अनेकत्व को स्वीकार किये बिना परिवर्त्तन की व्याख्या नहीं हो सकती। कुछ-का-कुछ हो जाना परिवर्त्तन कहाता है, यह तब तक सम्भव नहीं जब तक 'अनेक कुछ' न हों। यदि दूध से अतिरिक्त दही, खोया, पनीर आदि का अस्तित्व न हो तो दूध में परिवर्त्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जब एक देखनेवाला और एक उससे भिन्न दीखनेवाला हो। जड़ होने से कोई पदार्थ स्वतः दृश्यरूप नहीं हो सकता। चेतन द्रष्टा के बिना उसका दृश्यत्व उपपन्न नहीं होता। अतएव चेतना का केन्द्र द्रष्टा है। द्रष्टा 'सत्' और 'चित्' दोनों है, जबकि दृश्य केवल 'सत्' है। यदि जगत् का उपादान ब्रह्म हो तो कार्यरूप जगत् का ब्रह्म से अभेद होगा और इस प्रकार द्रष्टा तथा दृश्य का भेद जाता रहेगा। भोक्ता और भोग्य का भेद स्पष्ट है—चेतन-जीव भोक्ता है, शब्दादि विषय भोग्य हैं। यदि भोक्ता भोग्य हो जाए और भोग्य भोक्ता तो यह भेद मिट जाए। यदि ब्रह्म और जगत् में कार्य-कारणभाव मानकर दोनों में तादात्म्य अथवा अनन्यत्व स्वीकार कर लिया जाए तो भोक्ता भोग्य हो जाए और भोग्य भोक्ता। परन्तु भूख लगने पर किसी को अपने-आपको खाते नहीं देखा गया। वास्तव में भोक्ता और भोग्य का भेद न कभी मिटा है, न मिटेगा। जिस प्रकार भोक्ता और भोग्य एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य भी एक नहीं हो सकते।[1]

पदार्थों के अनेकत्व को स्वीकार न करनेवाले भ्रम या भ्रान्ति को परिवर्त्तन का कारण मानते हैं, किन्तु उनकी 'इस भ्रान्ति' का कारण स्वयं 'भ्रान्ति' के अर्थ के विषय में भ्रान्ति का होना है। भ्रान्ति विषयी-गत होती है, विषयगत नहीं। बाह्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में साधनभूत

१. When the knowing is a divine knowing and the knower is God, and when the thing known is the world, then the thing known cannot be a part of the knower or the knower himself. —Smart : New Essays in Philosophical Theology

मन काम करता है। मन की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्ष (चाहे वह यथार्थ दर्शन हो, चाहे मिथ्या) नहीं हो सकता। बाह्य पदार्थ से इन्द्रिय का सन्निकर्ष (सम्पर्क) होने पर तज्जन्य संस्कार को ग्रहण करके ज्ञान के रूप में द्रष्टा आत्मा तक पहुँचा देता है। यदि रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तो यह रज्जु में परिवर्त्तन के कारण नहीं, अपितु मन में भ्रम के कारण होती है। जब जल की बर्फ बनती है तो यह विषयगत परिवर्त्तन है, किन्तु जब बर्फ में रूई की प्रतीति होती है तब वह विषयीगत परिवर्त्तन है। यथार्थदर्शन और प्रतीति में अन्तर है। प्रतीति भ्रम या भ्रान्ति है। यदि संसार में एक ही पदार्थ होता तो न विषयगत परिणाम होता और न विषयीगत भ्रम। पदार्थों के अनेकत्व के बिना भ्रम की सम्भावना नहीं हो सकती। भ्रम का अर्थ है 'अन्यथाख्याति' अर्थात् अन्य में अन्य का ज्ञान। इसी को मिथ्याज्ञान, विपर्यय अथवा अविवेक नाम से अभिहित किया जाता है। यदि केवल एक ही पदार्थ हो तो 'अन्य' में 'अन्य' का कथन ही उपपन्न नहीं होता। यदि रज्जु से भिन्न सर्प की सत्ता न हो तो रज्जु में सर्प का भ्रम कभी नहीं होगा। यही नहीं, सर्प के होते हुए भी यदि किसी ने पहले सर्प नहीं देख रक्खा तो उसे भी रज्जु में सर्प की प्रतीति नहीं होगी। अतएव **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** के उद्‌घोष मात्र से न प्रत्यक्ष जगत् का अपलाप किया जा सकता है और न चेतन ब्रह्म को एकमात्र सत्ता मानकर उसे जड़ जगत् का उपादान सिद्ध किया जा सकता है।

प्रगाढ़ निद्रा में मन सर्वथा निष्क्रिय रहता है। सविकल्प समाधि में विषय तथा विषयी का अन्तर बना रहता है। उस अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों की प्रतीति होती है। ध्याता यह अनुभव करता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। जब वह ध्यान में इतना लीन हो जाता है कि यह प्रतीति नहीं रहती अर्थात् ध्याता और ध्येय एक भासने लगते हैं तो वह निर्विकल्प समाधि की अवस्था होती है। उस दशा में सचित्त आत्मा ध्येय में लीन हो जाता है और उस ब्रह्म का साक्षात्कार करता है जिसके विषय में वेद ने कहा है कि वह सर्वथा कामनारहित, धीर, अमर, स्वयं अपनी सत्ता से विद्यमान, आनन्द से आप्लावित और हर तरह से पूर्ण है। उस धीर, अजर, सदा एकरस

रहनेवाले आत्मस्वरूप को जाननेवाला कभी मृत्यु से नहीं डरता।[1] किन्तु उस अवस्था में भी ध्याता जीवात्मा, ध्येय परमात्मा और जगत् की सत्ता बराबर बनी रहती है। ध्याता न रहे तो समाधि किसलिए? ध्येय न रहे तो समाधि में ध्यान किसका? और ध्यान न रहे तो ध्येय कैसे भासे? पर ध्यान के रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार (ध्यान के रहते हुए भी) प्रतीति न होने को ही योगदर्शन में 'स्वरूपशून्यमिव' (३।३)—स्वरूपशून्य के समान कहा है।

**कर्त्तृकर्मविरोधाच्च ॥३२॥**

और, कर्त्ता तथा कर्म में विरोध होने से [ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण नहीं है]।

यदि कर्त्ता से कर्म और कर्म से कर्त्ता भिन्न न हों तो कर्म का कुछ अर्थ नहीं रहता। जब हम कहते हैं 'अग्नि ईंधन को जलाती है' या 'देवदत्त रोटी पकाता है' तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अग्नि' व 'ईंधन' और इसी प्रकार 'देवदत्त' व 'रोटी' एक-दूसरे से भिन्न हैं। बीच में आये क्रियापद कर्त्ता और कर्म के पृथक्त्व के परामर्शक हैं। यह पृथक्त्व मात्र व्याकरण-संयोजनसिद्ध-सम्बन्ध का सूचक न होकर एक वास्तविक तथ्य का निर्देशक है। शास्त्रों में सर्गरचना से पूर्व अभिध्यान—संकल्प का कामना या ईक्षण के रूप में उल्लेख मिलता है।[2] इस अभिध्या अथवा इच्छा के लिए कर्त्ता और कर्म दोनों की अपेक्षा है। ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते। एक ही तत्त्व कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। यह अभिध्यान जैसे अभिध्याता की अपेक्षा करता है, वैसे ही अभिध्यातव्य की भी। तात्पर्य यह कि जैसे कोई संकल्प का करनेवाला (कर्त्ता) है, वैसे ही संकल्प का कोई विषय (कर्म) भी होना चाहिए। संकल्प का कर्त्ता निश्चय ही ब्रह्म है। तब संकल्प का कर्म अथवा विषय क्या है? ब्रह्म संकल्प का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में उसे स्वयं ही जगद्रूप में परिणत मानना होगा।

---

१. **अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।**
**तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥**
अथर्व० १०।८।४४

२. **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।**—तै० २।६;
**सेयं देवतेक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता···नामरूपे व्याकरवाणि।**
—छां० ६।३।२

न यह सम्भव है और न एक ही तत्त्व का कर्त्ता और कर्म दोनों होना तर्कसम्मत है। इसलिए जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म के संकल्प का विषय उससे भिन्न प्रकृति है जो ईक्षण द्वारा बहुरूप हो जाती है। स्वामी हरिप्रसाद ने 'वेदान्तसूत्र वैदिक वृत्ति' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है कि अभिध्याता होने से ब्रह्म निमित्तकारण तथा अभिध्यातव्य होने से प्रकृति उपादानकारण है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संकल्प का अभिध्याता संकल्प के अभिध्यातव्य से अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म अपनी कृति भौतिक जगत् और उसके उपादान प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

शंकराचार्य कहते हैं कि अभिध्या के उपदेश से ब्रह्म का कर्त्ता और उपादान होना सूचित होता है,[2] जबकि पहले वह स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुके हैं कि "ब्रह्म तो परमार्थ में कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब विक्रियाओं से शून्य, नित्यतृप्त, अवयवरहित एवं ज्योति है।[3] इन लक्षणों से युक्त ब्रह्म भला नित्य परिवर्त्तनशील भौतिक जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है? यदि होगा तो निश्चय ही यह जगत् भी इन्हीं लक्षणों से युक्त होगा, क्योंकि शंकर के मत में कारण और उसके कार्य में अनन्यभाव है। **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** इस न्याय के अनुसार भी कार्यजगत् का अपने उपादानकारण ब्रह्म के अनुरूप होना आवश्यक है, किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। शंकर ने उपर्युक्त गुणों को ब्रह्म का स्वभाव बताया है और स्वभाव के विषय में उनके दादागुरु गौडपाद का कथन है कि 'किसी भी अवस्था में स्वभाव अन्यथा नहीं होता।'[4] इसलिए अविकारी ब्रह्म विलक्षण जगत् का कर्त्ता हो सकता है, कर्म या उपादान नहीं।

शंकराचार्य की मान्यता है कि "जैसे प्रकाश और अन्धकार में विरोध है, वैसे ही विषय तथा विषयी में और उनके धर्मों में भी विरोध है। इसलिए एक दूसरे के भावों की अनुपपत्ति है।" विषय एवं विषयी

---

१. **तत्र ब्रह्माभिध्यातृत्वान्निमित्तकारणम्**
**प्रकृतिश्चाभिध्यातव्यादुपादानकारणम्।**

२. **अभिध्योपदेशाच्चात्मनः कर्त्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति।**—शां० भा० १।४।२४

३. **इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम्॥**—शां० भा० १।१।४

४. **न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।**
**प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति॥**—गौडपादीय कारिका ३।२१

एक नहीं हो सकते, यह तो ठीक है [यद्यपि यह शंकर की अपनी स्थापना '**अभिध्योपदेशाच्चात्मनः कर्त्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति**' के विरुद्ध होने से वदतोव्याघात का एक और उदाहरण है] किन्तु उन्हें प्रकाश तथा अन्धकार की तरह परस्पर-विरोधी बताना युक्तियुक्त नहीं है। विरोध तथा भिन्नता में स्पष्ट अन्तर है। विषय तथा विषयी के भिन्न होने पर भी उनमें परस्पर प्रकाश तथा अन्धकार-जैसा विरोध नहीं है। प्रकाश तथा अन्धकार एक-साथ नहीं रह सकते, क्योंकि प्रकाश के आते ही अन्धकार भाग जाता है। परन्तु विषय के आने पर विषयी नहीं भाग जाता। 'युष्मत्' के आने पर भी 'अस्मत्' बना रहता है। वस्तुतः प्रकाश अन्धकार का तथा अन्धकार प्रकाश का अभावमात्र है। अतएव दोनों एक समय में नहीं रह सकते। 'अस्मत्' तथा 'युष्मत्' अर्थात् कर्त्ता व कर्म एक-साथ रह सकते हैं, किन्तु इससे वे एक नहीं हो जाते। विषय और विषयी दोनों में सम्बन्ध है। सम्बन्ध के लिए दो भिन्न वस्तुओं का अस्तित्व अनिवार्य है, क्योंकि एक के होने पर तो 'सम्बन्ध' शब्द ही उपपन्न नहीं होता।

**प्रवर्त्याभावे प्रवर्त्तकत्वानुपपत्तिः ॥३३॥**

प्रवर्त्य के अभाव में प्रवर्त्तक उपपन्न नहीं होता।

परमेश्वर को प्रवर्त्तकरूप में जाना-माना जाता है। परन्तु जैसे व्याप्य के बिना व्यापक संज्ञा उपपन्न नहीं होती, वैसे ही प्रवर्त्य के बिना प्रवर्त्तक की सिद्धि नहीं हो सकती। शरीर प्रवर्त्य है। उसमें आत्मा प्रवर्त्तकरूप है जो समस्त देह और उसके अवयवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। इसी प्रकार प्रवर्त्तकरूप ब्रह्म का प्रवर्त्य जगत् है। यदि जगत् मिथ्या है और केवल ब्रह्म ही सत्य है तो बिना प्रवर्त्य के प्रवर्त्तक कैसा और प्रवृत्ति कैसी? आनन्दगिरि द्वारा अणुभाष्य में उद्धृत कूर्मपुराण के एक श्लोक में 'प्रवर्त्य' का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है—

**प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः।**
**क्षोभयामास भगवान् सृष्ट्यर्थं जगतो विभुः॥**[1]

अर्थात्—जगत् की सृष्टि करने के निमित्त परमेश्वर ने प्रकृति तथा

---

१. वर्तमान कूर्मपुराण का पाठ निम्न है—
**प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥**
—कूर्म० पु० ४।१३

पुरुष में प्रविष्ट होकर क्षोभ उत्पन्न किया। प्रासंगिक रूप में यहाँ ईश्वर, जीव तथा प्रकृति (पुरुषोत्तम, पुरुष व प्रकृति) तीनों तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन हुआ है।

ब्रह्म के जगत् का उपादान न होने के विषय में दो अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**प्रकृतियोगात् संगापत्तिः ॥३४॥**

प्रकृति के योग से (ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर) संगदोष की प्राप्ति होगी।

यद्यपि ब्रह्म के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ नहीं है कि वह युक्त-अयुक्त अथवा उचित-अनुचित जो चाहे, कर सकता है, तथापि जो करना चाहिए उसके करने में उसे किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। अपना कार्य करने में वह सर्वथा अन्य-निरपेक्ष है। वह प्रकृति का नियमन करता और अपनी व्यवस्थानुसार जगत्सर्ग में उसका उपयोग करता है। किन्तु यदि स्वयं उसे उपादान मानकर प्रकृति को उसका भागीदार स्वीकार किया जाता है तो यह उसकी सर्वशक्तिमत्ता का निषेध होगा। यदि किसी भी रूप में ईश्वर को सृष्टि का उपादान माना जाएगा तो संगदोष के कारण परिणामिनी प्रकृति के समान वह भी परिणामी होगा। **'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति'** इस न्याय के अनुसार प्रकृति के गुणदोष ब्रह्म में प्राप्त होंगे और इस प्रकार ब्रह्म और प्रकृति समान स्तर पर आ जाएँगे।

**सत्तामात्राच्च सर्वैश्वर्यम् ॥३५॥**

सत्तामात्र से (जगत्सर्ग होने पर) सब ईश्वररूप हो जाना चाहिए।

यदि यह माना जाए कि (प्रचलित अर्थों में) सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर प्रकृति-उपादान के बिना, अपने स्वरूप से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है तो मूल उपादान के अनुरूप समस्त संसार पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए, अर्थात् जैसा ईश्वर है वैसा ही समस्त जगत् होना चाहिए, किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। वेदादि शास्त्रों के अनुसार ईश्वर 'सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, **पवित्र** और

सृष्टिकर्त्ता है। पर दृश्यमान जगत् के स्वरूप में ईश्वर के इस स्वरूप का दर्शन नहीं होता। इसलिए जगत् को ब्रह्मरूप या ब्रह्म को जगद्रूप अथवा ब्रह्म को जगत् का उपादान नहीं माना जा सकता।

मकड़ी का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि एक ही तत्त्व निमित्त एवं उपादानकारण हो सकता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तन्तुओं को निकालकर जाला बनाती और अपने भीतर ही उसे समेट लेती है, उसी प्रकार परमात्मा अपने से भिन्न प्रकृति की अपेक्षा किये बिना जगत् की रचना तथा प्रलय करता रहता है। इस प्रकार एक ही तत्त्व के निमित्त तथा उपादानकारण होने को 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण कहते हैं। यह कहाँ तक युक्तियुक्त है, इसकी समीक्षा अगले सूत्र में की गई है।

**नाभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म लूतादिनिदर्शनात् ॥३६॥**

ब्रह्म निमित्तोपादान कारण नहीं है, मकड़ी आदि के समान।

निमित्तकारण स्वयं अविकारी रहते हुए उपादानकारण में विकृति उत्पन्न करके रचना करता है। अविकारी निमित्त तथा विकारी उपादान दोनों एक नहीं हो सकते। निमित्त तथा उपादान का एक या अभिन्न होना कहीं नहीं देखा जाता। बढ़ई को स्वयं मेज़ बनते या जुलाहे को स्वयं वस्त्र बनते कभी नहीं देखा जाता। लकड़ी और सूत के सहयोग से ही बढ़ई और जुलाहा मेज़ और वस्त्र बना पाते हैं। तब ब्रह्म इसका अपवाद कैसे हो सकता है? वस्तुतः न कोई निरवयव-तत्त्व परिणामी हो सकता है और न अपरिणामी तत्त्व किसी का उपादान हो सकता है। यदि यथार्थ सत्ता एक है और वह चेतन एवं इस कारण अपरिणामी है तो वह केवल निमित्तकारण ही हो सकती है, उपादान कदापि नहीं।

उपादानकारण अनिवार्यतः जड़ होता है। जड़ होने से स्वतः उसकी प्रवृत्ति किसी कार्य में नहीं होती। **'सकर्त्तृकैव क्रिया'**—इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के बिना कोई क्रिया नहीं होती और न क्रिया-जन्य किसी पदार्थ की रचना होती है। कर्त्ता वही हो सकता है जो **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्** समर्थ हो। वह अनिवार्यतः चेतन होता है। जड़ उपादान को चेतन के अधीन रहकर उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार कार्य करना पड़ता है। मिट्टी ऐसा कर सकती है, किन्तु कुम्हार

नहीं; वह चेतन होने के कारण स्वेच्छापूर्वक कार्य में प्रवृत्त होता है। तब ये दोनों—सेवक और सेव्य—एक कैसे हो सकते हैं?

**'तदात्मानं स्वयमकुरुत'** (तै० २।६) इत्यादि वाक्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु प्रकरणान्तर्गत पूर्वापर-प्रसंग को देखने पर यह अर्थ संगत नहीं रहता। तैत्तिरीय उपनिषद् के सातवें अनुवाक के प्रारम्भ में बताया है कि सर्ग से पूर्व यह जगत् अव्याकृतनामरूप अवस्था में रहता है, तदनन्तर नामरूप होता है। इसे अव्याकृत से व्याकृत अवस्था में लानेवाला ब्रह्म है। तब स्वभावतः प्रश्न उठा कि जगत् को अव्याकृत से व्याकृत अवस्था में लानेवाला यदि ब्रह्म है तो ब्रह्म को एतदर्थ कौन प्रस्तुत करता है? इसके उत्तर में उपनिषत्कार ने कहा कि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' वह अपने-आपको स्वयं बना लेता है, अर्थात् वह स्वयम्भू चेतनस्वरूप है, इसलिए उसे एतदर्थ प्रस्तुत करनेवाला उससे अन्य कोई तत्त्व नहीं है। छान्दोग्य (६।३।२) में कहा—**'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमांस्तिस्रो देवता ···नामरूपे करवाणि'** उस महती देवता ने ईक्षण किया कि इन तीन देवताओं को नामरूप करूँ। ये तीन देवता सत्त्व-रजस्-तमस् थे। इससे स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ब्रह्म के ईक्षण से पहले ही वर्त्तमान थी। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद में **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (१०।१२१।१) इत्यादि मन्त्र में 'हिरण्यगर्भ' शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति दोनों की संयुक्त संज्ञा है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि 'हिरण्य' (प्रकृति) को गर्भ में धारण किये परमेश्वर पहले से अर्थात् जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में विद्यमान था—'अग्रे समवर्त्तत'। इससे विस्पष्ट है कि जगत्सर्ग से पूर्व निमित्तकारण ब्रह्म तथा उपादानकारण प्रकृति दोनों की एकसाथ पृथक्-पृथक् सत्ता थी। हाँ, व्यवहार न होने से, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में अर्थात् अव्यक्त दशा में थी। उसे गर्भ से किसने निकाला, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त किसने किया?

गर्भस्थ बालक का स्त्री की योनि से निस्सरण या निष्क्रमण होता है। इस प्रकार वह गर्भ का आधार व बाहर आने का द्वार है। अध्यात्म-शास्त्र में ब्रह्म को जगत् की 'योनि' कहा है।[1] उसी के द्वारा गर्भस्थ

1. **कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्**—मु० ३।१।३
**यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।**—मु० १।१।६

(अव्याकृत) प्रकृति व्याकृत अवस्था में आती है। अन्यत्र उपनिषद् में बताया है कि 'उसने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजनन करूँ।'[1] इतना संकल्प करके परमेश्वर चुपचाप नहीं बैठ गया। 'उसने तप तपा। तप तपकर यह सब बनाया, जो यह कुछ है।'[2] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी कहा—**'तपस्तन्महिना जायतैकम्'** (१०।१२९।३)। यदि ईश्वर न होता तो 'तपस्' का प्रेरक कौन होता? तपस् के अभाव में प्रकृति अव्यक्त रहती। यदि प्रकृति पहले से न होती तो तपस् की क्रिया किस पर होती? ईश्वर का तपस् करना प्रकृति में प्रेरणा देना है। वेद-उपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हैं—एक यह कि जगत्सर्ग से पूर्व ईश्वर और प्रकृति दोनों की सत्ता थी। दोनों के सहयोग से ही सृष्टिरचना हुई। उपादान का पहले से ही अस्तित्व होने से यह स्पष्ट है कि विविध नामरूप में परिणत होनेवाली अभिध्यातव्य प्रकृति जगत् का उपादानकारण है, जबकि अभिध्याता ब्रह्म उसका निमित्त-कारण है। दूसरी यह कि यदि प्रकृति के सहयोग के बिना ही ब्रह्म जगद्रूप हो सकता तो उपनिषत्कार उक्त सन्दर्भ में 'इदं सर्वमसृजत' के स्थान पर 'इदं सर्वमभवत्' कहते, अर्थात् 'असृजत' के स्थान पर 'अभवत्' क्रियापद का प्रयोग करते। इस विवेचन से स्पष्ट है कि एक-मात्र ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं उपादान अर्थात् 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में मुण्डक (१।१।७) का यह सन्दर्भ विशेष रूप से विवेच्य है—

**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
**यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥**

अर्थात्—जैसे मकड़ी तन्तुजाल का सृजन करती और उसे समेट लेती है, जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं और जैसे पृथिवी से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही अक्षर से विश्व प्रादुर्भूत होता है।

आपाततः देखने में यह सन्दर्भ ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का प्रतिपादक प्रतीत होता है, परन्तु तनिक-सा विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः यहाँ इन दृष्टान्तों द्वारा जगत् के निमित्त तथा उपादान कारणों का पृथक्-पृथक् होना बताया गया है। जैसा कि

१. **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।**—तै० २।६
२. **स तपोऽतप्यत। तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।**—तदेव

पहले स्पष्ट हो चुका है 'अक्षर'-पद ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों का वाचक है और उसके अर्थ का निर्धारण प्रकरणानुसार पूर्वापर-प्रसंग को देखकर होता है। मुण्डक० (२।१।१) में कहा है—

**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।**
**तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥**

"जैसे अच्छी तरह जलती हुई आग से सहस्रों समानरूप चिंगारियाँ प्रकट होती हैं, वैसे ही अक्षर (तत्त्व) से विविध प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं और अवसर आने पर उसी में लीन हो जाते हैं।" यहाँ 'अक्षर'-पद स्पष्टतः प्रकृति का वाचक है, क्योंकि यहाँ 'अक्षर'-तत्त्व से समानरूप पदार्थों की उत्पत्ति का कथन है। अन्यथा मानने पर सन्दर्भ में पठित 'सरूपाः'-पद असंगत हो जाएगा। प्रकृति-अर्थ मानने पर जड़ जगत् के समान उसका कारण 'अक्षर'-तत्त्व जड़ प्रकृति स्वतः सिद्ध हो जाएगा। इसके अतिरिक्त मुण्डक के अगले ही सन्दर्भ (२।१।२) में 'अक्षर'-पद से वही अर्थ अभिप्रेत है जो पहले सन्दर्भ में है। 'अक्षर'-पद को प्रकृतिवाचक मानने पर ही इस वाक्य की संगति लग सकती है। 'अक्षर' प्रकृति है, 'अक्षर' से 'पर' जीवात्मा और उससे भी 'पर' अर्थात् 'परात्पर' परमात्मा है।

अक्षरब्रह्म जगत् को उत्पन्न करता है, इस अर्थ को युक्तिपूर्वक स्पष्ट करने के लिए उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में तीन दृष्टान्त दिये गए हैं—मकड़ी का जाला बुनना, जीवित मनुष्य से केश-नख आदि का उत्पन्न होना तथा पृथिवी से ओषधियों का प्रादुर्भाव होना। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त को ठीक तरह से समझने के लिए सन्दर्भान्तर्गत 'यथा' 'तथा' और 'सतः पुरुषात्' पदों के स्वारस्य पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम दृष्टान्त के अनुसार जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत् को बनाता है। देखना यह है कि मकड़ी किस प्रकार जाले को बनाती है। एक विशेष प्रकार के भौतिक देह तथा उसमें अधिष्ठित जीव-चेतन के संयुक्त रूप का नाम मकड़ी है। जाला बनाने में उसके प्रकृत देह के अवयवों का उपयोग होता है और इस उपयोग को करनेवाली वह चेतन सत्ता है जो वहाँ अधिष्ठित है। यदि शरीर न हो तो केवल चेतन उस जाले की रचना नहीं कर सकता।

---

१. **दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।**
**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥**

इसी प्रकार यदि चेतन स्फुरण वहाँ न हो तो केवल शरीर जाला बनाने में असमर्थ होगा। इसलिए जाला तभी तक बनता है जबतक मकड़ी जीवित रहती है। न मृत शरीर से जाला बनता देखा गया है और न शरीर से निकलने के बाद मकड़ी की विदेह आत्मा को कहीं जाला बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी की चेतना स्वयं तन्तुजाल में परिणत नहीं होती; चेतना के वहाँ रहते उसके भौतिक शरीर के अंश ही तन्तु-जाल में परिणत होते हैं। इस प्रकार मकड़ी का जड़ शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति में उपादानकारण और उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्त-कारण है। इसी प्रकार व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल जगत् की रचना करता है। ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं होता, उसकी प्रेरणा से प्रकृति ही इस विश्व के रूप में परिणत होती रहती है। यह परमात्मा की विशेषता है कि जहाँ मनुष्यादि निमित्तकारण रचना करके अपनी रचना से पृथक् हो जाते हैं, वहाँ परमात्मा अपनी रचना में व्याप्य-व्यापक-भाव से सदा वर्त्तमान रहता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगद्रचना में परमात्मा निमित्तकारण है और प्रकृति उसका उपादानकारण।

"प्रकृति और परमात्मा के इस सम्बन्ध का पुराणों में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। महादेव और पार्वती की कल्पना का यही आधार है। पुराणों में अर्द्धनारीश्वर महादेव की कल्पना से स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में से कोई एक, दूसरे की उपेक्षा करके, विश्वकार्य का संचालन नहीं कर सकता। इन दोनों के मिलकर रहने में ही कार्य की पूर्णता सम्भव है।[1] इस स्थिति को देखते हुए अनेक विद्वानों को इनके एकत्व की भ्रान्ति हो गई है। वस्तुतः संसार के उपादान—प्रलयादि में इनका परस्पर अपेक्षित सहयोग होने पर भी ये स्वरूप से सदा भिन्न रहते हैं। इस रहस्य को समझने के लिए हमारे जैसी कल्पना का किया जाना अधिक रुचिकर और उपयुक्त हो सकता है। वेद और वैदिक साहित्य में विराट् पुरुष का वर्णन हमारे समान किया गया है, तदनुसार

१. द्रष्टव्य—**वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥**—रघुवंश १।१

**'माये त्वमसि परब्रह्ममहिषी'** (आनन्दलहरी); यजुर्वेद (२९।६०) में **'अदित्यै विष्णुपत्न्यै'** शब्द आते हैं। यहाँ अदिति (प्रकृति) का विष्णु अर्थात् परमात्मा की पत्नी के रूप में उल्लेख हुआ है।

ही उसके अंगों की कल्पना है। वेदों के पुरुषसूक्त इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं। ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि विश्वब्रह्माण्ड जो प्रकृति का परिणत रूप है, परमात्मा का कल्पित शरीर है, उसका आत्मा अथवा स्वरूप नहीं। वह अपने उस शरीर में अन्तर्यामीरूप से अधिष्ठित हुआ उसको प्रेरित व संचालित करता रहता है, ठीक वैसे ही जैसे एक जीवचेतन मकड़ी कहे जानेवाले शरीर में अधिष्ठित हुआ उसे प्रेरित, परिणत तथा संचालित करता रहता है।"[1]

दूसरा दृष्टान्त सद्रूप पुरुष से केश-नख आदि की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है। यहाँ भी सदेह चेतन का नाम पुरुष है—अचेतन देह की संज्ञा शव है और विदेह जीव की आत्मा। शरीर में केश, लोम, नख आदि की उत्पत्ति शरीर के भौतिक तत्त्वों से होती है, आत्मा स्वयं केश-नख आदि के रूप में परिणत नहीं होता। जबतक शरीर में आत्मा बैठा है तभी तक वहाँ केश-नख आदि की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिकों के अनुसार बाल व नाखून उनकी जड़ों में रक्षित कोशिकाओं के कारण बढ़ा करते हैं। उन्हें रक्त-प्रवाह से पोषण मिलता है। मृत्यु होने पर हृदय कार्य करना बन्द कर देता है। परिणामतः कोशिकाओं को रक्त-प्रभाव से पोषण मिलना बन्द हो जाता है और खाल सूखने व सिकुड़ने लगती है। इसलिए बालों और नाखूनों की उत्पत्ति या वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। केश व लोम देह का परिणाम हैं, आत्मा अथवा चेतन पुरुष का नहीं। तथापि 'सतः पुरुषात्' कहने से स्पष्ट है कि चेतन के अधिष्ठातृरूप सद्भाव में ही देह से उनका प्रादुर्भाव सम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्म के अधिष्ठातृत्व में मूल उपादान प्रकृति से यह विश्व उत्पन्न होता है।

उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ में तीसरा दृष्टान्त है—'यथा पृथिव्या-मोषधयः सम्भवन्ति' जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधि आदि के प्रादुर्भाव में पृथिव्यादि तत्त्व केवल निमित्त हैं। उनके उपादान-तत्त्व उनके बीज हैं जो पृथिवी का आश्रय पाकर अंकुरित हो ओषधि—वनस्पतियों में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति से जगत् का परिणाम होने में ब्रह्म उस सबका अधिष्ठान होने से केवल निमित्त-कारण है।

---

१. उदयवीर शास्त्री—सांख्य सिद्धान्त, पृ० ४२९-३०

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी कार्यरूप में परिणत होता है और न चेतन-तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति ही किसी कार्य में परिणत होती है। फलतः यह स्पष्ट परिणाम सामने आता है कि केवल ब्रह्म जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण नहीं है, अपितु वह जगत् के जन्मादि का निमित्त कारण है और प्रकृति उसका उपादान कारण। इसलिए यदि शास्त्र में कहीं इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है तो उसका यही तात्पर्य समझना चाहिए कि वहाँ ब्रह्म के शरीररूप से प्रकृति का विन्यास-कथन है। प्रकृति की ब्रह्म के शरीर-रूप में कल्पना की गई है। वेद-उपनिषद् आदि के अनुसार ब्रह्मसूत्रकार ने भी इस कल्पना को मान्यता दी है।[1] अव्यक्त प्रकृति के ब्रह्मशरीर-रूप में वर्णित होने से ब्रह्म की कारणता में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं है।

एकमात्र तत्त्व विविध रूप में परिणत होता हो, ऐसा भी दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है। ऐसा माननेवाले विभिन्न आचार्य भी अपने कथन को पूरी तरह नहीं निभा सके। प्रकृति नाम से उन्हें चिढ़ थी, क्योंकि वह उनके मत में बाधक बनती थी, परन्तु उसके बिना काम भी नहीं चलता था। अन्ततोगत्वा उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी। केवल कथनमात्र में एकमात्र ब्रह्म को मानकर वे आचार्य माया से ब्रह्म का पीछा नहीं छुड़ा सके। माया उसके साथ लगी ही रहती है। जैसा कि पहले प्रमाणित किया जा चुका है, प्रकृति का ही अपर नाम माया है। प्रकृति के सभी गुण माया में हैं। माया विविधरूपा है, इसलिए जगत् उसका विकार व परिणाम है। जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया नामक तत्त्व के उपादानत्व को कोई नहीं हटा पाया। आचार्य शंकर ने 'परिणाम' के साथ एक कल्पनामूलक 'विवर्त्त'-पद को खड़ा करके इस तथ्य पर पर्दा डालने का प्रयास किया[2] किन्तु वे उसमें सफल नहीं हो सके।

विवर्त्तोपादान अथवा 'विवर्त्त' को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत सूत्र में बद्ध किया है—

---

१. द्रष्टव्य—वेदों में पुरुषसूक्त; कठ० १।३।३, ४, १०, ११; श्वे० द० १।४।१-७
२. **विकारात्मना विवर्त्तते।**—शां० भा० २।२।१

**जगन्मिथ्या विवर्त्तोपादनत्वात् ।।३७।।**

विवर्त्तोपादान के कारण जगत् मिथ्या है ।

इस तथाकथित दृश्य जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जो कुछ दीखता है, वह सब मिथ्या है। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि परमात्मा अपने को जगद्रूप में परिणत कर लेता है। वह वस्तुओं को उत्पन्न करता है, केवल उसी भाँति जिस प्रकार एक रज्जु सर्प का रूप धारण कर लेती है, किन्तु यथार्थ में वह सर्प नहीं होती।[1] वह केवल माया के द्वारा अनेक रूप में परिणत प्रतीत होती है, अपने-आपमें नहीं।[2] अतएव जगत् का अस्तित्व उन्हीं लोगों के लिए है जो अविद्या के प्रभाव में हैं, जैसे कि कल्पनात्मक सर्प ऐसे ही मनुष्यों के लिए है जिन्हें अँधेरे के कारण रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है। न होते हुए जगत् दिखाई पड़ता है—वास्तव में यह न पहले था, न अब है और न आगे कभी होगा। उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीतिमात्र हैं। वास्तव में न कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है।[3] इस प्रकार जैसे रस्सी में किसी प्रकार का विकार आये बिना रस्सी का साँप बन जाता है, वैसे ही ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार आये बिना वह जगद्रूप हो जाता है। विकार तभी कहा जा सकता है जब इससे कुछ उत्पन्न हो। जब न कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट, तब ब्रह्म में किसी प्रकार के विकार का प्रश्न ही नहीं उठता।

जगत् का उपादान कारण माना जाने पर ब्रह्म विकारी सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। शंकराचार्य से परवर्ती विद्वानों ने एक पारिभाषिक पद 'विवर्त्त' का उद्भावन किया जिससे ब्रह्म को परिणामी या विकारी होने से बचाया जा सके। 'विवर्त्त'-पद का प्रयोग तो शंकर ने किया, किन्तु उनके समय में ऐसी किसी परिभाषिकता का अस्तित्व न था। वास्तव में यह 'विवर्त्त' क्या है ?

**अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्त्तः ।।३८।।**

तात्त्विक परिवर्तन हुए बिना वस्तु का अन्यथा दीख पड़ना विवर्त्त है।

---

१. गौडपादीय कारिका—३।२७, २।१७

२. वही ३।२७

३. वही २।३२

'विवर्त्त' का यौगिक (धातुज) अर्थ है 'विपर्यास' या उलट जाना। कुछ-का-कुछ दिखाई देना विपर्यास या विवर्त्त कहाता है। विवर्त्त प्रातिभाषिक सत्ता है।[1] सामने पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु (रस्सी या लकड़ी) को झुटपुटे में देख उसे सर्प समझकर हम भय के मारे दूर हट जाते हैं; किन्तु अनन्तर काल में प्रकाश होने पर उसकी वास्तविकता को जानकर इसका अभिलापन करते हैं। इससे सर्पज्ञान बाधित हो जाता है। सर्पज्ञान के इस अस्तित्व को प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। प्रतीतिकाल में सर्पज्ञान सत्य है। जितने काल तक द्रष्टा को सर्प का ज्ञान रहेगा उतनी देर तक तो सर्प का अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि उस ज्ञान से उत्पन्न भय आदि चिह्न प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं; परन्तु बाद में बाधित हो जाने से वह ज्ञान मिथ्या कहलाएगा। ऐसा ज्ञान क्षणिक होता है, अतएव उससे व्यवहार नहीं होता।[2] निरपेक्ष ब्रह्म का देश-कालबद्ध जगत् के रूप में प्रतीत होना विवर्त्त है। विवर्त्त की अवस्था में जगत् ब्रह्म के अन्दर वैसे ही अवस्थित रहता है, जैसे रज्जु में सर्प।

**विवर्त्तोनामविषमसत्ताककर्मापत्तिः ॥३६॥**

कारण से भिन्न वर्ग का कार्य विवर्त्त है।

परिणाम की अवस्था में कारण तथा कार्य दोनों यथार्थता के समान भाव से रहते हैं, जबकि विवर्त्त की अवस्था में कार्य, कारण से भिन्न

---

१. शांकर वेदान्त में तीन प्रकार की सत्ता मानी गई है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक। जिस वस्तु का अस्तित्व त्रिकालाबाधित हो, वह पारमार्थिक सत्ता है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है। किसी एक अधिकरण में अन्य वस्तु तथा उसके धर्मों का आभास होना प्रातिभासिक सत्ता है। प्रातिभासिक अथवा भ्रमात्मक सत्ता में सार्वभौमिकता नहीं होती। वह किसी-किसी को किसी-किसी अवसर पर उदय होती है। इसमें क्रियात्मक क्षमता नहीं होती। प्रतीतिरूप सत्ता का भ्रमात्मक भाव इसके अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाता है। जगत् ऐसी ही सत्ता है। जिसका अस्तित्व संसार-दशा में व्यवहार के लिए सत्य माना जाता है, वह व्यावहारिक सत्ता है। मिथ्या तथा स्वप्नजगत् की अपेक्षा व्यावहारिक जगत् सत्य है। वह आत्माओं का जगत् है, किन्तु यथार्थ में इसका मूल ब्रह्म में है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर इस प्रकार की सत्य भावना का नाश हो जाता है। (तुलना करें—माण्डूक्य पर शांकरभाष्य के सम्बन्ध में आनन्दगिरि की टीका—**'ब्रह्मण्येव जीवो जगत् ईश्वरश्चेति सर्वं काल्पनिकं सम्भवति।'**

२. **यदिदं दृश्यते किंचित् नास्ति किमपि ध्रुवम्।**
**यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले॥**—योगवासिष्ठ

सत् के एक भिन्न प्रकार के वर्ग का होता है।[1] जो अपने में किसी प्रकार का परिवर्त्तन लाये बिना कार्य को उत्पन्न करता है, अर्थात् 'विवर्त्तोपादान' रूप कारण को 'परिणामोपादान' कारण से (जहाँ स्वयं कारण कार्यरूप में परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है) भिन्न प्रकार का बनाता है। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो वह परिवर्त्तन अथवा परिणाम कहाता है और जब रस्सी साँप के रूप में प्रतीत होती है तो वह आभास या विवर्त्त कहाता है। जगत् यद्यपि ब्रह्म के ऊपर आश्रित है, तो भी ब्रह्म का विवर्त्त होने के कारण ब्रह्म के स्वरूप को प्रभावित नहीं करता। परिणाम तथा विवर्त्त दोनों में अन्यथा-भाव होता है—एक में ज्ञेय की अपेक्षा से और दूसरे में ज्ञाता की अपेक्षा से। परिणाम में वस्तु बदल जाती है, जैसे दूध दही बन जाता है। विवर्त्त में वस्तु बदलती नहीं, किन्तु द्रष्टा को अन्यथा प्रतीत होती है, जैसे रस्सी का साँप हो नहीं जाता, वह साँप दीखताभर है। दूसरे शब्दों में, जहाँ किसी वस्तु का अन्य वस्तु हो जाना 'परिणाम' है, वहाँ किसी वस्तु का अन्य वस्तु न होने पर भी वैसा समझा जाना 'विवर्त्त' है।

पहले परिणाम होकर विवर्त्त हो सकता है, जैसे पहले सन से रस्सी बनी और कालान्तर में कभी सर्प प्रतीत होने लगी, अथवा पहले जल से बर्फ़ बनी और फिर वह दूर से रूई प्रतीत होने लगी। परन्तु पहले विवर्त्त हो और फिर गुणपरिणाम अर्थात् पहले रज्जु में सर्प की प्रतीति हो और फिर सन से रस्सी बने—यह कदापि नहीं हो सकता।[2]

विवर्त्त का कारण अध्यास अथवा अध्यारोप है, इसलिए अध्यास का स्वरूप बताते हैं—

---

१. **परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः विवर्त्तो नाम उपादानविषम-सत्ताककार्यापत्तिः।—वेदान्तपरिभाषा, १**

२. "विवर्त्तवाद का मुख्य उद्देश्य इतना ही दिखला देना है कि एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों से दीख पड़ना सम्भव है। यह उद्देश्य सफल हो जाने पर, अर्थात् जहाँ विवर्त्तवाद से यह सिद्ध हुआ कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य दीख पड़ना शक्य है वहाँ वेदान्तशास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुणपरिणाम से हुआ है।"

—तिलक-गीता-रहस्य, पृ० २४२

तिलक की यह स्थापना तर्कप्रतिष्ठित नहीं है।

**परत्र परावभासोऽध्यासः रज्ज्वां सर्पस्येव ॥४०॥**

अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीति होना अध्यास है, रज्जु में सर्प की भाँति ।

किसी तत्त्व में वे धर्म बताना जो उसके न हों और इसके परिणाम-स्वरूप जहाँ जो वस्तु नहीं है, उसकी प्रतीति करना 'अध्यास' कहाता है, जैसे रज्जु में सर्प की, सीप में चाँदी की अथवा बालू में जल की प्रतीति करना । दूसरे शब्दों में यह 'अन्यथाख्याति' अर्थात् अन्य वस्तुओं में अन्य की प्रतीति है । यह ऐसा ज्ञान है जिसका कालान्तर में प्रत्याख्यान हो जाता है । इसलिए यह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है । प्रचलित भाषा में इसे भ्रम या भ्रान्ति कहते हैं । जब हम भूल से रस्सी को साँप समझ बैठते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि 'यह साँप है' तो हमारे समक्ष दो अवयव होते हैं—'यह' जो इन्द्रियों के सामने है और 'साँप' जिसे हम 'यह' कहते हैं । पिछला उस वृत्ति या आकृति का वर्णन करता है जिस रूप में हम प्रस्तुत सामग्री का बोध करते हैं । निर्णय पर पहुँचने में भूल व्याख्या के अवयव के कारण है, अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचार ऊपर से आरोपित करता है । 'यह' का अवयव अथवा जो कुछ वस्तुतः हमारे सामने उपस्थित है, भ्रान्ति होने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है, केवल दूसरे अवयव 'साँप' का लोप हो जाता है ।

वास्तविक सत्य और असत्य होने का बोध अनन्तर काल में होने-वाली परीक्षा पर आधारित रहता है । जैसे रज्जु में सर्प होता है, वैसे ही कभी-कभी सर्प में रज्जु का भ्रम भी हो जाता है । इसलिए यदि वह हमारी कल्पना के अनुरूप है तो वह ज्ञान सत्य है । यदि वह हमारी कल्पना के विपरीत है अर्थात् रज्जु के स्थान पर सर्प और सर्प के स्थान पर रज्जु सिद्ध होता है तो वह असत्य है । तात्पर्य यह है कि 'सर्प है' या 'रज्जु है' यह ज्ञान सर्वत्र-सर्वदा असत्य नहीं होता । सादृश्य एवं अप्रकाश के निमित्त से उत्पन्न भ्रम का निवारण अपेक्षित प्रकाश होने पर हो जाता है । वस्तुतः अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ न हो, वही सत्य है ।[1] एक बोध केवल इसलिए यथार्थ नहीं है कि वह किसी पदार्थ को

१. अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम् ।

—भामती १।१।४;

अबाधितार्थविषयज्ञानत्वम् ।—वेदान्तपरिभाषा

उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिस रूप में वह वस्तुतः है और न वह केवल इसीलिए असत्य है कि वह वस्तु को अन्य रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु वह इसलिए यथार्थ है कि इसका विषय अन्त में जाकर असत्य सिद्ध नहीं हुआ और इसलिए असत्य है कि अन्त में जाकर इसके विषय का निराकरण हो गया।[1] सीधी छड़ी जल में पड़कर झुकी हुई प्रतीत होती है। जल के अन्दर उसका टेढ़ापन आँख के लिए उतना ही यथार्थ है जितना स्पर्शेन्द्रिय के लिए उसका सीधापन। किन्तु स्पर्श आँख के मिथ्या निर्णय को सुधार देता है। इसलिए छड़ी का टेढ़ा दीखना असत्य है।

आभास का स्वरूप क्या है ?

**स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः ॥४१॥**

पूर्वदृष्ट का अन्यत्र आभास स्मृतिरूप है।

शंकराचार्य ने रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से विश्व की पहेली को समझाने का प्रयास किया था। परन्तु सुलझने के स्थान पर यह समस्या और उलझकर रह गई। राधाकृष्णन के शब्दों में "रज्जु सर्प कैसे प्रतीत होती है, एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लड़के उठाते हैं और दार्शनिक उत्तर देने में असफल होते हैं।"[2] वस्तुतः अध्यास के स्वरूप को न समझकर ही इस दृष्टान्त का दुरुपयोग हुआ है। अध्यास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति तथा परत्र। हमने कभी वास्तविक सर्प को प्रत्यक्ष देखा—यह हमारा पूर्वदृष्ट है। हमारे भीतर उसका संस्कार रहा जो समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आ गया। वर्त्तमान में प्रस्तुत रज्जु 'परत्र' है जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास हुआ। रज्जु में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने, वहाँ न सही, कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी, वास्तविक सर्प देख रक्खा हो। तब सर्प को असत् या अवस्तु नहीं माना जा सकता। यदि कभी-न-कभी और कहीं-न-कहीं सर्प का सद्भाव न होता तो 'नासतो विद्यते भावः' इस न्याय के अनुसार कहाँ से आ जाता ? तब न उसका संस्कार रहता और न उसकी स्मृति। एक व्यक्ति एक स्थान

---

१. अद्वैतसिद्धि १।१२

२. Why does the rope appear as a snake, is a question which school-boys raise and philosophers fail to answer.

—Ind. Phil. Vol. II, p. 570

पर दृश्य था। वहाँ से अन्यत्र चले जाने पर उसे 'असत्' या 'नहीं है' नहीं कहा जा सकता।

**अद्वैतमतेऽध्यासानुपपत्तिरध्यासस्य वस्तुद्वये प्रवर्त्तनात् ॥४२॥**

अध्यास के दो वस्तुओं के आश्रित होने से अद्वैतमत में अध्यास सिद्ध नहीं होता।

अद्वैतवाद अध्यासाध्यासिद्रूप है। ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में शंकराचार्य 'अध्यास' का लक्षण करते हुए लिखते हैं—**"अध्यासो नाम सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति—शुक्तिका हि रजतवदवभासते।"** अर्थात् 'अन्य में अन्य के धर्म की प्रतीति' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं है—शुक्ति ही रजत के समान प्रतीत होती है। (शां० भा० उपोद्घात)। शंकर स्वामी पुनः लिखते हैं—**"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम।"** अर्थात् अन्य में अन्य की बुद्धि अध्यास है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं—(शां० भा० उपोद्घात)। यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उससे भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं तो 'अन्य में अन्य का आभास' अथवा 'अन्य में अन्य की बुद्धि' आदि कथन कैसे किया जा सकता है? 'कुछ' का 'कुछ' तबतक नहीं दीख सकता जबतक 'दो कुछ' न हों। 'शुक्तिका रजतवदवभासते' इस उदाहरण में 'शुक्ति' और 'रजत' का एक-दूसरे से भिन्न अथवा पृथक् होना तथा एक समय में वर्त्तमान होना सर्वथा स्पष्ट है। केवल शुक्ति अथवा केवल रजत के होने पर अध्यास की कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार रज्जु में सर्प का अध्यास या विवर्त्त तभी सम्भव है जब रज्जु और सर्प दोनों की सत्ता को स्वीकार किया जाए। उपोद्घात में ही अध्यास के सन्दर्भ में चिदात्मक एवं अचिदात्मक वस्तुओं के रूप में द्वैत का उपपादन करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—**"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्मणां चाध्यासः।"** अर्थात् अन्धकार तथा प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाववाले 'युष्मत्' (तुम) और 'अस्मत्' (हम) प्रतीति के विषयभूत विषय और विषयी की इतरेतरभाव (तादात्म्य) की अनुपपत्ति सिद्ध होने पर उनके धर्मों की भी सुतरां इतरेतरभाव की अनुपपत्ति है, इसलिए 'अस्मत्' प्रतीति के विषयभूत चैतन्यस्वरूप विषयी में 'युष्मत्' प्रतीति के विषयभूत विषय

और उसके धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। शंकराचार्य के इस कथन से चिदात्मक तथा अचिदात्मक, अथवा जड़ व चेतन, अथवा विषय व विषयी वस्तुद्वय की सत्ता स्वतः सिद्ध है। इस विवेचन से विस्पष्ट है कि एक समय में वर्त्तमान दो पृथक् सत्ताओं के विना अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती।

**न ब्रह्मण्यध्यस्तं जगत् प्रत्याख्यानासम्भवात् ॥४३॥**

जगत् ब्रह्म में अध्यस्त नहीं है, प्रत्याख्यान सम्भव न होने से।

शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है, जैसे रज्जु में सर्प का। इसलिए यह अध्यस्त सर्प के समान मिथ्या है। एक-मात्र ब्रह्म यथार्थ सत्ता है, शेष सब अज्ञान के कारण प्रतीतिमात्र है।[1] मधुसूदन सरस्वती के मत में अज्ञान ही भ्रान्तिमय जगत् का कारण है।[2] वाचस्पति मिश्र का कथन है कि अविद्या आँख के ऊपर आई झिल्ली के समान विषय के यथार्थस्वरूप को आवृत्त कर देती है। उसने जगत् की विषयीनिष्ठ व्याख्या को स्वीकार किया है।[3] वह समझता है कि ब्रह्म के ऊपर जो भिन्न-भिन्न रूप अध्यस्त किये जाते हैं, वे सब अन्तःकरणों के परिवर्त्तनों के कारण हैं। चित्सुखी, अद्वैतसिद्धान्तमुक्तावली और योगवासिष्ठ आत्मवाद का आश्रय लेते हुए बलपूर्वक कहते हैं कि हमारा चैतन्य ही जगत् की उत्पत्ति करता है और इसलिए विषयी-विषय-सम्बन्धी चैतन्य के विलोप हो जाने पर वह असत् हो जाता है। समस्त चराचर जगत् मन का विषय है, इसके दमन से सारा द्वैत विलुप्त हो जाता है।[4] इस प्रतीयमान विश्व का मूल चित्त के अन्दर है और चित्त के विलुप्त हो जाने पर इसका भी अस्तित्व नहीं रहता।[5] इस प्रकार देशकाल तथा कार्य-कारण-भावरूपी ढाँचों में प्रविष्ट

---

१. **एकत्वं पारमार्थिकं मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्।**
—शां० भा० २।१।१४;

**अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चम्।**—शां० भा० १।३।१

२. **अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते।**—अद्वैतसिद्धि, पृ० २३८

३. **जीवाश्रयं ब्रह्मविषयम्।**

४. **मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् सचराचरम्।**
**मनसो ह्युन्मनोभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते॥**
—देखें योगवासिष्ठ जीवमुक्ति सम्बन्धी अध्याय

**चित्तमात्मतमसाजनितं परिकल्पयत्यखिलं जगत्।**—संक्षेपशारीरक

५. **चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन।**—विवेकचूडामणि पृ० ४०७

विविधताओं से पूर्ण जगत् प्रतीतिमात्र है। यथार्थ वह है जो सब कालों में रहता है। जो आज है, कल नहीं वह यथार्थ नहीं है। ब्रह्म में अध्यस्त आनुभविक जगत् तीनों कालों में नहीं रहता। जैसे ही अन्तर्दृष्टि से यथार्थ का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वैसे ही उसका प्रत्याख्यान हो जाता है।

अध्यास के विषय में और चाहे कहीं भी मतभेद हो, एक बात में सर्वत्र सहमति है कि अन्य में अन्य की प्रतीति अध्यास है,[1] जैसे रज्जु में सर्प की अथवा सीप में चाँदी की। परन्तु शंकराचार्य एक ओर तो अध्यास को अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक बताते हैं[2] और दूसरे ही क्षण उसे दूर करने के लिए प्रेरित करते हैं।[3] रस्सी सदा साँप प्रतीत नहीं होती और न साँप ही सदा रस्सी प्रतीत होता है। प्रायः रस्सी रस्सी और साँप साँप दिखाई पड़ते हैं। रस्सी में साँप की और साँप में रस्सी की प्रतीति तो कभी-कभी होती है। इसी प्रकार सीप में चाँदी की और चाँदी में सीप की प्रतीति कभी-कभी होती है। ऐसी अवस्था में अध्यास को अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक कैसे माना जा सकता है? और यदि, दुर्जनतोषन्याय से, यह मान लिया जाए कि वह वास्तव में अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक है, तो उसका अन्त कभी नहीं होगा। जिसे शंकराचार्य स्वयं 'अनन्त' कहते हैं, उसका अन्त करने की बात कहना सर्वथा उपहासास्पद एवं असंगत है। कितने ही वेदान्त प्रयास करें, 'अनन्त' और वह भी 'नैसर्गिक' का प्रहाण नहीं कर सकेंगे। अग्नि में औष्ण्य अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक है। उसका तिरोभाव भले ही हो जाए, प्रहाण कभी नहीं हो सकता।

फिर, अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक व्यवहार में अध्यास की सिद्धि कैसे होगी? अध्यास के अनन्त होने का अर्थ होगा कि रस्सी में साँप की, सीप में चाँदी की और बालू में जल की प्रतीति सदा बनी रहेगी। दीपक की तो बात ही क्या, प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश में भी उनका अध्यस्त रूप ही दीखेगा। तब यह कैसे सिद्ध होगा कि यह वस्तुतः रस्सी है, साँप नहीं; सीप है, चाँदी नहीं; बालू है, जल नहीं, क्योंकि जब भी

---

१. सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।—शां० भा० १।१।१
२. अयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः।—तदेव
३. अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।
—तदेव

देखेंगे, अध्यास के अनन्त होने से वे सदा साँप, चाँदी और जल ही दीखेंगे, और जब यही बात ब्रह्म तथा जगत् को लक्ष्य करके कही जाएगी तो इसका अर्थ होगा कि ब्रह्म में जगत् की प्रतीति सदा बनी रहेगी। और जब, अध्यास के कारण ही सही, जगत् अनादि और अनन्त हो जाएगा तो वह मिथ्या न रहकर ब्रह्म के सदृश सत्य तथा नित्य हो जाएगा, क्योंकि उस अवस्था में ब्रह्म में जगत् की प्रतीति त्रिकाला-बाधित होने से प्रतीति या आभास न रहकर सत्य ज्ञान में परिवर्त्तित हो जाएगी।

एक और बड़ी विचित्र बात शंकराचार्य कहते हैं—"यह अध्यास मिथ्या है, किन्तु अनादि और अनन्त है। इसी से मनुष्य की कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रवृत्ति है।"[1] जो मिथ्या है वह अनादि और अनन्त कैसे हो सकता है और जो अनादि-अनन्त होने से तीनों काल में विद्यमान है—जिसका कभी प्रत्याख्यान नहीं होता—वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? और यदि अध्यास के कारण ही मनुष्य की कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व में प्रवृत्ति है तो अध्यास के नित्य होने से कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व में प्रवृत्ति सदा बनी रहेगी। अध्यास नैसर्गिक है तो तज्जन्य प्रवृत्ति भी नैसर्गिक है। इस प्रकार भोक्तृत्व में मनुष्य की प्रवृत्ति अनादि, अनन्त एवं नैसर्गिक होने से वह कभी भी बन्धन से मुक्त होकर मोक्षलाभ नहीं कर सकेगा। तब एतदर्थ किया जानेवाला समस्त पुरुषार्थ व्यर्थ होगा।

रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में सर्प उतना ही सत्य है जितनी रज्जु—

**न सर्पोऽपदार्थः देशान्तरे तस्य सत्त्वात् ॥४४॥**

सर्प अपदार्थ=अभावरूप नहीं है, देशान्तर में उसका अस्तित्व होने से।

जब हम किसी वस्तु का, उसे अयथार्थ कहकर, निराकरण करते हैं तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थ सत्ता के सम्बन्ध से ही करते हैं। भावात्मक के सन्दर्भ में ही हम अभावात्मक को नकारते हैं। कोई वस्तु कहीं नहीं है, यह तभी कहा जा सकता है जब हम उस वस्तु के भावात्मक अस्तित्व को अन्यत्र स्वीकार करते हों। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति वस्तु से होती है। कार्यमात्र का उपादान वस्तुभूत होना चाहिए। स्वप्न

---

१. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो प्रत्ययरूपः कर्त्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्त्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।—शां० भा० १।१।१

अथवा भ्रान्तिस्थलों में भी प्रतीति का कारण अथवा उसका आधार अवास्तविक नहीं हो सकता। जहाँ हमें रज्जु में सर्प का अथवा शुक्ति में रजत का भ्रम होता है वहाँ, यद्यपि सर्प तथा रजत नहीं हैं, तथापि जबतक वास्तविक सर्प तथा रजत का ज्ञान नहीं होगा तबतक रज्जु आदि में इस प्रकार की प्रतीति असम्भव है। ऐसे स्थलों में भ्रम केवल इतना है कि हम वास्तविक सर्प को ऐसी जगह में समझ लेते हैं जहाँ वह उस समय नहीं है। परन्तु जहाँ हमने वास्तविक सर्प को समझा है, वहाँ यदि वह नहीं है तो, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उसका वास्तविक अस्तित्व कहीं भी नहीं है।

रज्जु में सर्प का अभाव था। मन में सर्प पैदा नहीं होते। फिर वह कहाँ से आ गया? बात यह है कि मन में साँप भले ही न हो, परन्तु उसका संस्कार रहता है। संस्कार देखे-सुने का होता है। रस्सी को देखकर उसके सादृश्य से साँप की स्मृति हो गई और उस संस्कार को रस्सी पर आरोपित करके हम उसे सर्प समझने की भूल कर बैठे। यदि किसी ने जीवन में वास्तविक सर्प कभी न देखा हो और उसकी आकृति का संस्कार मन में न हो तो उसे रज्जु में सर्प की प्रतीति कभी नहीं होगी। यदि अवस्तु की प्रतीति सम्भव हो तो रज्जु में अनिवार्य-रूप से सर्प की ही प्रतीति क्यों हो, गाय या घोड़े की क्यों नहीं?

सीप पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो अधिक चमक के कारण वह चाँदी जान पड़ती है। देखनेवाला उसे उठाने के लिए लपकता है, किन्तु हाथ में लेते ही उसे फेंक देता है, यह कहते हुए कि मैं तो इसे चाँदी समझा था, पर यह तो सीप निकली। यहाँ सीप सद्रूप में विद्यमान है। सीप-अधिकरण में चाँदी का बोध होता है जिसका वहाँ सद्रूप में अभाव है। शांकर-सम्प्रदाय में इसका अभिलापन इस प्रकार किया जाता है—"सीप-अधिकरण में अज्ञान से चाँदी का आभास होता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूप सत्-अधिकरण में माया अथवा अज्ञान के कारण असद्रूप जगत् का आभास होता है। वस्तुतः जगत् की कोई सत्ता नहीं है।"

सीप में भासित चाँदी सीपस्थल में न होते हुए भी अन्यत्र सद्रूप में विद्यमान रहती है—इसे झुठलाया नहीं जा सकता। स्वप्न में उन्हीं वस्तुओं की प्रतीति होती है जिनका जागृतावस्था में अनुभव हुआ हो। स्वप्नप्रतीति में व्यतिक्रम भले ही हो जाए पर सर्वथा अननुभूत वस्तु

का बोध स्वप्न में सम्भव नहीं। इसीलिए जन्मान्ध व्यक्ति को रूप अथवा रूपवद्वस्तु का स्वप्न नहीं होता। एतद्विषयक समस्त दृष्टान्तों की यही स्थिति है।

**नासद्रूपं जगत् पूर्वदृष्टत्वात् ।।४५।।**

जगत् असद्रूप नहीं है, पूर्वदृष्ट होने से।

पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति तथा परत्र के बिना अध्यास उपपन्न नहीं होता। किसी समय वास्तविक सर्प का प्रत्यक्ष हमारा 'पूर्वदृष्ट' है। 'पूर्वदृष्ट' का संस्कार समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आता है। कालान्तर में प्रत्यक्ष रज्जुरूप 'परत्र' में पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास होता है। वर्त्तमान जगत् को मिथ्या अथवा अध्यास सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि पहले कहीं-न-कहीं वास्तविक जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया जाए जिसका कभी-न-कभी प्रत्यक्ष हुआ हो, फिर उसकी स्मृति रही हो और वर्त्तमान में उसका परत्र हो। यदि कभी कहीं वास्तविक जगत् था ही नहीं तो वह पूर्वदृष्ट नहीं हो सकता। पूर्वदृष्ट न होने पर न उसकी स्मृति रहेगी और न स्मृति के अभाव में परत्र में पूर्वदृष्ट का अध्यास हो सकेगा। सीप में आभासित चाँदी सीपस्थल में न होते हुए भी अन्यत्र सद्रूप में विद्यमान होती है। क्या इसी प्रकार ब्रह्म में आभासित या अध्यस्त जगत् की सत्ता अन्यत्र रहती है? यदि रहती है तो ब्रह्मातिरिक्त जगत् की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि नहीं रहती तो सर्वथा 'असत्' का आभास कैसे सम्भव है?

फिर, जब ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता ही नहीं तो अध्यास का अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों ब्रह्म ही होगा, अर्थात् ब्रह्म में ब्रह्म का आभास होगा और तब वह जगद्रूप में भासेगा। पर स्वयं आभासित होकर वह अपने स्वरूप से अर्थात् ब्रह्मरूप से भासना चाहिए, जगद्रूप से नहीं। इतना ही नहीं, अन्य का अन्य में आभास पानेवाला—भ्रमित होनेवाला द्रष्टा भी चाहिए। इस प्रकार अध्यास की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए अध्यस्त पदार्थ, अध्यास का अधिष्ठान और अध्यास करनेवाला—इन तीन सत्ताओं का होना अनिवार्य है। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त, ब्रह्म को एकमात्र सत्ता मानने पर, जगत् का ब्रह्म में अध्यास सिद्ध करने के लिए उपयुक्त नहीं रहता।

एक बात और भी विचारणीय है। अन्य का अन्य में आभास होता

है सही, किन्तु वहीं जहाँ ग्राभासित वस्तु स्वयं न हो। ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है। जो स्वरूपेण सब जगह है, उसका ग्राभास कहीं कैसे हो सकता है ? जहाँ चाँदी स्वतः सद्रूप में विद्यमान है वहाँ उसका ग्राभास सम्भव नहीं। ब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने ग्रौर जगत् को ग्रभावरूप मानने पर ग्रध्यास की प्रक्रिया पूरी होना सम्भव नहीं।

'पूर्वदृष्ट' के कारण उत्पन्न ग्रड़चन को दूर करने के लिए कहा जाता है कि पूर्वदृष्ट जगत् भी ग्रध्यासरूप था। स्मृति वास्तविक घटना या पदार्थ की न होकर ग्रध्यास की स्मति थी। जिस सर्प की स्मृति के कारण हमने वर्त्तमान में रज्जु को सर्प समझा, वह स्मृति भी ग्रध्यस्त (मिथ्या) सर्प की थी। यदि हम इसी प्रकार ग्रध्यास की मीमांसा करते जाएँ तो ग्रनवस्था-दोष ग्रा जाएगा। इसलिए वर्त्तमान में ग्रध्यास को सिद्ध करने के लिए कभी-न-कभी उस ग्रध्यास का ग्रारम्भ मानना होगा जो वास्तविक पदार्थ को देखने से हुग्रा था।

ग्रध्यास का ग्राधार भ्रान्ति है। तब भ्रान्ति का क्या स्वरूप है ?

**सादृश्यजन्यमज्ञानं भ्रान्तिः ॥४६॥**

सादृश्य के कारण उत्पन्न ग्रज्ञान भ्रान्तिरूप है।

भ्रान्ति का होना ग्रपने-ग्रापमें इस बात का प्रमाण है कि कहीं-न-कहीं सम्यक् ज्ञान का ग्रस्तित्व है। यदि सम्यक् ज्ञान न हो तो भ्रान्ति भी कभी न हो। वास्तव में सम्यक् ज्ञान का ग्रभाव ही भ्रान्ति है। जिस प्रकार स्वास्थ्य के बिना रोग की, जाग्रत् के बिना सुषुप्ति की ग्रौर सत्य के बिना ग्रसत्य की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सम्यक् ग्रथवा यथार्थ ज्ञान के बिना भ्रान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। मृगतृष्णिका की प्रतीति बताती है कि कहीं सचमुच का जल भी होता है।

किसी वस्तु का जो ग्रंश हम देखते हैं, वह स्वरूप में उसके समान वस्तु का स्मरण कराता है। भ्रान्ति की प्रत्येक ग्रवस्था में दो यथार्थ वस्तु-सत्ताग्रों का संकेत होता है—एक प्रस्तुत वस्तु का ग्रौर दूसरा स्मृत वस्तु का। जिसने कभी वास्तविक सर्प नहीं देखा, उसे रज्जु में सर्प की या सर्प में रज्जु की भ्रान्ति कभी नहीं होगी, क्योंकि एक को देखकर उसे उसके समान दूसरी वस्तु का स्मरण नहीं होगा। ग्रभाव-रूप पदार्थ सब समान हैं। रज्जु में सर्प नहीं है तो गाय-घोड़ा भी नहीं हैं। फिर, क्या कारण है कि रज्जु में सर्प की ही भ्रान्ति होती है, गाय

या घोड़े की नहीं ? स्पष्ट है कि रज्जु और सर्प में सादृश्य होने और इस कारण रज्जु को देखने पर तत्सदृश सर्प का स्मरण हो आता है, गाय या घोड़े का नहीं। इसीलिए रज्जु में तत्सदृश सर्प की भ्रान्ति होती है।

भ्रान्ति में भी सत्य का अंश अवश्य रहता है। उसी के कारण भ्रान्ति होती है। दूध में जल मिला दिये जाने पर उसमें दूधबुद्धि हो जाती है, क्योंकि वह जल दूध के सदृश हो जाता है। परन्तु दूध में मक्खी पड़ने पर उसमें दूध का धोखा कभी नहीं होता। स्पष्ट है कि धोखे की बुनियाद भी वास्तविकता है। असत्य-व्यवहार सत्य के नाम पर अथवा उसकी आड़ में ही चलता है।

**न निरास्पदा सर्वकल्पनामूलत्वात् ॥४७॥**

बिना आधार के (भ्रान्ति) नहीं, कल्पनामात्र का आधार होने से।

यदि हम समस्त संसार को काल्पनिक मान लें, तो भी उस कल्पना का कुछ-न-कुछ आधार होना आवश्यक है, क्योंकि कल्पनात्मक वस्तुएँ भी बिना किसी आधार के नहीं ठहर सकतीं। सर्प की सत्ता का भान होने के लिए किसी वैसे आश्रय का होना आवश्यक है। यदि रज्जु न होती तो सर्प का अस्तित्व उभर कर न आता। रज्जु न होती तो वैसा ही डण्डा होता अथवा किसी टेढ़ी-मेढ़ी वस्तु की रेखा-सी होती। भावात्मक वस्तु का अभावात्मक वस्तु से सम्बन्ध नहीं हो सकता। भावात्मक रज्जु को देखकर अभावात्मक सर्प की कल्पना नहीं की जा सकती। भ्रान्तिरूप सर्प की उत्पत्ति शून्य से नहीं होती और जब भ्रान्ति दूर हो जाती है तो वह शून्य नहीं हो जाता। रज्जु सर्प के समान प्रतीत होती है और जब भ्रान्ति का अन्त हो जाता है तो वह भ्रान्तिरूप सर्प रज्जु के असली रूप में लौट जाता है।

एक वन्ध्या स्त्री किसी बच्चे को जन्म नहीं दे सकती—न यथार्थ में और न भ्रान्ति में।[1] यदि जगत् को निराधार माना जाए अथवा इसकी उत्पत्ति असत् से मानी जाए तो यथार्थमात्र का खण्डन अनिवार्य होगा। जगत् यथार्थ है, क्योंकि 'मृगतृष्णिका भी बिना आधार के नहीं होती।'[2]

---

१. गौडपाद की कारिका (१।६) पर शांकरभाष्य।

२. न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति।—गीता (१३।१४) पर शांकर भाष्य।

मृगतृष्णिका की भ्रान्ति के लिए जल और जल का भ्रम उत्पन्न करने-वाले बालू दोनों का होना आवश्यक है। यदि हम इस जगत् के द्वारा यथार्थ ब्रह्म का साक्षात्कार करके मोक्षलाभ कर सकते हैं[1] तो इसलिए कि आनुभाविक जगत् भ्रान्ति न होकर यथार्थ सत्ता है। यह जगत् निर-पेक्ष ब्रह्म नहीं है, यद्यपि उसके ऊपर आश्रित है।

कभी-कभी भ्रान्ति होने पर भी इन्द्रियप्रत्यक्ष के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। संसार के पदार्थों से हमारा सम्पर्क इन्द्रियों के माध्यम से होता है, अतएव उनका विश्वास करना पड़ता है। उनकी रचना ज्ञान देने के लिए हुई है, धोखा देने के लिए नहीं। इसलिए—

**सर्वं प्रत्यक्षज्ञातं यथार्थम् ॥४८॥**

समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ होता है।

ज्ञानप्राप्ति के तीन साधन हैं—इन्द्रियज्ञान, तर्क तथा अन्तर्ज्ञान।[2] इन्द्रियों से पदार्थों के बाह्यरूप—आकृति, आकार, रूप, रंग आदि का ज्ञान होता है। संश्लेषण-विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा तर्क उस ज्ञान को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित करता है। किन्तु इन दोनों का सम्बन्ध पदार्थों के बाह्यरूप से है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान देशकालादि में सीमित रहता है। आँखों से वही दिखाई देता और कानों से वही सुनाई देता है जो किसी देशकाल से सम्बद्ध होता है। इसलिए ऐसा कोई पदार्थ जो देशकाल की सीमा से परे हो या कार्य-कारण-शृङ्खला से बँधा न हो, इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। पदार्थों के भीतर देखने और उनकी तह तक पहुँचने के लिए भिन्न प्रकार की आँख चाहिए। उस आँख के द्वारा, जिसे आध्यात्मिक आँख कहते हैं, पदार्थों के भीतर प्रवेश करके उनकी वास्तविकता को जाना जा सकता है।

परन्तु इससे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का महत्त्व कम नहीं हो जाता। जब से मनुष्य संसार में आता है तभी से वह अपनी इन्द्रियों का प्रयोग करने लगता है। इन्द्रियों को 'इन्द्रिय' इसीलिए कहते हैं कि वे इन्द्र द्वारा प्राप्त होनेवाले ज्ञान का साधन हैं।[3] 'इन्द्र' नाम है जीवात्मा का। जीवात्मा का मुख्य गुण है चेतनता अर्थात् ज्ञान, और ज्ञानप्राप्ति का मुख्य साधन हैं—आँख, कान आदि इन्द्रियाँ। उधर जगत् नाम है—

---

१. Sense perception, Reasoning, Intuition.

२. **इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्।**—अष्टा० ५।२।९३

देशकाल तथा कार्य-कारण-शृङ्खला में आबद्ध पदार्थों के समुदाय का। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भ्रान्ति और शंका से रहित होने पर प्रत्यक्ष कहाता है। जो वस्तु बनी होती है उसमें विकार आने की सम्भावना रहती है। इन्द्रियाँ बनी हुई वस्तुएँ हैं, इसलिए उनमें दोष हो सकता है। ज्यों-ज्यों उन्हें शिक्षित किया जाता है, त्यों-त्यों उनमें यथार्थ दर्शन की शक्ति बढ़ती जाती है। इन्द्रियों तथा मानसिक शक्तियों की सहायता से प्रयोगशाला में जो कुछ देखा-परखा जाता है उसकी सत्ता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक की आँखें बाह्यजगत् के इन्द्रियों पर पड़नेवाले प्रभाव पर ही विचार करके अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त करती हैं। भौतिक जगत् की व्याख्या प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता के बिना सम्भव नहीं। बाल की खाल खींचनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञान की कितनी ही आलोचना क्यों न करें, किन्तु वे भी निरन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे ही जीते हैं। उन्हें अपनी इन्द्रियों पर पूरा भरोसा रहता है। इसीलिए प्यास लगने पर वे पानी की ओर दौड़ते हैं, उसे मृगतृष्णिका समझकर बैठे नहीं रह जाते; न कभी रेत को जल समझकर उसमें डुबकी लगाते देखे जाते हैं और न भूख लगने पर हलवे को देखकर उसमें गोबर का भ्रम करके ठुकराते हुए देखे जाते हैं।

यह ठीक है कि इन्द्रियों के कारण भ्रम और सन्देह भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु ऐसा कभी-कभी होता है। भ्रम और सन्देह शब्द ही बताते हैं कि इनके साथ कहीं निश्चयात्मकता भी अवश्य है। जैसे प्रकाश की अपेक्षा से अँधेरे का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निश्चयात्मकता की अपेक्षा से सन्देह अथवा भ्रम का ज्ञान होता है। आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, भ्रमेन्द्रियाँ नहीं। परमेश्वर ने इन्हें धोखा देने के लिए नहीं बनाया। हम प्रायः रस्सी को रस्सी के रूप में और साँप को साँप के रूप में देखते हैं। रस्सी में साँप का भ्रम तो बहुत कम—अपवादरूप में कभी-कभी होता है। अधिसंख्य लोगों के जीवन में तो ऐसा अवसर एक बार भी नहीं आया होता। यदि प्रायः ऐसा होता हो तो अन्धे या बहरे होने में ही कल्याण है। परन्तु कोई भी मनुष्य इन तथाकथित धोखेबाज़ इन्द्रियों से छुटकारा पाना नहीं चाहता। उसे विश्वास है कि इनके बिना एक दिन भी उसका काम नहीं चल सकता। इसलिए अनुमान आदि समस्त प्रमाणों के आधारभूत प्रत्यक्ष को मिथ्या नहीं माना जा सकता।

स्वयं शंकराचार्य को प्रत्यक्ष का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहना पड़ा कि 'प्रत्यक्ष की प्राप्ति न होने पर ही शास्त्र का प्रामाण्य होता है'।[1]

अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक और शंकराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी अपनी कारिकाओं (२।१-५) में 'दृश्यमानत्व' को 'मिथ्यात्व' का हेतु बताया है। उनकी मान्यता है कि जो दिखाई देता है वह मिथ्या होता है, जैसे स्वप्न में देखे गये पदार्थ मिथ्या होते हैं। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-पर्यन्त समस्त वैदिक ऋषि तथा अन्य शिक्षित व अशिक्षित सभी लोग किसी पदार्थ के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय लेते आये हैं। आज भी वैज्ञानिक लोग पहले पदार्थों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते और तत्पश्चात् उसका विवेचन करते हैं। उसी प्रत्यक्ष को गौडपाद अपनी कारिकाओं में और शंकर उनपर लिखे अपने भाष्य में पदार्थों के मिथ्या होने में हेतु मानते हैं। यदि वास्तव में देखना-सुनना पदार्थों के मिथ्यात्व में हेतु होता तो वेदों में **'जीवेम शरदः शतम्'** के साथ **'पश्येम शरदः शतम्'** अथवा **'शृणुयाम शरदः शतम्'** की प्रार्थना न की गई होती। तनिक-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्न में देखे गये पदार्थों के मिथ्या होने का कारण उनका 'दीखना' नहीं है, किन्तु 'जागृतावस्था में उनका न दीखना' है। जिस वस्तु को हम स्वप्न में देखते हैं, यदि जागने भी पर वह वैसी ही दीख पड़ती है तो उसे कभी मिथ्या न कहा जाता।

प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ सत्ता का होता है। वस्तुतः हमारे आँख-कान वही देखते-सुनते हैं जिनसे उनका सम्पर्क होता है। इसलिए जिन पदार्थों का हम अपनी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं उन्हें मिथ्या या प्रतीति-मात्र नहीं कह सकते। भ्रान्ति में भी हम वही देख रहे होते हैं जो होता है; वह नहीं जो नहीं होता; अतः मिथ्या प्रत्यक्ष में प्रकट होनेवाला पदार्थ भी भ्रान्तिमय न होकर यथार्थ होता है। समानता कुछ अंशों में पदार्थ की आंशिक एकता की द्योतक होती है। एक वस्तु को हम चाँदी कहते हैं, दूसरी को सीप। किन्तु जब हम सीप को चाँदी कहते हैं तब हमारे प्रत्यक्ष का विषय सीप या चाँदी न होकर चाँदी के वे तत्त्व होते हैं जो सीप में वस्तुतः वर्त्तमान होते हैं। इसी प्रकार मृग-

---

१. **प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धेर्हि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये।**
गीता (१८।६६) पर शांकरभाष्य।

तृष्णिका में जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं वह जल का वह तत्त्व है जो मृगतृष्णिका में वस्तुतः वर्त्तमान रहता है। इसलिए सीप में चाँदी का और मृगतृष्णिका में जल का हमारा ज्ञान मिथ्या नहीं, यथार्थ होता है।[1] वस्तुतः जिसे हम मिथ्या प्रत्यक्ष कहते हैं उसमें प्रकट होनेवाला पदार्थ भी भ्रान्तिमय न होकर यथार्थ होता है। 'पंचीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् के समस्त पदार्थ संयुक्त द्रव्य हैं जो नानाविध अनुपातों में पाँच तत्त्वों को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं। एक वस्तु चाँदी, दूसरी सीप—इसका कारण यह है कि एक में किन्हीं तत्त्वों की कमी है, जबकि दूसरे में उनकी अधिकता है। हम देखते हैं कि सीप चाँदी के समान होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष हमें सूचित करता है कि चाँदी के कुछ तत्त्व वस्तुतः सीप में विद्यमान हैं।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि समस्त ज्ञान यथार्थ सत्ता का ही है तो हमारा ज्ञान कभी-कभी वस्तुओं से मेल क्यों नहीं खाता ? इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया है—

**मिथ्याज्ञानन्त्वनुमानजन्यम् ॥४९॥**

मिथ्याज्ञान अनुमान के कारण उत्पन्न होता है।

यह ठीक है कि समस्त ज्ञान यथार्थ का होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान समस्त यथार्थसत्ता का होता है। हमारा ज्ञान प्रायः अपूर्ण तथा आंशिक होता है। किसी वस्तु के कुछ लक्षणों को तो हम लक्ष्य करते हैं, किन्तु अन्यों को नहीं। बस, इसी से भ्रान्ति का जन्म होता है। भ्रान्ति का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि चेतना के समक्ष एक प्रमेय पदार्थ=विषय अवश्य प्रस्तुत किया जाता है। किसी कारण हम प्रमेय पदार्थ का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु जो भी अंश हम देख पाते हैं वह स्वरूप में उसके समान वस्तु का स्मरण कराता है। उस समानता को देखते हुए ही हम दोनों को एक समझने की भूल कर बैठते हैं।

जो प्रत्यक्ष देखा जाता है वह सदा सत्य होता है, उसके कारण किया गया अनुमान भले ही मिथ्या हो। जब कोई झुटपुटे में रज्जु को देखता है तो वह उसे सर्प जान पड़ती है। यदि उस समय साथ ही एक

---

१. देखें—**यथार्थं सर्वविज्ञानं इति वेदविदां मतम्।**
**श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः॥**

साँप पड़ा होता तो दोनों एक-जैसे जान पड़ते। कारण ? इसे देखने में आधा प्रत्यक्ष है, आधा अनुमान। आँख ने केवल कुण्डलियाँ देखीं। कुण्डलियाँ रस्सी में भी होती हैं, और साँप में भी। प्रत्यक्ष के द्वारा केवल आकार का ज्ञान हुआ। यदि आकार ही सब-कुछ होता तो दोनों रस्सी भी हो सकते थे और साँप भी। प्रत्यक्ष में कोई भूल नहीं। भूल तब होती है जब हम दोनों पदार्थों के केवल समान धर्मों का ग्रहण और विशेष धर्मों की उपेक्षा करके केवल आंशिक प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान के द्वारा रस्सी को साँप या साँप को रस्सी समझ बैठते हैं।

मृगतृष्णिका का यदि विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि बालू और जल में कुछ समानताएँ हैं और कुछ असमानताएँ। यदि दोनों की समानताओं तथा असमानताओं को एक-साथ देख लिया जाता तो भ्रान्ति न होती। आँख की शक्ति परिमित होने से वह दूर से बालू के रूप के उसी अंश को देख सकी जो जल के समान था, असमानताओं को वह न देख सकी। इसमें आँख का कोई दोष नहीं। दोष है आँख से काम लेनेवाली बुद्धि का जो वस्तु के समग्र रूप को देखे बिना आंशिक प्रत्यक्ष होने पर शेष का अनुमान द्वारा निश्चय करने की भूल कर बैठती है। यही स्थिति सीप व चाँदी की अथवा रज्जु और सर्प की है। सीप व चाँदी के और इसी प्रकार रज्जु और सर्प के रूपों में आंशिक सादृश्य है। आँख इसी सादृश्य या समान धर्म को देखती है, दूरी के कारण विशेष धर्मों को नहीं देख पाती। इसीलिए सीप में चाँदी का और रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है।

मिथ्या ज्ञान के लिए दो भिन्न पदार्थों और उनके समान धर्मों का ज्ञान होना आवश्यक है। जबतक बाह्यरूप में समान धर्मों की सम्भावना न हो तबतक दो पदार्थों के विषय में मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। रज्जु का आकार और उसकी कुण्डलियों का भाव अथवा सीप में चमक सत्य न हों तो उनमें सर्प या चाँदी का आभास या अध्यास न हो सके। वस्तुतः रज्जु और सीप भी सत्य हैं और सर्प व चाँदी भी सत्य हैं—एक प्रत्यक्ष में और दूसरी देशान्तर में। असत्य है केवल रज्जु में सर्प की और सीप में चाँदी की प्रतीति जो किञ्चित् साधर्म्य के कारण है। ब्रह्म भी सत्य है और जीव तथा जगत् भी सत्य हैं। किञ्चित् साधर्म्य और अधिकांश वैधर्म्य के होते हुए भी ब्रह्म में जीव और जगत् का अथवा जीव और जगत् में ब्रह्म का अध्यारोप करना मिथ्या है।

**नापवादादसत् ।।५०।।**

अपवाद से (सम्पूर्ण) असद्रूप नहीं हो जाता ।

भ्रमात्मक सत्ता में सार्वभौमिकता नहीं रहती । वह कभी-कभी उदय होती है । प्रतीतिरूपसत्ता का भ्रमात्मक भाव उसके अधिष्ठान का प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है । अध्यास होता है, किन्तु वह उत्सर्ग नहीं, अपवाद है । हम प्रायः रज्जु को रज्जु के और सर्प को सर्प के रूप में देखते हैं । इसी प्रकार सीप को सीप और चाँदी को चाँदी के रूप में देखते हैं । रज्जु में सर्प का, सीप में चाँदी का अथवा बालू में जल का भ्रम तो बहुत कम—अपवादरूप में कभी-कभी होता है । यदि हम अपने अनुभवों का लेखा रक्खें तो ऐसे अवसर एक प्रतिशत क्या, एक प्रतिलक्ष भी नहीं निकलेंगे । मुझे अपने जीवन में एक बार भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ । जगत् को मिथ्या अथवा भ्रान्तिरूप माननेवाले अद्वैतवादी के जीवन में भी शायद ही कभी ऐसा अवसर आया होगा । चाहिए तो यह कि हम अपवाद की व्याख्या उत्सर्ग से करें, किन्तु करते हम उलटा हैं—उत्सर्ग का कारण अपवाद में खोजने लगते हैं । एक मन दूध में एक लोटा जल मिलाकर उसका स्नान आदि के लिए जलवत् व्यवहार करना अथवा एक मन जल में एक लोटा दूध मिला उसे दूध मानकर उसकी दही जमाने लगना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? हम जानते हैं कि मनुष्य की दो आँखें होती हैं, किन्तु कोई-कोई अन्धा या काना भी होता है । रज्जु-सर्प-दृष्टान्त की भाँति अपवादरूप भ्रान्तियों के आधार पर समस्त जगत् को मिथ्या कह देना ऐसा ही है जैसा एक-दो अन्धों या कानों को देखकर मनुष्यमात्र को अन्धा या काना मान लेना ।

विरोध का क्या स्वरूप है ?

**देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोरभावाप्रतिपत्तौ न विरोधः ।।५१।।**

यदि किसी पदार्थ का अभाव एक ही समय, एक ही काल और एक ही स्थान में ज्ञान का विषय बना वहीं पर तभी उसका अस्तित्त्व भी देखा गया, तब हमें दो ज्ञानों का परस्पर विरोध मिलता है । किन्तु जब किसी पदार्थ का जो किसी स्थान पर और किसी काल में देखा गया है, किसी अन्य स्थान और काल में अभाव देखा जाए, तब कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता ।

रज्जु को भूल से सर्प समझ लेने के दृष्टान्त में अभाव का बोध

पूर्व के निर्धारित स्थान और समय के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है, इसलिए वहाँ विरोध है। किन्तु यदि एक कालविशेष में देखा गया कोई पदार्थ अन्य काल अथवा अन्य स्थान में नहीं रहता तो हमें तुरन्त इस परिणाम पर पहुँच जाना चाहिए कि वह पदार्थ मिथ्या है।

हम यह नहीं कह सकते कि आनुभविक जगत् मृगतृष्णिका की भाँति मिथ्या है। मृगतृष्णिका इसलिए मिथ्या है, क्योंकि उसके द्वारा प्रेरित हमारी क्रिया निष्फल होती है, किन्तु संसार को प्रत्यक्ष करके जो क्रिया हम करते हैं वह निष्फल नहीं जाती। मृगतृष्णिका के जल से प्यास नहीं बुझाई जा सकती, किन्तु कुएँ के जल से प्यास बुझाई जा सकती है। यह कहना कि पदार्थों का अस्तित्व इसलिए नहीं है, क्योंकि वे स्थिर नहीं रहते, सर्वथा अनुपयुक्त है। इस तर्क में एक विरोधाभास है जो विरोधी तथा भिन्न पदार्थों में भेद न करने के कारण उत्पन्न होता है। भेद के कारण किसी पदार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता। पर जहाँ दो प्रकार के ज्ञान (बोध) परस्पर विरोधी हों, वहाँ दोनों ही यथार्थ नहीं हो सकते। 'आभास' और 'प्रतीति' आदि पदों का प्रयोग उस समय किया जाता है जब हम किसी असत्य को सत्य समझ लेते हैं और अनन्तर काल में उसकी यथार्थता को जानकर उसका अभिलापन करते हैं।

भ्रान्ति का कारण किसी-न-किसी रूप में अज्ञान है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता न हो तो किसी प्रकार की भ्रान्ति सम्भव नहीं, क्योंकि स्वयं ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को भ्रम नहीं हो सकता।

**न ब्रह्मण्यज्ञानसम्भवः स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात् ॥५२॥**

स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से ब्रह्म में अज्ञान नहीं हो सकता।

भ्रम किसी को, किसी में, किसी का, किसी कारण से होता है। जैसे—देवदत्त को, रज्जु में, सर्प का, झुटपुटे में भ्रम होता है। ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई सत्ता न होने का अर्थ होगा—ब्रह्म को ब्रह्म में ब्रह्म का भ्रम होना। भ्रम का कारण अज्ञान है। सर्वज्ञ ब्रह्म अपने को न पहचान पाये—इस बात पर कौन विश्वास करेगा? किन्तु चेतन-अचेतन अन्य कुछ है नहीं जिसमें किसी को किसी का भ्रम हो सके। तब सारा दोष ब्रह्म का ही सिद्ध होगा। भ्रम न प्रकाश में हो सकता है जब सब-कुछ स्पष्ट दीख पड़ता है और न अन्धकार में जब बिल्कुल नहीं दिखाई देता। भ्रम को उत्पन्न करने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार

का मेल अर्थात् झुटपुटा चाहिए जब दिखाई तो पड़ता है, किन्तु स्पष्ट नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि भ्रम न तो सर्वज्ञ (ब्रह्म) को हो सकता है और न सर्वथा अज्ञ (प्रकृति) को। केवल अल्पज्ञ (जीव) ही उसका शिकार हो सकता है। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार की कल्पना नहीं हो सकती, वैसे ही स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। सर्वज्ञ ब्रह्म भ्रम का आश्रय नहीं हो सकता।

किसी भी अवस्था में ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर अपने-आपको निरपेक्ष पूर्ण ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं समझ सकता। यदि मेरा रज्जु को सर्प समझना मेरे अज्ञान का परिणाम है तो सर्वज्ञ होते हुए ब्रह्म का अपने-आपको कुछ-का-कुछ समझना उसके कहीं अधिक अज्ञानी होने का प्रमाण है। न्यायदर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म तथा जन्म से दुःख होता है।[1] यदि ब्रह्म मिथ्याज्ञानी हो जाता है तो उसे सांसारिक जीवों की तरह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ने से नहीं बचाया जा सकता। उस अवस्था में वह 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट' पुरुष विशेष नहीं रहेगा। सभी शास्त्रों ने परमेश्वर को जगत् का स्रष्टा, द्रष्टा तथा नियामक माना है। द्रष्टा स्वयं दृश्य नहीं हो सकता। यदि जगत् मिथ्या है तो ब्रह्म ऐसे जगत् का स्रष्टा, द्रष्टा और नियामक होगा जो न कभी था, न है और न होगा, और क्योंकि शंकर के अनुसार यह भ्रम (अध्यास) अनादि तथा अनन्त है, इसलिए वह सदा भ्रान्त रहेगा। नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव ब्रह्म के सम्बन्ध में उसके अनन्तकाल तक भ्रमित रहने की कल्पना कैसे की जा सकती है? यदि जगत् को अध्यासरूप मिथ्या माना जाए तो भी अध्यास का अधिष्ठान ब्रह्म, अध्यस्त पदार्थ जगत् तथा अध्यास का कर्त्ता जीव—इन तीन की सत्ता माननी पड़ेगी।

यह ठीक है कि स्वरूपतः ब्रह्म सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त है किन्तु उपाधि के कारण वही अज्ञानी हो जाता है। इस तर्क को सूत्रबद्ध करके पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

**ब्रह्मण्यज्ञानमविद्योपाधिना ॥५३॥**

अविद्या से उपाहित होने से ब्रह्म अज्ञानी है।

---

१. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
—न्याय० १।१।२

प्रतीयमान जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या है, परमार्थ में सब एक हैं।[1] ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूपविकारभेद की उपाधिवाला और दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त।[2] परन्तु ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता।[3] यह तो हमारे अपूर्ण ज्ञान के कारण ऐसा प्रतीत होता है। इन्द्रियदोषवाले को दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वस्तुतः दो चन्द्रमा नहीं होते।[4] अपने नाम-रूपसहित सम्पूर्ण लौकिक सत्ता अविद्या पर आश्रित है। जगत् की समस्त प्रवृत्ति मिथ्या ज्ञान के कारण होती है और निर्दोष सत्यज्ञान से दूर हो जाती है। आनुभविक जगत् का कारण अविद्या की शक्ति है। ब्रह्म की जगत् के रूप में प्रतीति हमारे अज्ञान के कारण है, जैसे रज्जु का सर्प के रूप में प्रतीत होना हमारे इन्द्रियदोष के कारण है। ज्यों ही हम रज्जु को उसके यथार्थरूप में देखते हैं, त्यों ही सर्प अयथार्थ हो जाता है। इसी प्रकार जब हम ब्रह्म की यथार्थता का दर्शन कर लेते हैं तो जगत् की प्रतीति स्वयं दूर हो जाती है। अविद्या से उत्पन्न नामरूपात्मक परिवर्त्तनशील जगत् का आधार ब्रह्म ही है जो अपने सत्य तथा यथार्थ स्वरूप में इस प्रतीयमान जगत् से परे अखण्डरूप में रहता है।

इसका प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया है—

**न निमित्तयोगादन्यधर्मत्वानुपपत्तेः ॥५४॥**

निमित्त (उपाधि) के कारण वस्तु में अन्य धर्म उपपन्न नहीं होता।

अद्वैत की सिद्धि करते-करते शंकराचार्य एक के दो ब्रह्म बना गये—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा उपाधि के कारण अज्ञानी ब्रह्म। परन्तु उन्हें स्वयं इसमें दोष दीखने लगा। तब कहा कि उपाधि के निमित्त से वस्तु में कोई धर्म नहीं आता, उपाधियाँ तो अविद्या के कारण होती

---

१. **एकत्वं पारमार्थिकं मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्।**
—शां० भा० २।१।१४

२. **द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।**—शां० भा० १।१।६२

३. **तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म।**—तदेव० २।१।२७

४. **न हि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति।**—तदेव

हैं।[1] उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता।[2] गुण-गुणी अथवा धर्म-धर्मी का समवाय-सम्बन्ध होता है। यदि दो वस्तुओं का धर्म एवं स्वभाव एक जैसा है तो वे दो नहीं हो सकतीं। यदि उपाधि लगने पर भी ब्रह्म के स्वभाव में अन्तर नहीं आता तो उपाधि होना, न होना बराबर है। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध है, हम ही अपने अज्ञान के कारण उसे अशुद्ध समझते हैं, तो भी बात नहीं बनती। अद्वैत मत में तो हम स्वयं भी ब्रह्म ही हैं। तब ब्रह्म होते हुए हम अज्ञानी कैसे हो सकते हैं? यदि यह कहा जाए कि अविद्या के कारण हम ब्रह्म न रहकर जीव बन गये हैं तो इसका अभिप्राय है कि अविद्या की उपाधि से प्रभावित होकर ब्रह्म जीव बन गया। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उपाधि के कारण उसका स्वभाव नहीं बदलता? फिर, अद्वैतमतानुसार अविद्या नैसर्गिकी है (शां० भा० २।३।१५)। नैसर्गिकी है तो सदा बनी रहनेवाली, अर्थात् नित्य है। ऐसा है तो सीधे तौर से नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव से भिन्न अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान से युक्त अल्पज्ञ जीव को मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अविद्या का स्वरूप क्या है?

**अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या देहादिष्वनात्मस्वात्मख्यातिरिव ॥५५॥**

जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसा समझना अविद्या है, जैसे देह आदि जड़ पदार्थों में चैतन्य (आत्मा) की भावना करना।

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना यथार्थ ज्ञान है। इसके विपरीत अज्ञान अथवा अविद्या है। योगदर्शन के अनुसार अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्म को आत्मा समझना अविद्या है।[3] जिस प्रकार मनुष्य शरीर के गुणों को आत्मा के साथ जोड़कर कहता है—मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं खड़ा हूँ या बैठा हूँ' आदि, इसी प्रकार इन्द्रियों के गुणों को आत्मा के साथ जोड़कर कहता है—'मैं अन्धा हूँ या बहरा हूँ' आदि और अन्तःकरण के गुणों अर्थात्

१. उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापित्वात्। —शां० भा० ३।२।१५

२. न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति। —तदेव ३।२।११

३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।—योग० २।५

इच्छा, संकल्प, संशय, निश्चय आदि को भी आत्मा पर आरोपित कर देता है। इतना ही नहीं, अभ्यास के कारण वह अपने पुत्र, पत्नी या ऐसे ही किसी प्रिय जन के सुखी या दुःखी होने पर अपने को सुखी या दुःखी कहता हुआ बाह्य पदार्थों के गुणों का भी आत्मा के सम्बन्ध में प्रयोग करता है। इस प्रकार देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि अचेतन पदार्थों को चेतन आत्मा समझना; अस्थि, मांस, मल-मूत्र आदि से भरे शरीर को पवित्र तथा नित्य मानना; एवं विषयों के दुःखरूप सेवन में सुख अनुभव करना—ये सब अविद्या के रूप हैं। अविद्या का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। रज्जु को सर्प, बालू को जल, सीप को चाँदी समझना आदि सब अविद्या के अन्तर्गत हैं। तारे वस्तुतः टिमटिमाते नहीं, तथापि हमें ऐसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकाश को वे छोड़ते हैं, निश्चय ही वह स्थिर है, किन्तु पृथिवी के वायुमण्डल में जो विक्षोभ होता है और जिसके बीच से गुजरकर वह आता है, वह हमारी दृष्टि को इस प्रकार प्रभावित करता है कि तारे निरन्तर टिमटिमाते-से प्रतीत होते हैं। इसी को भ्रम, भ्रान्ति, मिथ्याज्ञान, विपर्यय आदि पदों से व्यवहृत किया जाता है।

अविद्या या तो ज्ञान का अभाव है अथवा सन्दिग्ध या मिथ्या ज्ञान है। इस प्रकार इसका निषेधात्मक ही नहीं, भावात्मक रूप भी है। ड्यूसन के शब्दों में 'अविद्या हमारे ज्ञान का आन्तरिक धुँधलापन है।'[१] यह मन की ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण मन वस्तुओं को देश, काल की रचना के द्वारा ही देख सकता है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मसूत्र के भाष्य की प्रस्तावना में शंकर ने कहा है कि "अविद्या की शक्ति ही हमें जीवनरूपी स्वप्न में उतारती है। इन्द्रियातीत और लौकिक दृष्टिकोणों को परस्पर मिला देने की प्रवृत्ति अथवा अध्यास कितना ही भ्रान्तिमय क्यों न हो, मनुष्य के मस्तिष्क के लिए स्वाभाविक है। यह हमारे बोधग्रहणकारी तन्त्र का परिणाम है।" अन्तर्दृष्टिरूप ज्ञान के साधन से पतन का नाम अविद्या है और यह सीमित आत्मा की मानसिक विकृति है। उपनिषदों में अविद्या शब्द प्रायः अज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

देखना यह है कि हमारे समस्त अज्ञान, पाप और दुःख की जननी

---

१. Avidya is the inmate obscuration of our knowledge.
—Deussen's System of the Vedanta, P. 302

यह अविद्या कहाँ से आती है ? शंकर तो इस कठिनाई में से अविद्या को अव्याख्येय कहकर बच निकलते हैं। उनकी अध्यात्मविद्या में यह प्रश्न निरर्थक है। हम एक लौकिक विधान का प्रयोग इन्द्रियातीत क्षेत्र में नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि अविद्या का अस्तित्व है। इसके कारण के विषय में प्रश्न करना व्यर्थ है। यदि हम आत्मा के साथ अविद्या के सम्बन्ध को समझ सकते हैं तो हमें अनिवार्यतः दोनों के ऊपर होना चाहिए।[1] परन्तु जब अविद्या का अस्तित्व है और उसमें नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव जैसी सर्वोपरि सत्ता को उपाधिग्रस्त कर अज्ञानी बना देने का सामर्थ्य है तो उसे अव्याख्येय कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। जैसे भी हो, उसका ठौर-ठिकाना खोजना होगा। यदि अविद्या को द्रव्य माना जाएगा तो उससे द्वैत उपपन्न होगा। यदि वह गुण है तो जिस द्रव्य के आश्रित है उसका पता लगाना होगा, क्योंकि—

**न गुणोत्पत्तिर्द्रव्यं विनाऽऽश्रयाश्रयिभावात् ॥५६॥**

द्रव्य के बिना गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, दोनों में आश्रया-श्रयीसम्बन्ध होने से।

प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित है। द्रव्य को छोड़कर गुण का रहना सम्भव नहीं। इस प्रकार जो पदार्थ समवाय-सम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो वह उसका गुण कहाता है। इसलिए जहाँ कहीं कोई गुण पाया जाए, समझ लेना चाहिए कि इस गुण का आश्रयरूप कोई द्रव्य अवश्य है। अविद्या, चाहे उसे ज्ञान का अभाव माना जाए और चाहे सन्दिग्ध या मिथ्याज्ञान, गुण है। जब गुण है तो कोई-न-कोई द्रव्य उसका आश्रय होगा ही। वह द्रव्य कौन-सा है ?

**न चिदाभासाश्रिताऽविद्याऽऽत्माश्रयदोषप्रसङ्गात् ॥५७॥**

आत्माश्रय-दोष उपपन्न होने से अविद्या चिदाभास के आश्रित नहीं हो सकती।

चिदाभासरूप जीव स्वयं अविद्या की उपज है। यदि अविद्या न होती तो चिदाभास के रूप में जीवात्मा का अस्तित्व न होता। ऐसी अवस्था में अविद्या को चिदाभास के आश्रित नहीं माना जा सकता। अविद्या व्यक्तित्व का कारण भी नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्तित्व के बिना स्वयं अविद्या का अस्तित्व उपपन्न नहीं होता। यदि उसे व्यक्तित्व

१. गीता (१३।२) पर शांकर भाष्य

का कारण माना जाए तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता माननी होगी। यदि जीवात्मा को अविद्या से उत्पन्न माना जाए तो आत्माश्रय-दोष के कारण हम एक दूषित चक्र में फँस जाएँगे, क्योंकि न अविद्या के बिना जीवात्मा का अस्तित्व होगा और न जीवात्मा के बिना अविद्या का। वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या का आधार जीव है तथा विषय ब्रह्म। उनके मत में ईश्वर भी जीवज्ञान की उपज है और जितने जीव हैं उतने ही ईश्वर होने चाहिएँ। रामानुज का आग्रह है कि यदि अविद्या का निवास व्यक्ति में होगा तो प्रत्येक जीव के लिए एक भिन्न अविद्या की कल्पना करनी होगी, क्योंकि यदि सब जीवों की एक अविद्या होगी तो एक जीव की अविद्या का नाश होने पर उसके मुक्त होते ही सब जीवों को मोक्षलाभ हो जाएगा। परिणामतः जगत् का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि जिन जीवों के भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की अपेक्षा है, जब वे ही न रहेंगे तो निष्प्रयोजन होने से सृष्टिरचना व्यर्थ होगी और ब्रह्म भी अपना लक्षण **'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२) खो बैठेगा, किन्तु सृष्टि तो प्रवाह से अनादि और अनादि होने से अनन्त है, अतएव अविद्या चिदाभास का गुण नहीं हो सकती।

**न ब्रह्माश्रिता विद्यास्वरूपत्वात् ॥५८॥**

ब्रह्म के विद्यास्वरूप होने से (अविद्या) उसके आश्रित नहीं रह सकती।

जब जीव स्वयं अविद्या की उपज है और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई चेतन तत्त्व है नहीं जिसके आश्रित वह रह सके, तब केवल एकमात्र ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है; किन्तु जो स्वयं नित्यप्रकाश-स्वरूप है तथा **'शास्त्रयोनित्वात्'** (वे० द० १।१।३) समस्त ज्ञान का स्रोत है, उसमें अविद्या की कल्पना करना ऐसा ही है जैसा सूर्य में अन्धकार की सम्भावना।[1] यह कहना कि परिवर्त्तित ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान है, सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि अविद्या के बिना परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

प्रश्न उठता है कि अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी? अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि?

---

१. God is light, and in him is no darkness at all.
—The Bible : John 5.2; Cor. 6.14

यदि वह पहले अज्ञानी हुआ तो कहना चाहिए कि उपाधि के बिना ही ब्रह्म अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पूर्व ब्रह्म पूर्णज्ञानी था तो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होते हुए भी वह उपाधि के वश में कैसे आ गया? न उपाधि के वश में आता और न अज्ञानी होकर जन्म-मरण के बन्धन में पडकर दुःख भोगता। यदि उपाधि चेतन है तो ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा चेतन-तत्त्व सिद्ध होता है। यदि जड़ है तो आश्चर्य है कि सर्वशक्ति चेतन-ब्रह्म ने जड़ उपाधि के आगे घुटने टेक दिये।

किसी भी अवस्था में ब्रह्म में भ्रान्ति नहीं हो सकती और जबतक वह भ्रान्त न हो तबतक जीवरूप नहीं हो सकता। निरपेक्ष अपरिणामी ब्रह्म को जीवरूप होकर भौतिक देह धारण करने पर क्यों विवश होना पड़ा? उसने ऐसा स्वेच्छया किया अथवा किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से? आनन्दस्वरूप ब्रह्म स्वेच्छा से जगज्जाल में फँसा होगा, यह नहीं माना जा सकता। न यह माना जा सकता है कि कोई उससे अधिक शक्तिशाली सत्ता है जो उसे ऐसा करने को विवश कर सके।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय वह उपाधिग्रस्त हो गया—तो पहले उपाधि कहाँ थी? कहीं-न-कहीं होगी तो अवश्य। न होती तो आती कहाँ से? अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी? गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतन द्रव्य है नहीं। तब अनिवार्यतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसके गुण उपाधि का अनादि होना स्वतः सिद्ध है। अनादि होने से वह अनन्त भी हो गई और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। इस प्रकार उपाधि के ब्रह्माश्रित तथा नित्य होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी बना रहेगा। सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त न हो सकेगा, क्योंकि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

इस प्रकार हम एक तर्क-सम्बन्धी चक्र में पड़ जाते हैं।[1] कुमारिलभट्ट

१. सांख्यप्रवचनसूत्र १।२१-२४; ५।१३-१६, ५४

ने अद्वैतमत का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा—"यदि ब्रह्म स्वतःसिद्ध है और विशुद्धरूप है एवं उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो अविद्या के व्यापार को कौन उत्पन्न करता है जो स्वप्न के समान प्रतीत होता है? यदि कोई अन्य उसका कारण है और ब्रह्म से भिन्न है तो अद्वैत विलुप्त हो जाएगा। यदि यह उसका स्वभाव है तो इसका कभी नाश नहीं होगा।"[1] पार्थसारथि मिश्र इसका विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"क्या यह अविद्या ही मिथ्याज्ञान है अथवा कोई अन्य वस्तु है जो मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करती है? यदि मिथ्याज्ञान है तो यह अविद्या किसका मिथ्याज्ञान है? यह ब्रह्म का नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वभावतः विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। सूर्य में अन्धेरे के लिए कोई स्थान नहीं। अविद्या आत्माओं से सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि अविद्या का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए एक अन्य वस्तु का भी नहीं हो सकता जो उसके कारण बन सके। इसके अतिरिक्त यदि मिथ्याज्ञान को अथवा इसके कारण को ब्रह्म के साथ संयुक्त मानते हैं तो अद्वैतता विलुप्त हो जाती है। ब्रह्म की अविद्या कहाँ से आई? अन्य कोई है नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म के लिए यह स्वाभाविक है तो प्रश्न उठता है कि अज्ञान उसके लिए स्वाभाविक कैसे हो सकता है जिसका स्वभाव ही ज्ञान है?"[2]

शंकराचार्य का अविद्या का सिद्धान्त अनेक दोषों का घर है। रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य में **'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'**

---

१. स्वयं च शुद्धरूपत्वात् अभावाच्चान्यवस्तुनः।
स्वप्नादिवद् अविद्यायाः प्रवृत्तिः तस्य किं कृता॥
अन्येनोप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते।
स्वाभाविकीमविद्यान्तु नोच्छेत्तुं किञ्चिदर्हति॥

—श्लोकवार्त्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार, ८४-८५

२. किं भ्रान्तिज्ञानम्? किं वा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतम् वस्त्वन्तरम्? यदि भ्रान्तिः सा कस्य? न ब्रह्मणः तस्य स्वच्छविद्यारूपत्वात्। न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः सम्भवति। न जीवानां तेषां ब्रह्मातिरेकेणाभावात्। भ्रान्त्याभावादेव च तत्कारणभूतं वस्त्वन्तरमप्यनुपपन्नमेव। ब्रह्मातिरेकेण भ्रान्तिज्ञानं तत्कारणं चऽभ्युपगच्छतामद्वैतहानिः। किं कृता च ब्रह्मणोऽविद्या? न हि कारणान्तरमस्ति। स्वाभाविकीति चेत् कथं विद्यास्वभावमविद्यास्वभावं स्यात्।—शास्त्रदीपिका, ३१३

वेदान्तदर्शन (२।१।१४) के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा—
"यदि यह मानो कि अविद्या का अधिष्ठान जीव का स्वभाविक रूप है जिसमें कल्पना न की गई हो तो कहना पड़ेगा कि ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कल्पित स्वरूप में अविद्या का स्वरूप मानो तो अविद्या जड़ के आश्रित होगी। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैतवादी इन दोनों से भिन्न आकार को स्वीकार नहीं करते। यदि जीव के कल्पित आकार-विशिष्ट-स्वरूप को अविद्या का आश्रय मानो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना अविद्या के अखण्ड-एकरस स्वरूप में विशिष्ट रूप की सिद्धि कैसे होगी? अविद्या से ही तो जीव को विशेषता प्राप्त होती है। यदि बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि के लिए जीव के अज्ञान का आश्रय लिया जाए तो भी व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि अविद्या का नाश ही तो मोक्ष है। ऐसी दशा में एक की मुक्ति होते ही अविद्या के नाश के कारण सबकी मुक्ति हो जाएगी। यदि दूसरों की मुक्ति नहीं हुई तो अविद्या बनी रहेगी और उसके रहते एक की भी मुक्ति नहीं होगी। यदि प्रत्येक जीव में अलग-अलग अविद्या मानोगे तो जीवों में भेद मानना होगा। फिर, यह भेद स्वाभाविक है या कल्पित? स्वाभाविक मानना सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। यदि अविद्याकल्पित मानो तो प्रश्न होगा कि जीव के भेद की कल्पना करने-वाली यह अविद्या ब्रह्म की है या जीवों की? यदि ब्रह्म की मानो तो तुम हमारे रास्ते पर आ गये, अर्थात् ब्रह्म को अविद्या का अधिष्ठान मान लिया। यदि जीवों की, तो क्या तुम यह भूल गये कि जीवों के भेद की व्याख्या करने के लिए ही तो अविद्या की कल्पना की गई थी। यहाँ बीजांकुर-न्याय भी काम नहीं देता, क्योंकि बीज अलग होता है, अंकुर अलग। यहाँ तो जिन अविद्याओं की कल्पना जीवों के भेद के लिए की गई थी वही अविद्याएँ जीवभेद के आश्रित हो गईं, अन्योन्या-श्रय-दोष आ गया। तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या नष्ट हो जाएगी तो जीव का नाश होगा या नहीं? यदि नाश हो जाएगा तो मोक्ष का अर्थ होगा स्वरूप का नाश। यदि नाश न होगा तो अविद्या का नाश होने पर भी मोक्ष न होगा।"[1]

१. जीवस्याकल्पितस्वाभाविकरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्। तदतिरिक्तेन तस्मिन् कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जडस्याविद्या-श्रयत्वमुक्तं स्यात्। कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमिति चेत्

अविद्या तथा ब्रह्म का सह-अस्तित्व एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान सहज नहीं है। शंकर स्वीकार करते हैं कि "ब्रह्म अविद्या की उपज नहीं है अथवा स्वयं भ्रान्त भी नहीं है, किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई चैतन्ययुक्त प्राणी है जो अज्ञान को उत्पन्न करनेवाला हो सकता है।"[1] ड्यूसन का मत है—"यथार्थ में केवल एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं। यदि हम यह कल्पना करें कि इस जगत् में हम उसके विकार का प्रत्यक्ष करते हैं तो यह, व्यक्तियों के अनेकत्व में उसका भेद, अविद्या के ऊपर आश्रित है। किन्तु यह होता कैसे है? हम क्योंकर एक परिवर्त्तन और अनेकत्व को देखकर, जबकि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, अपने को धोखा देते हैं? इस प्रश्न के ऊपर हमारे ग्रन्थकार कोई प्रकाश नहीं डालते।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अविद्या ब्रह्म अथवा चिदाभास का गुण नहीं है। तब वह किसका गुण है?

तन्न। स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्यामन्तरेण विशिष्टरूपत्वासिद्धेः। किं च बन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्ध्यर्थं जीवाज्ञानस्य समाश्रयणम्। सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षेऽपि न सिध्यति। अविद्याविनाश एव हि मोक्षः। तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविनाशादितरेऽपि विमुच्येरन्। अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत् तर्हि एकस्यापि अमुक्तिः स्यात्। प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे। स जीवभेदः किं स्वाभाविक उताविद्याकल्पितः। न तावत् स्वाभाविकः अनभ्युपगमात्। अथाविद्याकल्पितस्तत्रेयं जीवभेदकल्पिताविद्या किं ब्रह्मण उत जीवानाम्? ब्रह्मण इति चेदागतोऽसि मदीयं मार्गम्। अथ जीवानां किमस्याः जीवभेदक्लृप्तिसिद्ध्यर्थं विस्मरसि? न चात्र बीजाङ्कुरन्यायः सिध्यति। बीजाङ्कुरेषु ह्यन्यदन्यद्बीजमन्यस्याङ्कुरस्योत्पादकम्। इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशङ्कनीयता। किं च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो नश्येद्वा न वा? यदि नश्येत् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्। न चेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः।

१. बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) शांकरभाष्य

२. In reality there is nothing else besides Brahman alone. If we imagine that we perceive a transformation (vikara) of him into the world, a division (bheda) of him into a plurality of individuals, this depends upon avidya. But how does this happen? How do we manage to deceive ourselves into seeing a transformation and a plurality, where in reality Brahman alone is? On this question our authors give no information.—System of the Vedanta, P. 302

**अविद्यागुणोऽल्पज्ञस्य ॥५६॥**

अविद्या अल्पज्ञ (जीव) का गुण है।

अविद्या न सर्वज्ञ ब्रह्म का गुण है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति का। पूर्ण विद्या चेतन ब्रह्म का धर्म है, विद्याशून्यता जड़ प्रकृति का और अल्पज्ञता जीवात्मा का जो ईश्वर की भाँति ज्ञानी तो है, किन्तु उसके समान सर्वज्ञ नहीं। यहाँ 'अविद्या' शब्द विद्या के अभाव का द्योतक नहीं है। ऐसा होता तो जीव प्रकृति के समान अज्ञ हो जाता। इसलिए यहाँ अविद्या से तात्पर्य है विपरीत ज्ञान अथवा स्वल्प ज्ञान। वैशेषिक-दर्शन में 'इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या' (६।२।१०) कहकर 'तद् दुष्टं ज्ञानम्' (६।२।११) के द्वारा 'अविद्या' का और 'अदुष्टं विद्या' के द्वारा विद्या का लक्षण कर दिया ? अर्थात् विपरीत (दुष्ट) ज्ञान अविद्या और यथार्थ (अदुष्ट) ज्ञान विद्या है। इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष का कथन शरीरधारी जीव के लिए ही किया जा सकता है, देहादि के बन्धन से सदा मुक्त ब्रह्म के लिए नहीं। शंकर की मान्यता है कि "ब्रह्म नित्य ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उसे ज्ञान के साधनों— इन्द्रिय, मस्तिष्क आदि की अपेक्षा नहीं है।"[1] जब ब्रह्म के इन्द्रियाँ हैं ही नहीं तो उनमें किसी प्रकार के दोष का प्रश्न ही नहीं उठता। जीव और ब्रह्म में भेद बताते हुए शंकर आगे कहते हैं कि "ज्ञान के लिए शरीर की अपेक्षा जीव को है, ईश्वर को नहीं।"[2] स्पष्ट है कि अविद्या का कारण इन्द्रियदोष है। वे इन्द्रियाँ जीव के पास हैं, ईश्वर के पास नहीं हैं। अतएव उनके कारण होनेवाली अविद्या की उपाधि जीव को ही लग सकती है, ब्रह्म को नहीं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म से अतिरिक्त संसारी जीवों का अस्तित्व है। किन्तु जब शंकर से पूछा जाता है कि आप तो ब्रह्म से भिन्न जीवों की सत्ता ही नहीं मानते, फिर दोनों में यह भेद क्यों ? इस पर शंकर कहते हैं कि "यह तो सत्य है कि ईश्वर से भिन्न संसारी जीव की सत्ता नहीं है, तथापि देहादि संघात की उपाधि के सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है, जैसे—घड़े, कमण्डलु, गुफ़ा आदि की उपाधि से आकाश को

---

१. ब्रह्मणो सवितृप्रकाशवत् ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः।
—शां० भा० १।१।५

२. संसारिणः शरीराद्यपेक्षाज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्य।—तदेव

अलग-अलग कह देते हैं।"[1] परन्तु जब शरीर की अपेक्षा के बिना ही ब्रह्म ज्ञानी है तो उसे देहादि की उपाधि कैसे लगी ? ब्रह्म तो सूर्य के प्रकाश के समान (सवितृ-प्रकाशवत्) ज्ञानी है। जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं हो सकता, वैसे ही ब्रह्म को अज्ञान नहीं छू सकता। घटाकाश को आकाश से भिन्न समझनेवाला तो घट तथा आकाश से भिन्न जीव है। ब्रह्म को जीव समझनेवाला इन दोनों से भिन्न कौन है ? यदि मिट्टी से बने वास्तविक घड़े न होते तो जीव को भी घटाकाश के पृथक्त्व का ज्ञान न होता। फिर, घटाकाश हो या करक, गुहा आदि का आकाश हो, हैं तो सर्वथा महदाकाश जैसे ही; परन्तु उपाधि से उत्पन्न कहानेवाले जीव तो न केवल ब्रह्म से भिन्न हैं, अपितु परस्पर एक-दूसरे से भी सर्वथा भिन्न हैं। जीव की अल्पज्ञता समस्त प्रपंच की व्याख्या करने में समर्थ है।

किन्तु अविद्या जीव का स्वाभाविक गुण नहीं है। ऐसा होता तो जीव उससे कभी छुटकारा न पा सकता, क्योंकि स्वभाव का नाश कभी नहीं हो सकता। शास्त्रों में अविद्या को दूर कर विवेक द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के निर्देशक वाक्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि जीवात्मा में अविद्या रहती है और प्रयत्न करके उसे दूर किया जा सकता है।

अद्वैतमत में अविद्या को सदसत् लक्षणा कहा गया है, अर्थात् वह 'सत्' भी है और 'असत्' भी। यह वन्ध्यापुत्र के समान अभावात्मक सत्ता नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और हममें से प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी भावना रहती है कि वह सब-कुछ नहीं जानता।[2] और, यह एक यथार्थ तथा निरपेक्ष सत्ता-रूप वस्तु भी नहीं, क्योंकि अन्तर्दृष्टि से इसका नाश हो जाता है। इस प्रकार यह न तो यथार्थ है, न आभासमात्र। कोई वस्तु एक समय में दो परस्पर-विरोधी गुणों का अधिष्ठान नहीं हो सकती। उक्त विवरण के अनुसार अविद्या का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है उसे देखकर कौन कह सकता है कि यह ब्रह्म की अविद्या है ? सर्वथा अपरिणामी एवं अविकारी ब्रह्म में अविद्या का आना-जाना नहीं बनता। जीवात्मा में अविद्या का होना और अन्तर्दृष्टि द्वारा उसका दूर होना

१. सत्यं नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव। घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः।—तदेव
२. अहमज्ञेत्याद्यनुभवात्।—वेदान्तसार

लोक में प्रत्यक्ष है। अविद्या का नाश कर विद्या की वृद्धि करना जीवात्मा का कर्त्तव्य बताया गया है। उपनिषदों में अविद्या शब्द का प्रयोग उपाधि के लिए नहीं, स्पष्टतः मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय के लिए हुआ है जो जीवात्मा में रहता है और जिसे प्रयास करके दूर करना सम्भव हैं।

मिथ्याज्ञान का अधिष्ठान जीव ब्रह्म की भाँति अनादि है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होते हुए भी जीव ब्रह्म से पथक् रहता है।

**ब्रह्मणः पृथगेवाल्पज्ञश्चेतनः ॥६०॥**

अल्पज्ञ चेतन (जीव) ब्रह्म से पृथक् ही है।

जीव की ब्रह्म से पृथक् अपनी सत्ता है। न वह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, न उसका अंश और न ब्रह्म की अविद्या का परिणाम। वह ब्रह्म के समान नित्य है। अविद्या का नाश होने पर वह ब्रह्म को प्राप्त कर उसके आनन्द में लीन हो जाता है, पर वहाँ भी उसकी सत्ता बराबर बनी रहती है। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा ज्ञान का अर्जन करता है, जबकि सर्वज्ञ होने से परमात्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। दोनों न कभी एक थे, न हैं और न होंगे।

**न प्रत्यक्षसिद्धस्यापलापः ॥६१॥**

प्रत्यक्ष से सिद्ध का अपलाप नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं—चाहे वह ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष हो अथवा आध्यात्मिक। संसार में जड़ व चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। उनके अस्तित्व को नकारना अपने अनुभव को नकारना है। जो व्यक्ति बैठा हुआ भोजन कर रहा है और उसके फलस्वरूप तृप्ति भी अनुभव कर रहा है, वह यदि कहे कि न मैं भोजन कर रहा हूँ और न मेरी भूख शान्त हो रही है, तो उसकी बात का कौन विश्वास करेगा? यह कहा जा सकता है कि यह प्रत्यक्ष तो ऐसा ही है जैसा बालू में जल का प्रत्यक्ष अथवा रज्जु में सर्प का प्रत्यक्ष। जिस समय हम बालू को जल अथवा रज्जु को सर्प समझ रहे होते हैं उस समय हमें जल अथवा सर्प की सत्ता में किंचित् सन्देह नहीं होता। उस काल में वे हमें प्रत्यक्ष दीख रहे होते हैं, यद्यपि उनकी वास्तविक सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार प्रत्यक्ष दीखने पर भी जगत् की वास्तविक अथवा

पारमार्थिक सत्ता नहीं है। आत्मसाक्षात्कार होते ही प्रतीयमान जगत् की प्रातिभासिक सत्ता रह जाती है। जगत् के मिथ्या होने में यह दृष्टान्त हेतु न होकर हेत्वाभास है। यदि जल दिखाई देने पर वहाँ जल नहीं मिलता तो हम यह कह सकते हैं कि हमें जल का भ्रम हुआ था। किन्तु जब वह जल हमारी प्यास बुझा देता है, हम उसमें स्नान करते हैं, अनेक वस्तुओं को उसमें बहता देखते हैं, तब उस जल की सत्ता का निषेध कैसे कर सकते हैं? प्रातिभासिक होता तो उससे प्यास कभी न बुझती। इसी प्रकार प्रकाश होने पर यदि रस्सी दीख पड़ती है तो हम रस्सी में साँप का भ्रम हुआ मान सकते हैं। किन्तु यदि वह सरकता दीख पड़े या स्वतः हमारे पैरों में लिपट जाए या काट खाये तब उसे मिथ्या कैसे माना जा सकता है? बड़े-से-बड़ा अद्वैतवादी अथवा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर संसार को मिथ्या माननेवाला विद्वान् भी वास्तविक जल में तथा मृगतृष्णिका के जल में, अथवा रज्जुसर्प में और वास्तविक सर्प में भेद किये बिना नहीं रहेगा। प्रत्यक्ष दीख रहे हलवे को मृगतृष्णिकावत् प्रातिभासिक मानकर खाने से कौन इनकार करेगा? इसी प्रकार जल से भरा लोटा हाथ में थमाकर हमारे बार-बार कहने पर भी कि 'तुम्हें जल का आभास हो रहा है, वास्तव में यह दूध है, जल को दूध मानकर पीने के लिए कौन तैयार होगा?

वास्तविकता यही है कि अपने-अपने स्थान पर जड़ व चेतन दोनों सत्य हैं। जड़ व चेतन—यह तत्त्वों का स्वरूपभेद है, अवस्थाभेद नहीं; जबकि सुवर्ण आदि के विकार सुवर्ण आदि के अवस्थाभेदमात्र हैं। इसलिए न जड़ का परिणाम चेतन है, न चेतन का जड़। न ब्रह्म जगद्रूप है और न जगत् कभी ब्रह्मरूप होगा।

जगत् की यथार्थता जो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, शास्त्र के प्रमाण से अन्यथा प्रमाणित नहीं हो सकती। वस्तुतः शास्त्र का प्रामाण्य भी इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि वह किसी के अनुभव का ही व्याख्यान है। इसलिए प्रत्यक्ष तथा शास्त्र एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते।[1] मृगतृष्णिका इसलिए मिथ्या है कि उससे प्रेरित हमारी क्रिया निष्फल रहती है। किन्तु संसार को प्रत्यक्ष करके जो क्रिया हम करते हैं वह इस प्रकार निष्फल नहीं जाती। मृगतृष्णिका के जल से

१. शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोधः।—वेदार्थ संग्रह, पृ० ८७

प्यास नहीं बुझती किन्तु प्रत्यक्ष जल से प्यास बुझ जाती है। इस विषय में भी शंकर की स्थिति बड़ी विचित्र एवं उपहासास्पद है। पहले वे कहते हैं कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यावत् हैं'[1] और थोड़ा आगे चलकर उसी अध्याय में प्रमाणों की आवश्यकता को यह कहते हुए स्वीकार कर लेते हैं कि 'ज्ञान तो प्रमाणों द्वारा होता है।'[2]

परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सब-कुछ प्रत्यक्ष करके जानना सम्भव नहीं है। उसके लिए दूसरों के अनुभव पर निर्भर करना आवश्यक है। दूसरों के अनुभव शास्त्रों में सुरक्षित रहते हैं। इसलिए जो हम स्वयं नहीं जानते अथवा जान नहीं सकते उसे हम शास्त्रों के द्वारा जानते हैं। इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया है—

**अज्ञातज्ञापनं शास्त्रम् ॥६२॥**

अज्ञात का ज्ञान शास्त्र से होता है।

अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव सबसे अधिक निश्चितरूप का होता है परन्तु ऐसे व्यक्तियों को जो साक्षात् अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं अथवा ऐसे विषयों में जो हमारे लिए दुर्बोध हैं, ऐसे विचारों पर विश्वास करके स्वीकार करना पड़ता है जो उच्च कोटि के मस्तिष्कों के अनुभव, अभिलेख के रूप में सुरक्षित हैं। ऋषि, सन्त, आचार्य आदि आप्तपुरुषों की साक्षी को स्वीकार न करना मनुष्य-जाति के अनुभव की उपेक्षा करना है। यदि कोई व्यक्ति मात्र अपने अनुभव के आधार पर ही जीना चाहे तो बहुत देर तक नहीं जी सकता। फिर, **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** मानवमात्र की विचारधारा में समानता सम्भव नहीं। एक के कथन का दूसरा निषेध करता है और उसका अन्य। यह भी सम्भव है कि किसी दोष के कारण चेतना के समक्ष प्रस्तुत प्रमेय पदार्थ (विषय) का हम पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त न कर सकें। यह भी आवश्यक नहीं कि हमारे सामने प्रस्तुत प्रत्येक पदार्थ अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत हो। "टार्च के प्रकाश की भाँति हमारा अन्तःकरण हमें अपना ध्यान अपने लक्ष्य पर केन्द्रित करने में सहायता देता है। हम किसी वस्तु के उतने ही अंश को देखते हैं जितना हमारे तात्कालिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए आवश्यक होता है। हमारे सामान्य नियम भी इसी

---

१. **अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि।**—शां० भा० १।१।?

२. **ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्।**—तदेव १।४।१

दृष्टि से बनाये जाते हैं।"[1] इस प्रकार साधारण मनुष्य किसी वस्तु को उसकी समग्रता में नहीं देख पाते। अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करने-वाले आप्तपुरुषों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत होता है। इसी कारण उनके वचनों का प्रामाण्य होता है। इसलिए शास्त्र के बिना हमारा काम नहीं चल सकता।

भौतिक विज्ञान में हम उन परिणामों को स्वीकार करते हैं जिन्हें महान् अन्वेषकों ने सत्यरूप घोषित किया है। इसी प्रकार धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में ऐसे मेधावी पुरुषों के अभिलेखों से लाभ उठाना चाहिए जिन्होंने उस क्षेत्र में साधना करके श्रेष्ठता प्राप्त करने का प्रयास किया है। हम केवल कार्य को देखते हैं। इससे यह तो निश्चय हो जाता है कि इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य है, परन्तु इससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि वह कारण क्या है, क्योंकि एक ही कार्य के भिन्न-भिन्न अनेक कारण हो सकते हैं। रामानुज के मत में "जिन विषयों में इन्द्रियों की गति नहीं, वहाँ शास्त्र ही प्रमाण है।"[2] जिन विषयों का निश्चय मनुष्य की शक्ति के अन्तर्गत किसी साक्षी (प्रत्यक्ष या अनुमान) के द्वारा नहीं हो सकता वहाँ शास्त्र ही हमारी सहायता करता है। संसार में वैषम्य प्रत्यक्ष है। शास्त्र हमें बतलाता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना करता है और भिन्न-भिन्न आत्माओं को उनके कर्मा-नुसार फल देता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्र के अनुसार ईश्वर संसार में वर्त्तमान भेदों को स्वीकार करता है। इसलिए न अनेकत्व मिथ्या है और न ब्रह्म से जीवों का भेद मिथ्या है।

परन्तु इस प्रकार प्राप्त ज्ञान की भी अपनी सीमाएँ हैं। जो सिद्धान्त शास्त्र पर आधारित हैं उनका तर्क के साथ सामंजस्य होना चाहिए। धर्मशास्त्रों में अभिलिखित अनुभव को धर्मसम्बन्धी दर्शन के अन्तर्गत तर्क का आधार बनना चाहिए। तर्क एवं शास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं।

---

१. The internal organ helps us to concentrate consciousness on a narrow range, like a bull's eye lantern which restricts the illumination to a particular spot. We take note of those features of things which have a significance for our purpose. Even our general laws are established with a view to our plans and interests.

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P. 504

२. **अतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्।**—श्रीभाष्य २।१।११

**'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** (कठ० २।९) इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में जो तर्कविरोधी भावना प्रतीत होती है, वह शास्त्रविरोधी शुष्कतर्क अथवा वितण्डा आदि को लक्ष्य करती है। श्रेष्ठ तर्क को उपेक्षित न करके ऋषियों ने उसका महत्त्व स्वीकार किया है, क्योंकि शास्त्र से अनुमोदित तर्क अर्थ का साधक होता है। मनुस्मृति में कहा है कि "प्रत्यक्ष, अनुमान तथा विविध आगमरूप शब्द इन तीन प्रमाणों को धर्म का रहस्य समझने के इच्छुक पुरुष को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए।"[1] यहाँ 'अनुमान' से तर्क अभिप्रेत है। इस विश्वास के साथ कि 'वेद में वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है,'[2] भगवान् मनु ने बहुत पहले कह दिया कि "जो व्यक्ति वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं।"[3] वैशेषिक के उक्त सूत्र (६।१।१) में 'बुद्धि' पद से इस नाम का अन्तःकरण अभिप्रेत नहीं है। यहाँ यह पद नैसर्गिक नित्य ज्ञान का बोधक है।

शास्त्र अनेक हैं। उनमें परस्पर मतभेद भी सम्भव है। तब किसे प्रमाण माना जाए ?

**निरपेक्षं श्रुतेः प्रामाण्यमपौरुषेयत्वात्** ॥६३॥

अपौरुषेय होने से श्रुति का प्रामाण्य अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।

शास्त्र के आधार पर ज्ञान के दो स्रोत हैं—श्रुति तथा स्मृति। जिस प्रकार सांसारिक ज्ञान में अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार स्मृति का आधार श्रुति है। स्मृति को उसके मानवीय रचना होने से श्रुति के प्रामाण्य की अपेक्षा है, किन्तु ब्रह्म-निःश्वसित होने से श्रुति नित्य तथा स्वतःप्रमाण है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के आकृतिविषयक ज्ञान के लिए सूर्य का प्रकाश साक्षात् साधन है, वैसे ही वेद त्रिकालाबाधित ज्ञान का भण्डार है।

किसी भी मनुष्य के लिए पूर्णज्ञानी होना सम्भव नहीं। मानव का ज्ञान सदा यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। कितने ही कुशल तार्किक क्यों न हों, उनके द्वारा अत्यन्त सावधानी के साथ अनुमान किये गये

---

१. **प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम्।**
**त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥**—मनु० १२।१०५

२. **बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**—वै० ६।१।१

३. **यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।**—मनु० १२।१०६

विषय की व्याख्या अन्य कुशल तार्किकों द्वारा अन्य प्रकार से की जा सकती है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण, नित्य तथा निर्भ्रान्त है। नित्यज्ञान-मूलक होने से उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है। वेद के द्वारा प्राप्त ज्ञान को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् की समस्त कल्पनाओं द्वारा भी अन्यथा सिद्ध नहीं किया जा सकता। सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए वेद से परे कोई न्यायालय नहीं है। इसलिए वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि है।[1] मानव के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है। यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है। स्मृति तथा परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं है। उसे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह वेद के अनुकूल हो।[2] मीमांसाकार जैमिनि मुनि ने बहुत पहले इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।[3]

भामती के रचयिता वाचस्पति मिश्र का निश्चित मत है कि श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए। वह अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकती। अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थविहीन केवल शब्दमात्र है। केवल श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं हो सकती। वही श्रुति जिसका निश्चित तात्पर्य है, श्रेष्ठ है।[4] सहस्र श्रुतिवाक्य भी घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।[5] शंकराचार्य ने भी कहा है—शास्त्र का प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी से अधिक श्रेष्ठ है, तथापि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष के विषय हैं, वह अनुपयुक्त है।[6] उनका यह भी कहना है कि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा

---

१. **धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।**—मनु० २।१३

२. **श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्।**—शां० भा० २।१।१

३. **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।**—मीमांसा २।३।३

और भी देखें—**श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।**—जाबालस्मृति

**श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।**—भविष्य पुराण

**पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव न चापरः।**

**तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति॥**—मध्वाचार्य

४. **तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती न श्रुतिमात्रम्।**—सिद्धान्तलेशसंग्रह

५. **न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुं ईष्टे।**—भामती-प्रस्तावना

६. **प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धेहि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादि विषये।**

—गीता (१८।६६) शां० भा०

नहीं कर सकते।[1] इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर, वाचस्पति मिश्र आदि को श्रुति में प्रत्यक्ष के विरुद्ध अभिलेख होने की आशंका है। शंकर ने तो यहाँ तक लिख डाला कि शास्त्र आदि सब अविद्यावत् हैं,[2] किन्तु वही शंकराचार्य अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में शास्त्रों से उद्धृत प्रमाणों की भरमार करते हैं। ऐसी अवस्था में उनका शास्त्र को मिथ्या अथवा अविद्यावत् बताना सर्वथा असंगत हो जाता है। मानवीय रचना होने से अन्य शास्त्रों की प्रामाणिकता में अथवा उनके प्रत्यक्ष अनुभव के अनुकूल होने में आशंका हो सकती है, किन्तु सृष्टि तथा वेद दोनों के एक ही सत्ता के कार्य होने से उनके परस्पर-विरोधी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

परमात्मा की एक संज्ञा 'कवि' है (यजु० ४०।८)। उस कवि के दो काव्य हैं—एक शब्दरूप जिसे वेदचतुष्टय कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं। एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं—एक पर पद अंकित हैं, दूसरे पर पदार्थ। पहला 'न ममार न जीर्यति' (अ० १०।८।३२) अजर, अमर है, जबकि दूसरा नित्य परिवर्त्तनशील। वेद ब्रह्म का सिद्धान्त-ज्ञान (Theory) है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है, विश्व की नामरूपात्मक उभयविध रचना का एकमात्र कर्त्ता परब्रह्म है। नाम शब्द है जो ऋग्वेदादिरूप है और रूप जगदात्मक रचना है। अतः ब्रह्म के बनाये जगत् और उसी से प्रादुर्भूत वेद में पूर्ण सामंजस्य है। **'शास्त्रयोनित्वात्'** (वेदान्त दर्शन १।१।३) सूत्र का भाष्य करते हुए, बृहदारण्यक० (२।४।१०) के आधार पर, वेद के ब्रह्म-निःश्वसित होने की घोषणा करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि—"ऋग्वेदादि अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब विद्याओं के प्रकाशक हैं। उनका बनानेवाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त ब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई सर्वगुणयुक्त वेदों को बना सके—ऐसा सम्भव नहीं।[3] अपौरुषेय होने से वेद ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी

---

१. गीता व शां० भा० ३।२।२१

२. अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।—१।१।१

३. ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।—शां० भा० १।१।३

अभिव्यक्ति है।[1] उसमें भ्रान्ति के लिए कोई स्थान नहीं। किन्तु शंकरादि चतुर्वेद संहिताओं से अतिरिक्त अन्य सैकड़ों ग्रन्थों को भी श्रुति के नाम से अभिहित करते हैं। वे सब मनुष्यकृत हैं, अतएव उनमें ऐसे अज्ञान का मिश्रण सम्भव है जो प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी हो। इस विषय में सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि जो "प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जाता वह वेदों से जान लिया जाता है। यही वेद का वेदत्व है।"[2]

यदि संसार यथार्थ न हो तो उसका ज्ञान भी न हो, क्योंकि ज्ञेय का अभाव होने पर ज्ञान का विषय न रहने से ज्ञान किसका होगा ?

**न ज्ञेयनिरपेक्षं ज्ञानम् ॥६४॥**

ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं होता।

ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय के आश्रित होता है। इसलिए ज्ञेय की अपेक्षा से वह बदलता रहता है। ताजमहल को देखते समय ताजमहल-विषयक ज्ञान होता है और समुद्र को देखते समय समुद्र-विषयक ज्ञान। ज्ञाता तथा ज्ञेय के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। स्वप्नावस्था में प्रमेय पदार्थ स्वयं प्रत्यक्ष न रहकर संस्काररूप में विद्यमान रहते हैं। प्रगाढ़ निद्रा से जागने पर जब कोई यह कहता है कि 'मुझे चेतना नहीं रही' तो इसका तात्पर्य यही होता है कि निद्राकाल में प्रमेय पदार्थों का अभाव था। प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा अपनी आन्तरिक स्वतःचेतना के अन्दर ज्ञान के साथ रहता है किन्तु उस समय काम नहीं कर रहा होता, क्योंकि बिना प्रमेय पदार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान सम्भव नहीं होता। उसका यह कहना कि 'मैं बहुत अच्छी तरह सोया' सिद्ध करता है कि प्रमाता (ज्ञाता) उस समय भी विद्यमान था। जिनका निषेध किया जाता है, वे ज्ञान के विषय (प्रमेय पदार्थ) हैं। चैतन्य का स्वरूप यह निर्देश करता है कि ज्ञाता आत्मा भी है और उससे भिन्न प्रमेय पदार्थ भी हैं।[3]

वस्तुतः ज्ञान के कर्त्ता आत्मा तथा ज्ञेय (प्रमेय पदार्थ) के बिना ज्ञान के विषय में कुछ भी कहना निरर्थक है। निर्विषयक ज्ञान अचिन्त्य

१. तुलना करें—ईश्वर का चित् ही विश्व की विवेकपूर्ण रचना है।—**प्लैटो**

२. **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
**एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥**

३. **न निर्विषये काचित् संवित् अस्ति।**—रामानुज

पदार्थ है, इसलिए उसका उदाहरण मिलना असम्भव है। गीता में कर्मचोदना तथा कर्मसंग्रह का विवेचन करते हुए कहा है—"कर्मचोदना तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तथा, कर्मसंग्रह भी तीन प्रकार का है—करण, कर्म और कर्त्ता।"[1] कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है और कर्मसंग्रह से उसी मानसिक क्रिया के जोड़ की बाह्यक्रियाओं का बोध होता है। इन्द्रियों के द्वारा कोई कर्म होने से पूर्व मन से उसका निश्चय करना होता है। इस मानसिक विचार को 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं। यह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के रूप में तीन प्रकार की होती है। जैसे प्रत्यक्ष घड़ा बनाने से पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन में निश्चय करता है कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है और वह अमुक रीति से (ज्ञान) होगी। यह क्रिया 'कर्मचोदना' हुई। इस प्रकार मन का निश्चय हो जाने पर वह कुम्हार (कर्त्ता) मिट्टी, चाक आदि साधन (करण) जुटाकर प्रत्यक्ष घड़ा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्मसंग्रह है।

इस प्रकार ज्ञाता के अस्तित्व में ज्ञेय का अस्तित्व अन्तर्हित है। यदि प्रमेय पदार्थ नहीं है तो प्रमाता निरर्थक हो जाता है। यदि सब मिथ्या है तो उसे दिखानेवाला मन और देखनेवाली आँखें भी मिथ्या हैं। और, यदि देखनेवाला ब्रह्म है (क्योंकि अद्वैतमत में वही एकमात्र यथार्थ सत्ता है) तो उसका भी स्वरूप नष्ट हो जाता है। ब्रह्म 'सर्वज्ञ' कहाता है। किन्तु यदि 'सर्व' मिथ्या है तो उस सर्व=मिथ्या को जानने से उसकी सर्वज्ञता भी मिथ्या है। यदि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म उसे उत्पन्न करता, धारण करता तथा विलय करता है, तो निश्चय ही वह मिथ्या को बनाता, मिथ्या को धारण करता और मिथ्या को विलय करता है। ऐसा ब्रह्म खेल-खेल में झूठमूठ के घर बनाने-बिगाड़नेवाले बालकों जैसा अथवा हाथ की सफ़ाई दिखाकर मनोरंजन करके पैसा बटोरनेवाले मदारी जैसा सिद्ध होता है।

यह संसार यथार्थ है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर-भेद की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान हमें बताता है कि भेद विद्यमान है। हम उसे केवल

---

१. **ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।**
**करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥**—गीता १८।१८

औपचारिक नहीं कह सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नहीं कर सकती।

यदि संसार में जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है उसका अस्तित्व ही नहीं है तो देखने-सुननेवाले करणों का होना व्यर्थ है। निश्चय ही—

**इन्द्रियार्थक्यं विषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात् ॥६५॥**

विषयविशेष से सम्बन्ध होने में इन्द्रियों की सार्थकता है।

ज्ञानप्राप्ति में साधनरूप ज्ञानेन्द्रियों के अस्तित्व से ज्ञेय पदार्थों की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। यदि प्रमेय पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है तो उन्हें देखने-सुनने आदि के निमित्त इन्द्रियों की क्या आवश्यकता है? रज्जु को सर्परूप में दिखाने के समान पदे-पदे हमें धोखा देने के लिए आँखें दी गई हों, जिन शब्दों का अस्तित्व नहीं है उन्हें सुन-सुनकर हमें बहकाने के लिए कान दिये गये हों—प्राणिमात्र के हितैषी, दयालु तथा न्यायकारी परमेश्वर से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि दृश्यमान जगत् में किसी पदार्थ की यथार्थ सत्ता है तो इसमें सौ वर्ष तक जीने और मिथ्या पदार्थों को देखते-सुनते रहने की प्रार्थना क्यों की जाए और क्यों इन इन्द्रियों में रोग होने पर इनके उपचार के लिए प्रयत्न किया जाए? अन्धे व्यक्ति को किस बात का दुःख होना चाहिए? जो यथार्थ में नहीं है उसे देखकर ही क्या करना था? परन्तु अपने अनुभव से हम जानते हैं कि पीलिया हो जाने पर हमारी आँखें सब पीला-ही-पीला देखती हैं। हम यथार्थ में और मिथ्या में भेद स्वीकार करते हैं। इसीलिए आँखों की चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं जिससे प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ रूप में दिखाई दे। अयथार्थ तो सब समान है।

अद्वैत मत में आनुभविक जगत् स्वप्न में देखे-सुने के समान मिथ्या है। इस मान्यता को सूत्रबद्ध कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है—

**स्वप्नवृत्तवज्जाग्रद्दृश्यानां वैतथ्यम् ॥६६॥**

स्वप्न के वृत्त की भाँति जाग्रत् के दृश्य अयथार्थ हैं।

स्वप्नावस्था के दृश्य सर्वथा स्पष्ट होते हैं। जिस समय हम स्वप्न देख रहे होते हैं उस समय वे उतने ही यथार्थ दीख पड़ते हैं जितने जाग्रत् अवस्था में। उस समय हम जाग्रत् तथा स्वप्न के अनुभवों में तनिक भी भेद नहीं कर पाते। डेकार्ट कहता है—"जब मैं इस विषय

पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता हूँ तो मुझे एक भी लक्षण ऐसा नहीं मिलता जिसके द्वारा मैं निश्चितरूप से निर्णय कर सकूँ कि क्या मैं जाग रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ। स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जाग्रत्-अवस्था के अनुभव इतने अधिक समान हैं कि मैं पूर्णरूप से हैरान हो जाता हूँ और वस्तुतः मैं नहीं जानता कि मैं इस क्षण स्वप्न नहीं देख रहा।[1] सचमुच जैसी तृप्ति जाग्रत् में किये भोजन से होती है, ठीक वैसी ही स्वप्नदशा में किये भोजन से होती है। तथापि स्वप्नावस्था के अनुभवों को सभी मिथ्या मानते हैं। इसी प्रकार चराचर जगत् के नानाविध पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी मिथ्या हैं। वस्तुतः जो कुछ दिखाई देता है, वह सब अयथार्थ है। जो यथार्थ है वह दिखाई नहीं देता। शंकराचार्य ने गौडपादीयकारिका (२।४) पर अपने भाष्य में गौडपाद के तर्क को इस तर्कक्रम में प्रस्तुत किया है[2]—

१. जाग्रत्-अवस्था में देखे गये पदार्थ यथार्थ नहीं हैं—यह प्रतिज्ञा है।
२. हेतु यह है कि वे देखे गये हैं।
३. जैसे स्वप्न में देखे गये पदार्थ—यह दृष्टान्त है।
४. जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थ यथार्थ नहीं होते, वैसे ही दृश्यमानता का गुण जाग्रत्-अवस्था से सम्बन्ध रखता है—यह हेतु का उपयोग (हेतूपनय) है।
५. इसलिए जाग्रत् में देखे गये पदार्थ अयथार्थ हैं—यह निष्कर्ष (निगमन) है।

गौडपाद का कहना है कि क्या स्वप्न में और क्या जाग्रत्-अवस्था में, जो भी पदार्थ ज्ञान में आते हैं, वे सब अयथार्थ हैं।[3] गौडपादाचार्य

---

१. When I consider the matter carefully, I do not find a single characteristic by means of which I can certainly determine whether I am dreaming. The visions of a dream and the experiences of my waking state are so much alike that I am completely puzzled and I do not really know that I am not dreaming at this moment. —Descarte : Meditations, P. 1

२. जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्।—गौडपादीय कारिका (२।४) पर शां० भा०

३. यथा तत्र तथा स्वप्नं संवृतत्वेन भिद्यते।—कारिका २।४

बलपूर्वक कहते हैं कि बुद्धिमान् लोग स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थाओं को एक ही बताते हैं, भेदों के सादृश्य के कारण।[1] हमारा जीवन जाग्रत्-अवस्था का स्वप्न है (२।३१)। उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीतिमात्र हैं। यथार्थ में न कुछ उत्पन्न होता और न विनष्ट होता है (२।३२)। पदार्थ के रूप में जो कुछ प्रस्तुत होता है वह सब अयथार्थ है। यथार्थ सत्ता प्रतीतिरूप जगत् से अतीन्द्रिय है। संसार का अस्तित्व केवल मनुष्य के मन में है। समस्त प्रकार का परिवर्त्तन और गति, समस्त उत्पत्ति और विकास, समस्त विज्ञान और कल्पना केवल स्वप्नरूप और छायामात्र ही ठहरते हैं।

जगत् को स्वप्नवत् सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेत्वाभास का प्रत्याख्यान करते हुए अगले सूत्र के द्वारा जाग्रत् तथा स्वप्न के अन्तर को स्पष्ट किया है।

**न स्वप्नजागरितयोर्वैधर्म्यात् ॥६७॥**

स्वप्न और जाग्रत् के प्रत्ययों में वैधर्म्य होने से जाग्रत् के प्रत्यय स्वप्नवत् अतथ्य नहीं।

साधारणतया शरीरयुक्त आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जिस अवस्था में मन तथा इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का अर्थों से सम्पर्क रहता है उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं। स्वप्न में आत्मा का मन से सम्पर्क रहता है। जो संस्कार जाग्रत् दशा में इन्द्रियों द्वारा मन पर पड़ते हैं, वही निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं। इसी का नाम स्वप्न है। स्वप्न और जाग्रत् का द्रष्टा तो एक ही आत्मा है। बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया है कि जैसे यह आत्मा जाग्रत् से स्वप्न में और स्वप्न से सुषुप्ति में जाता है, जागने के लिए फिर वापस आ जाता है,[2] अर्थात् सुषुप्ति से स्वप्न में और स्वप्न से जाग्रत् में आ जाता है। इस प्रकार सोने से पहले और जागने के बाद वही आत्मा रहता है। आत्मानुसरण की चेतना सिद्ध करती है कि जो आत्मा सोई थी, वही जागी है। यदि सुषुप्ति से आत्मा के नैरन्तर्य में अन्तर आता और इस कारण कोई व्यक्ति सोने से पूर्व 'क' होता और जागने पर 'ख' होता तो कर्मों की व्यवस्था नहीं बनी रह सकती थी। वस्तुतः उस

१. स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥—कारिका २।५

२. पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति।—बृहद् ४।३।१६

अवस्था में स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा न रहने से हर प्रात:काल एक नये जीवन का सूत्रपात होता।

जाग्रत्-अवस्था में ज्ञान प्राप्त करनेवाली समूची यन्त्रयोजना कार्य करती रहती है और हम पदार्थों का ज्ञान मन तथा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में समस्त इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं और केवल मन सक्रिय रहता है। जाग्रत् में उपलब्ध ज्ञान का विषय—प्रमेय पदार्थ सम्मुख उपस्थित रहता है, इसलिए वह अनुभवरूप है। स्वप्न में विषय—पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती, इसलिए वह स्मृतिरूप है। इस प्रकार उपलब्धि तथा स्मृति का भेद स्पष्ट है। स्वप्न तभी तक यथार्थ है जबतक यथार्थ है जबतक हम स्वप्न देखते हैं, क्योंकि स्वप्नावस्था में देखे पदार्थों और उनकी प्रतीति की जागने पर बाधा हो जाती है, जबकि जाग्रत् में होनेवाली प्रतीति और पदार्थों की बाधा नहीं देखी जाती।[1] स्वप्न में अन्यथा प्रतीति यही है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है। पदार्थों के देश, काल व दशा में भी कुछ हेर-फेर हो जाता है। इस अन्यथाभाव से पदार्थ-मात्र को असत् नहीं माना जा सकता।

यदि सम्पूर्ण ज्ञान प्रतीतिमात्र है, अर्थात् रस्सी का रस्सी के रूप में भी ज्ञान उतना ही निराधार एवं मिथ्या है जितना रस्सी को साँप के रूप में जानने का ज्ञान, तो फिर यथार्थ और मिथ्या ज्ञान में क्या अन्तर रह जाता है? यदि स्वप्न में देखे सूर्य की भाँति जाग्रत् का सूर्य भी केवल भासता, वास्तव में न होता, तो फिर प्रकाश तथा अन्धकार की कल्पना भी सम्भव न होती। गौडपाद का कहना है कि यदि हम जाग्रत् और स्वप्न के प्रत्ययों को बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से देखना छोड़ दें तो दोनों सत्य हैं। परन्तु उनकी सत्यता को बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से देखें तो दोनों असत्य सिद्ध होंगे। पर इस 'यदि' पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। प्रत्यक्ष का अपलाप कैसे किया जा सकता है? स्वप्न में अग्नि का स्पर्श होने से हाथ जल गया था। जागने पर वह जलना मिथ्या सिद्ध हुआ। तो क्या इस तर्क के आधार पर कोई जाग्रत् में अग्नि में हाथ डाल देगा, यह सोचकर कि जैसे स्वप्न में नहीं

---

१. बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदप्यवस्थायां बाध्यते। शां० भा० २।२।२९
स्वप्नप्रत्ययो बाधितो जाग्रत् प्रत्ययश्चाबाधितः।—भामती

जला था वैसे ही जाग्रत् में भी नहीं जलेगा ? तथ्यों को अनदेखा कैसे किया जा सकता है ? स्वप्न में अनुभव हुआ कि कोई मुझे पुकार रहा है। हड़बड़ाकर उठ बैठा। द्वार खोलकर देखा तो वहाँ कोई न मिला। जाग्रत् में ऐसा होने पर प्रायः पुकारनेवाला मिल जाता है। तब गौड-पाद व डेकार्टे का यह कथन कि जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव समान होते हैं, कैसे संगत हो सकता है ?

जब स्वप्न के प्रत्ययों का निर्माण जाग्रत् के प्रत्ययों की वासना या स्मृति से होता है तो जाग्रत् के प्रत्यय मुख्य हैं, स्वप्न के गौण। इसलिए स्वप्न के प्रत्ययों की परीक्षा जाग्रत् की तराजू से तौलकर करनी चाहिए, न कि जाग्रत् के प्रत्ययों की स्वप्न की तराजू से। जाग्रत्-अवस्था का वैतथ्य विवादास्पद हो सकता है, किन्तु स्वप्न का वैतथ्य तो सर्व-मान्य है। फिर जाग्रत् में स्वप्न की तराजू से (जो निश्चितरूप से मिथ्या है) तोलना कहाँ की बुद्धिमता है ? जाग्रत् तथा स्वप्न के प्रत्ययों में अन्तर न देखनेवाले दार्शनिकों की भर्त्सना करते हुए भास्कर ने लिखा है—"जो जाग्रत् में प्रत्यक्ष पदार्थों को स्वप्न में प्रतीत होने-वाले पदार्थों के समान मिथ्या मानते हैं, वे ब्रह्मसूत्र (३।२।३) के यथार्थ को न समझकर लोगों को धोखा देते हैं।"[1]

गौडपाद के समान शंकर स्वप्न तथा जाग्रत् के प्रत्ययों को एक-जैसा नहीं मानते। ब्रह्मसूत्र (३।२।३) के भाष्य में उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु गौडपाद की कारिका (२।४) का भाष्य करते समय, गुरुभक्ति के अतिरेक के कारण, वह बहक गये और गौडपाद की लहर में बहकर एक बार फिर वदतोव्याघात के दोषी हो गए। यहाँ पर शंकर कह सकते हैं कि कारिका में परमार्थ का उल्लेख है, जबकि ब्रह्मसूत्र में बौद्धों का खण्डन करने के लिए हमने व्यवहार का मण्डन आवश्यक समझा, परन्तु व्यवहार-दशा में तो बौद्ध भी सब-कुछ सत्य मानते हैं। वे भी पदार्थों की पारमार्थिक सत्यता का ही प्रत्याख्यान करते हैं। शंकर ने अपनी कल्पना में संशोधन करके उसे विश्वसनीयता प्रदान करते हुए लिखा कि जैसे स्वप्न के अनुभव स्वप्न में सत्य होते हुए भी जाग्रत् में बाधित हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रत् के प्रत्यय ब्रह्मानुभव से बाधित हो जाते हैं। इसलिए स्वप्न के प्रत्ययों की भाँति जाग्रत् के

---

१. ये पुनर्जागरितावस्थायामपि मायामात्रमिति आघोषयन्ति ते सूत्रकाराभिप्रायं नाशयन्तः श्रोत्रियजनं मोहयन्ति।—वे० द० (३।२।३) भास्करभाष्य

प्रत्यय भी मिथ्या हैं। स्वप्न-प्रत्ययों के जाग्रत् में बाधित हो जाने से उनके अतथ्य होने की बात को तो सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों से सब प्रकार से परीक्षित जाग्रत् के प्रत्ययों का बाध कैसे हो सकता है? रज्जु में सर्प का बाध तो हो जाएगा, पर रज्जु का बाध कैसे सम्भव होगा? स्वप्न-प्रत्यय वात-पित्त-कफ़ आदि दोषों के कारण उत्पन्न होते हैं और जाग्रत् के प्रत्ययों की स्मृति, वासना आदि से उनकी व्याख्या हो जाती है। जाग्रत् के प्रत्ययों के लिए ऐसा कोई कारण नहीं मिलेगा। बौद्ध लोग कहते हैं कि यदि जाग्रत् के प्रत्ययों का बाध सम्भव है तो ब्रह्मानुभव का बाध भी सम्भव है। यदि कहो कि ब्रह्म तो प्रकाशस्वरूप है, प्रकाश का बाध नहीं हो सकता, तो जाग्रत् के प्रत्यय भी प्रत्यक्ष होने से प्रकाश के समान हैं, इसलिए उनका भी बाध नहीं होना चाहिए। **प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्?** यह तो शंकर भी मानते हैं कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो, वह सम्भव है और जो किसी प्रमाण से सम्भव न हो, वह असम्भव है।[1]

संसार में पदार्थों का बनते-बिगड़ते रहना प्रत्यक्ष है। संयोगजन्य होने से सृष्टि का बनना और समय पर विलय होना निश्चित है। इसलिए यह कहना कि उत्पत्ति तथा विनाश केवल प्रतीतिमात्र हैं, युक्तियुक्त नहीं है। फिर, जिस ब्रह्म को जानने के लिए बादरायण वेदान्तदर्शन की रचना में प्रवृत्त हुए उसका परिचय उन्होंने यही कहकर कराया कि वह ब्रह्म सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला, धारण करनेवाला तथा विलय करनेवाला है। समस्त शास्त्रों में ब्रह्म के इसी रूप की व्याख्या है। अनेक शास्त्रों का तो प्रकृत विषय ही सृष्टि की रचना आदि की व्याख्या करना है। प्रतीति तो हो जाती है, उसकी सिद्धि के लिए किसी योजनाबद्ध प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। पर सृष्टि में तो सर्वत्र व्यवस्था दीख पड़ती है। इसलिए उसे सर्वथा असत्, मिथ्या अथवा प्रतीतिमात्र कैसे माना जा सकता है?

यदि यह मान लिया जाए कि जाग्रत् के समस्त प्रत्यय स्वप्न के समान मिथ्या हैं तो जीना असम्भव हो जाए। यदि दिन में देखा मकान भी स्वप्न में देखे मकान की भाँति मिथ्या हो तो कौन उसे पाँच लाख रुपये व्यय करके लेने को तैयार होगा? यदि सब मिथ्या हो तो कौन किसके

१. यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनोपलभ्यते तत्सम्भवति। यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न सम्भवति।—शां० भा० २।२।२८

लिए भोजन बनाएगा ? इसलिए, जब शंकर जाग्रत् तथा स्वप्न के प्रत्ययों में भेद करते हैं तो दृश्यमान जगत् स्वप्नरूप नहीं रह जाता।

जाग्रत् के प्रत्यय स्वप्न के प्रत्ययों के समान नहीं होते, इसके लिए कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

**सदा सर्वत्रासम्भवात् ।।६७।।**

सदा और सर्वत्र सम्भव न होने से [जाग्रत् और स्वप्न के प्रत्यय समान नहीं होते]।

जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाएँ अपने-अपने स्थान पर दोनों यथार्थ हैं, परन्तु जहाँ जाग्रत्-अवस्था के अनुभूत पदार्थ सबके एक-जैसे होते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था के अनुभव सबके भिन्न-भिन्न होते हैं। दो व्यक्ति एक समय में एक घटना को देखते हैं। यदि दोनों को यही घटना स्मृतिरूप में स्वप्न में दीख पड़े तो यह आवश्यक नहीं कि दोनों के स्वप्नावस्था के प्रत्यय एक-जैसे हों। इसीलिए कहा जाता है कि "जहाँ जाग्रत्-अवस्था में अनुभूत यथार्थ हम सबके एक-समान हैं, वहाँ स्वप्नावस्था में जाने गये पदार्थ केवल स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति हैं।"[1] यदि स्वप्न में मुझे साँप उड़ते दिखाई पड़ें तो यह आवश्यक नहीं कि मेरे आस-पास सोनेवाले लोगों को भी ऐसी प्रतीति हो। इसी का नाम भ्रान्ति है और इसका बाध होता है। इसी बाध के कारण स्वप्नप्रत्यय मिथ्या और बाध न होने के कारण जाग्रत् के प्रत्यय सत्य सिद्ध होते हैं। गौडपाद भी सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं कि जाग्रत्-अवस्था के प्रत्ययों में समानता होती है जबकि स्वप्नावस्था के प्रत्यय सबके भिन्न होते हैं (कारिका २।१४)। फिर भी उनका यह कहना है कि, क्या स्वप्न में और क्या जाग्रत् में, जो भी पदार्थ ज्ञान में आते हैं, वे सब अयथार्थ हैं (कारिका २।४) यह वदतोव्याघात नहीं तो क्या है ?

पास्कल कहता है कि "यदि किसी कारीगर को यह विश्वास हो जाए कि वह हर रात्रि को निश्चित रूप से पूरे बारह घण्टे यह स्वप्न देखेगा कि वह राजा है तो मेरा विश्वास है कि वह भी उसी राजा के समान सुखी होगा जो हर रात बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखता है कि

---

१. The objects of waking experience are common to us all, but those of dreaming are the private property of the dreamer.
—Radhakrishnan

वह कारीगर है।"[1] इस पर टिप्पणी करते हुए राधाकृष्णन ने लिखा है कि पास्कल का यह कथन ठीक है कि यदि हर रात एक ही स्वप्न दिखाई दे तो हम उसमें ठीक उसी प्रकार लिप्त हो जाएँगे जैसे उन वस्तुओं में होते हैं जिन्हें हम प्रतिदिन देखते हैं।[2] पास्कल और राधाकृष्णन ने जो कुछ कहा है वह 'यदि' लगाकर कहा है। इस 'यदि' पर सदा प्रश्नसूचक चिह्न रहेगा। सदा एक-सा स्वप्न आ ही नहीं सकता। न कोई कारीगर हर रात को बारह घण्टे राजा होने का स्वप्न देखता है, न कोई राजा कारीगर होने का। मन भी सदा निद्रालग्न नहीं रहता, न सदा भ्रान्ति रहती है और जिस भ्रान्ति का बाध न हो तो वह भ्रान्ति नहीं रहती। इसलिए 'यदि' लगाकर जो कुछ कहा गया है, वह कभी होनेवाला नहीं है। यदि सदा एक-सा होगा तो स्पष्ट है कि इसका कभी बाध नहीं होगा और बाध नहीं होगा तो वह स्वप्न नहीं रहेगा। इस प्रकार जो प्रत्यय सबको सदा एक-जैसा होगा, वह निश्चय ही जाग्रत् का प्रत्यय होगा, स्वप्न का नहीं।

**आद्यन्तयोर्व्यभिचारात्॥६९॥**

आदि और अन्त में परिवर्त्तन (अन्तर) हो जाने से [जाग्रत् और स्वप्न के प्रत्यय समान नहीं हो सकते]।

जाग्रत् में प्रत्यय ही नहीं, अपितु पदार्थ की वास्तविक सत्ता का भाव भी रहता है। 'मैं वृक्ष देख रहा हूँ'—इसका केवल यही अर्थ नहीं है कि मेरे मन में वृक्ष का ज्ञान है, अपितु सामने प्रस्तुत वृक्ष के होने का भी ज्ञान है। यह मेरे मन की कल्पना नहीं है, इसलिए मैं वृक्ष को घोड़ा बनाकर उस पर सवार नहीं हो सकता। यदि द्रष्टा इन्द्रियदोष से पीड़ित नहीं है तो उसे जो वस्तु जैसी है सदा वैसी ही दिखाई देगी। स्वप्नदशा में सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, केवल मन सक्रिय रहता है। ज्ञानप्राप्ति के अन्य उपयुक्त साधन न होने के कारण मन केवल

---

१. If an artisan were certain that he would dream every night for full twelve hours that he was a king, I believe that he would be just as happy as a king who dreams every night for twelve hours that he is an artisan.

—Pascal quoted in Radha. Ind. Phil. II, 454

२. Pascal is right when he asserts that if the same dream came to us every night we should be just as much occupied by it as by the things we see everyday.—Ibid.

कल्पना के बल पर उड़ान भरता रहता है। इसलिए स्वप्न में देखे हुए पदार्थ आदि में कुछ, मध्य में कुछ और अन्त में कुछ-का-कुछ दिखाई देते हैं। किसी प्रकार के तारतम्य का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। अनेक बार स्वप्न में देखी वस्तु तत्काल बदल जाती है। अभी जो घोड़ा था, कुत्ता दीखने लगता है। आदि में जो रथ दीख पड़ता है, थोड़ी देर में उसका मनुष्य बन जाता है और कुछ देर के पश्चात् वह मनुष्य भी बन्दर या वृक्ष के रूप में दिखाई देने लगता है। कलकत्ता को बम्बई और बम्बई को दिल्ली बनते देर नहीं लगती। ये सब स्थितियाँ स्पष्ट करती हैं कि स्वप्न में पदार्थ का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। वह विपर्यय ज्ञानमात्र है। इसके विपरीत जाग्रत् में पदार्थ की वास्तविक सत्ता होती है, वह द्रष्टा की कल्पना पर निर्भर नहीं होती।

स्वप्नदशा में हमारे अनुभव सर्वथा जाग्रत् के समान प्रतीत होते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

**जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तत्तुल्यनिर्भासत्वम् ॥७०॥**

जाग्रत्-अवस्था में जो अनुभव प्रत्यक्ष होते हैं, उनकी वासनाएँ ही स्वप्न का उपादान होती हैं, अर्थात् जाग्रत्-प्रत्ययों की वासनाओं से ही स्वप्न की उत्पत्ति होती है। इसलिए **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** इस न्याय के अनुसार स्वप्नावस्था के प्रत्यय जाग्रत् के प्रत्ययों के समान प्रतीत होते हैं। भासत्व का अर्थ है कि जाग्रत् के समान उनकी प्रतीति होती है, वास्तव में वे वैसे नहीं होते।

स्वप्न के प्रत्यय सर्वथा मिथ्या नहीं होते। तथापि जाग्रत् की अपेक्षा वे मिथ्या होते हैं—

**जाग्रद्विषयापेक्षं तदनृतत्वम् ॥७१॥**

जाग्रत् के प्रत्ययों की अपेक्षा से स्वप्नप्रत्यय मिथ्या हैं।

जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों के प्रत्यय अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। जाग्रत् के प्रत्ययों से उत्पन्न होने एवं उनके अनुरूप होने के कारण स्वप्न के प्रत्ययों को सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता। किन्तु वे तभी तक सत्य हैं जब तक हम स्वप्नाभिभूत हैं। जाग्रत् के प्रत्ययों के समान उनमें स्थायित्व नहीं होता। इसी रूप में वे मिथ्या हैं।

स्वप्नदशा में जो देखा-सुना जाता है वह सब मन द्वारा कल्पित होता है। इसी प्रकार जादूगर ऐसे अनेक पदार्थों की सृष्टि कर दिखाते

हैं जिनकी कहीं सत्ता नहीं होती। आनुभविक जगत् इसी प्रकार का खेल है। इस मान्यता को सूत्रबद्ध करके पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

**स्वप्नमायादिवच्चासत् रथादिसृष्टिवत् ॥७२॥**

स्वप्न तथा माया (जादू) के समान संसार असत् है, रथादि की सृष्टि की तरह।

स्वप्न में जो रथादि का दर्शन होता है, वह मात्र विपर्यय-ज्ञान है, भ्रान्ति है। इसी प्रकार जगत् में दृश्यमान पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। वे स्वप्न में देखे जानेवाले पदार्थों की भाँति प्रतीतिमात्र हैं। गौड-पाद का कथन है कि जैसे स्वप्न, जादू, इन्द्रजाल आदि मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् वेदान्ती सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानते हैं।[1]

स्वप्न के स्वरूप का निर्देश करते हुए बृहद्० में स्पष्ट कहा है— "स्वप्न में न रथ होते हैं, न रथ में जुतनेवाले घोड़े और न सड़कें; किन्तु वह रथ, घोड़े, सड़कें आदि सब रच लेता है। न वहाँ आनन्द है, न मोद, न प्रमोद; किन्तु वह आनन्द, मोद, प्रमोद की सृष्टि कर लेता है। न वहाँ तालाब होते हैं, न झीलें, न नदियाँ; किन्तु वह इन सबको बना डालता है। इसीलिए वह (आत्मा) कर्त्ता कहाता है।"[2] जो कभी हाथी पर नहीं बैठा, वह अपने को हाथी पर बैठे सैर करता देखता है। जिसने कभी पेट भरकर रोटी नहीं खाई, वह अपने को मालपुए उड़ाता पाता है। स्वप्न में इन पदार्थों की रचना की जाती है, यह उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में 'सृजते' क्रियापद का प्रयोग किये जाने से स्पष्ट है। स्वप्न में इन सबको सृष्टि करनेवाला जीवात्मा है, इस-लिए सन्दर्भ के अन्त में 'स हि कर्त्ता' कहा है। इससे प्रमाणित होता है कि वहाँ रथ आदि विपरीत ज्ञानमात्र नहीं हैं, अपितु जीवात्मा द्वारा सृष्ट पदार्थ हैं। तथापि वे मिथ्या हैं, इसका निषेध नहीं किया

---

१. **स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।**
**तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥—२।३१**

२. **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता।—बृहद्० ४।३।१०**

जा सकता। इसी प्रकार दिखाई देने पर भी जगत् तथा उसके पदार्थ मिथ्या हैं।

इसकी समीक्षा तथा प्रत्याख्यान अगले सूत्र में किया है।

**मायैव सन्ध्ये सृष्टिर्कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।।७३।।**

पूर्णरूप से व्यक्तस्वरूपवाला न होने से स्वप्न की सृष्टि विपरीत-ज्ञान अथवा भ्रान्तिमात्र है।

'सन्ध्य' का अर्थ स्वप्न है, क्योंकि यह जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। बृहद्० (४।३।९) में स्पष्ट कहा है—'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'। रथ आदि की सृष्टि कब होती है, इसके लिए उपनिषद् ने कहा—'स यत्र प्रस्वपिति' जब वह सोता है। देखना यह है कि क्या वहाँ जाग्रत् के समान सचमुच रथ आदि पदार्थों की रचना कर ली जाती है? अथवा वहाँ इन पदार्थों का विपरीत ज्ञानमात्र होता है? बादरायण कहते हैं कि ये 'मायामात्र' हैं (वे० द० ३।२।३)। लोक तथा शास्त्र में माया शब्द प्रतीति, भ्रान्ति, धोखा, छल-कपट आदि अर्थों का वाचक है। स्वप्न की सृष्टि तथा जाग्रत् की सृष्टि की तुलना करते हुए शंकराचार्य ने भी 'माया' शब्द का इन्हीं अर्थों में ग्रहण किया है।[1] परन्तु यहाँ उन्होंने स्वप्न की सृष्टि को ही माया कहा है, जाग्रत् की सृष्टि को नहीं।

मानव-देह के अन्दर इतने बड़े रथों, घोड़ों, सड़कों आदि के लिए कहाँ स्थान रक्खा है? इसलिए वहाँ उनके निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि वे वहाँ सचमुच बन गये होते तो जागने पर कहाँ चले जाते? इसलिए स्वप्न में रथादि की सृष्टि प्रतीतिमात्र है। स्वप्न में रथ आदि का वास्तविक अस्तित्व न होकर वह केवल प्रतीतिमात्र इसलिए माना जाता है कि वहाँ अर्थ का अभिव्यंजन पूर्णरूप (कात्स्न्यं) से नहीं हो पाता। पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश व काल में उचित निमित्तों से न होना।[2] स्वप्न में दीखने-वाले पदार्थों में यह दोष होता है। स्वप्न में शरीर के अन्दर बड़े-बड़े पहाड़, जंगल व नगर दीख पड़ते हैं। छोटे-से देह में इन सबका वास्तव

---

१. **मायैव सन्ध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति।**

२. **न हि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने सम्भाव्यन्ते।**
—शां० भा० ३।२।३

में हो सकना असम्भव है—इनके दीखने का यह उचित देश नहीं है। स्वप्न प्रायः रात्रि में देखे जाते हैं। सूर्य रात्रि में नहीं होता। इसलिए यदि स्वप्न में दिन और दिन में होनेवाले कार्य दीख पड़ते हैं तो यह उनके लिए उचित काल न होने से विपरीत ज्ञानमात्र है। इसी प्रकार जब स्वप्नावस्था में दीखनेवाला काला घोड़ा तत्काल कुत्ता या वृक्ष दीखनेवाला मनुष्य दीखने लगता है तो यह निमित्त-विषयक अनौचित्य है।

देशकाल-विषयक अनौचित्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्वप्न में जंगल, पर्वत आदि पदार्थ देह में उत्पन्न नहीं होते। वे तो अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं। फिर उस दशा में मन-सहित आत्मा ही उन्हें देखने देह से निकल जाता है और घूम-फिरकर देह में लौट आता है। यह समाधान केवल कल्पनामूलक है। स्थूल देह से आत्मा निकल जाने पर देह जीवित नहीं रह सकता। शयनकाल में श्वास-प्रश्वास की गति, रक्तसंचार आदि की क्रियाओं के यथावत् होते रहने से स्पष्ट है कि जीवात्मा पलभर के लिए भी बाहर नहीं जाता। वस्तुतः स्वप्नकाल में देह के अन्दर रहते हुए ही आत्मा को इन पदार्थों की प्रतीति होती है। बृहद्० (२।१।१८) में बताया है—**'स्वे शरीरे यथा-कामं परिवर्त्तते'** अपने शरीर में जीवात्मा स्वेच्छापूर्वक घूमा करता है। इसलिए इस विषय में **'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा'** (बृहद्० ४।३।१२) इत्यादि सन्दर्भों का लाक्षणिक अर्थ करना उचित है। स्वप्न में आत्मा देह से गया प्रतीत होता है, वास्तव में जाता नहीं। इसी प्रकार 'सृजते' क्रियापद का मुख्य अर्थ न लेकर गौण अर्थ लेना चाहिए। आत्मा को 'कर्त्ता' भी स्वप्नदर्शन की सृष्टि का हेतु होने की दृष्टि से कहा गया है, रथादि का स्रष्टा होने के कारण नहीं।

जाग्रत् में हाथी की सवारी न करने पर भी स्वप्न-दशा में हाथी पर सवार होने का यह अर्थ नहीं है कि स्वप्न में एक नवीन मानस-सृष्टि की रचना होती है जिसका जाग्रत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में स्वप्न में जाग्रत् ही कुछ अस्तव्यस्त होकर प्रतिभासित हो उठता है। हमने जाग्रत् में हाथी को भी देखा है और उसपर सवार होकर जाते हुए लोगों को भी देखा है। स्वप्न में इतना ही विशेष है कि दूसरों की जगह हम अपने-आपको हाथी पर बैठा देखते हैं। हाथी पर सवार होने की भावना हमारी भी थी, पर जाग्रत् में हम अपनी

भावना पूरी न कर सके। उसी भावनावश हमारी तीव्र वासना ने हमें हाथी पर जा बिठाया।

आगे कतिपय सूत्रों में स्वप्नदर्शन का स्वरूप और उसकी प्रक्रिया का विवेचन किया है।

**स्मृतिरूपं स्वप्नदर्शनम् ॥७४॥**

स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है।

जिस इन्द्रिय के द्वारा जो प्रथम जाना गया या किया गया था, कालान्तर में उसका प्रयोग न होने अथवा उसके नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त अनुभव की स्मृति बनी रहती है। यह 'याद आना' किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नहीं, अतः मन की सिद्धि में स्मृति का स्वतः प्रामाण्य है। गौतम मुनि ने न्यायदर्शन में 'अनुमान' को 'प्रत्यक्ष' का अनुगामी बताया है।[१] उसी प्रकार 'स्वप्न' को 'जाग्रत्' का अनुगामी समझना चाहिए[२] अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं हो सकता, उसी प्रकार जाग्रत् में हुए अनुभव के बिना स्वप्न नहीं हो सकता। जाग्रत् के प्रत्ययों की स्मृति से स्वप्नों का निर्माण होता है। अरस्तू के अनुसार इन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते हैं, उसी के संस्कार शेष रह जाते हैं। इसी से स्वप्न होता है।[३] प्लैटो के मत में स्वप्न का सम्बन्ध जाग्रत्-अवस्था-सम्बन्धी व्यापारों से है।[४]

जाग्रत् का चिन्तन और स्वप्न का अनुभव दोनों स्मृतिरूप हैं। स्वप्न में किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती। स्वप्न देखनेवाला आत्मा सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। वह अधीन वस्तुओं से प्रतिबन्धयुक्त आत्मा है। यही कारण है कि हम स्वप्नावस्था में अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते। यदि ऐसा करना सम्भव होता तो किसी को भी बुरा स्वप्न न आता। जाग्रत्-अवस्था में मनुष्य जिन वस्तुओं को देखता है उन्हीं को सोता हुआ देखता है।[५] इसलिए स्वप्न जाग्रत्-

---

१. तत् (प्रत्यय) पूर्वकमनुमानम्। —न्याय० १।१।५

२. तत् (जाग्रत्) पूर्वकं स्वप्नदर्शनम्।

३. Aristotle refers them (dreams) to the impressions left by the objects seen with the eyes of the body.

—Encyclopedia Britt, Ed. 1911, Vol. 8, on Dreams

४. Plato connects dreaming with the normal working operations of the mind. अद्वैतवाद, पृष्ठ ७०

५. यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः। —बृहद्० ४।३।१४

अवस्था में देखे-सुने-किये की स्मृतिमात्र है। परन्तु जहाँ जागृतावस्था में स्मृति का ज्ञान रहता है, वहाँ स्वप्नावस्था में स्मृति पदार्थ स्मृति-रूप में न आकर अनुभवरूप में भासते हैं। स्वप्नविवेचन में, जाने-अनजाने, स्मृति एवं अनुभव शब्दों का पर्याय से प्रयोग होते देखा जाता है। वस्तुतः स्वप्नज्ञान को स्मृति मानते हुए यह स्वीकार किया जाता है कि स्वप्नज्ञान में स्मृत्यंश पूर्णरूप से मुषित रहता है, अभिव्यक्ति में नहीं आता। इसलिए वहाँ ज्ञान अनुभव के समान प्रतीत होता है। यद्यपि स्वप्न का ज्ञान केवल मानस है और बाह्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, तथापि स्वप्नद्रष्टा को ऐसी प्रतीति होती है कि उसकी इन्द्रियाँ उसके साथ सहयोग कर रही हैं। परन्तु जहाँ स्वप्न में पदार्थों की स्मृति होती है, जाग्रत् में उनका प्रत्यक्ष होता है।[1] स्वप्नज्ञान का यही मिथ्यात्व है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है और पदार्थों के देश, काल, दशा आदि में उलटफेर हो जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यक्ष के बाद ही स्मृति होती है। जाग्रत्-प्रत्ययों की स्मृति से उत्पन्न होने के कारण स्वप्न-प्रत्यय जाग्रत् के प्रत्ययों के सदृश प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि जाग्रत्-प्रत्यय मुख्य हैं और स्वप्न-प्रत्यय उनपर आश्रित होने से गौण हैं। उपमेय से उपमान बड़ा होता है। इसलिए जाग्रत्-प्रत्ययों को देखकर स्वप्न-प्रत्ययों की परीक्षा करनी चाहिए, न कि स्वप्न-प्रत्ययों को देखकर जाग्रत्-प्रत्ययों की। स्वप्न को तराजू मानकर जाग्रत्-प्रत्ययों को उसमें तोलना और इस प्रकार पदार्थमात्र को असत् मान बैठना न युक्तियुक्त है, न न्याय्य।

प्रश्नोपनिषद् (४।५) में कहा है कि "सब कोई दृष्ट-अदृष्ट, श्रुत-अश्रुत, सत्-असत्, अनुभूत-अननुभूत सब-कुछ देखते हैं।"[2] इस आधार पर कहा जा सकता है कि स्वप्न देखे-सुने की स्मृति से अतिरिक्त कुछ और भी है। उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ के अनुसार अनदेखा और अन-सुना भी स्वप्न में देखा-सुना जाता है, किन्तु वस्तुतः वहाँ ऐसी भावना नहीं है। ऐसा होता तो वहीं यह न कहा गया होता कि "जो जागते समय देखा है, उसे सोते समय ऐसे देखता है जैसे प्रत्यक्ष देखता है; जो

---

१. **स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।**
—शां० भा० २।२।२६

२. **दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।**—प्रश्न० ४।५

जागते में सुना है, उसे सोते समय ऐसे सुनता है जैसे प्रत्यक्ष सुनता है; देश-देशान्तर में जो अनुभव किया है, उसे बार-बार अनुभव करता है।"[1] अतएव उक्त सन्दर्भ का यही तात्पर्य है कि जाग्रत्-अवस्था में वस्तु-समुदाय जैसा और जिस प्रकार अनुभव किया जाता है, स्वप्न में बिल्कुल वैसा ही नहीं दीखता। स्वप्न में आत्मा के साथ मनःसंयोग की विशेषता निद्रादोष समझना चाहिए। इसके कारण स्वप्न में स्मृति की शृङ्खला व्यवस्थित नहीं रहती परिणामतः जाग्रत् के प्रत्यय कुछ उलटफेर के साथ स्वप्न में भासते हैं। परन्तु सर्वथा अननुभूत विषय की स्मृति वहाँ भी नहीं होती। कभी-कभी स्वप्न में बहुत समय पूर्व देखे, सुने या किये की स्मृति उभर आती है। तब स्मरण नहीं आता कि जो उस समय देखा, सुना या किया था, वही इस समय दिखाई या सुनाई दे रहा है। किन्तु स्मरण न आने से उसका पूर्वदृष्ट, पूर्वश्रुत या पूर्व-कृत न होना सिद्ध नहीं होता।

**न संस्कारं विना स्मृतिः ॥७५॥**

संस्कार के बिना स्मृति नहीं होती।

संस्कारमात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्मृति कहाता है। स्मृति-काल में पूर्वानुभूत विषयों का ही पुनः-पुनः अनुभव होता है। किसी अननुभूत विषय की स्मृति कभी नहीं होती। किसी वस्तु या व्यवहार का अनुभव हो जाने पर उसका संस्कार मन में बना रह जाता है। कालान्तर में उपयुक्त उद्बोधक उपस्थित होने पर आत्मा में सन्निहित वह संस्कार उद्बुद्ध होकर अनुभूत विषय को प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार की वृत्ति का नाम स्मृति है। संस्कार सदा अनुभूति के समान होते हैं और स्मृति सदा संस्कारों के अनुरूप होती है। स्वप्नावस्था स्मृति का ही एक रूप है।

संस्कार में दृढ़ता आवृत्ति पर निर्भर करती है। स्वप्न में विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है। उसका निमित्त तीव्र संस्कार हैं। संस्कार के सिवा अन्य किसी निमित्त की कल्पना नहीं की जा सकती। अनुभव में जो संस्कार आत्मा में बैठ जाते हैं, स्वप्नदशा में मन के सहयोग से वही संस्कार स्मृति बनकर आ जाते हैं। जाग्रत्-अवस्था में हम उन

---

१. यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशादिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति।—तदेव

संस्कारों को जगाते हैं, स्वप्नदशा में वे अनायास उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। स्वप्नदशा की परिस्थितियाँ जाग्रत् पर निर्भर करती हैं, क्योंकि—

**पूर्वानुभवजन्यः संस्कारः ॥७६॥**

हम जो कुछ देखते, सुनते या करते हैं उसकी जो छाप आत्मा पर रह जाती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं।

जिन संस्कारों से पूर्व-अनुभव किये गये पदार्थों के विषय में स्मृति, राग-द्वेष, सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'वासना' कहते हैं। जैसा कोई पदार्थ देखा-सुना जाए, पदार्थ के न रहने पर भी वह वैसा ही जान पड़े—यह उसका 'स्मरण' है। मनुष्य द्वारा निर्मित कैमरे की प्लेट पर हाथी का मात्र आकार ही आता है, और वह भी अधिक-से-अधिक उतना बड़ा जितनी बड़ी प्लेट। किन्तु मन की प्लेट पर हाथी उतना ही बड़ा अंकित होता है जितना बड़ा देखा जाता है। कैमरे की प्लेट पर आम का केवल आकार बनकर रह जाता है, किन्तु जब उसका स्मरण होता है तो उसके रूप, रंग, स्वाद, गन्ध, भार आदि सभी का मानस-प्रत्यक्ष होता है। जब कभी हमें एक सप्ताह पूर्व मिले मित्र का स्मरण होता है तो उसके रूप-रंग, वेश-भूषा, अंगों का संचालन, बातचीत—सब वैसा ही दिखाई-सुनाई देने लगता है जैसा मिलते समय देखा-सुना था। इसका कारण है कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है, वह सहयोगी मन के द्वारा संस्काररूप में ज्यों-का-त्यों आत्मा पर अंकित हो जाता है। संस्कार एवं तज्जन्य स्मृति दोनों पहले अनुभव किये पदार्थों के विषय में होते हैं, और केवल जाग्रत्-दशा में ही सम्भव हैं। जाग्रत्-दशा में जिन पदार्थों का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वे असत् नहीं होते। इसलिए उनके विषय में हमारे अनुभव को असत् का अनुभव नहीं कहा जा सकता। इस विवेचन के आधार पर डेकार्टे का स्वप्नविषयक यह कथन हमें स्वीकार करना होगा कि "स्वप्नावस्था में हमारे प्रत्यय जाग्रत् में अनुभूत वास्तविक पदार्थों के चित्रों की प्रतिकृति होते हैं।"[1]

कभी-कभी स्वप्न में ऐसी अटपटी बातें भी देखने में आती हैं जो

---

१. Nevertheless, we must admit that the things which we imagine in sleep are like pictures and paintings which can be formed after the likeness of things actually seen in the waking state.

उस रूप में जाग्रत् में कभी नहीं घटी होतीं। यह सब पूर्वदृष्ट-श्रुत-कृत को उपादानरूप मानकर उसमें विभिन्न प्रकार से जोड़-तोड़ करके सम्भव होता है। यह भी हो सकता है कि संस्कारों अथवा वासनारूप ज्ञान के आत्मा में जन्म-जन्मान्तर तक बने रहने के कारण इस प्रकार के पदार्थ व घटनाएँ इस जन्म की न होकर पूर्वजन्मों में अनुभूत हों। जन्म-जन्मान्तर के और इस जन्म के भी संस्कार चित्त में कहाँ-कहाँ दबे पड़े रहते हैं—इसका हमें सम्यक् ज्ञान नहीं होता। जब कोई संस्कार ऊपर आकर स्मृतिरूप में प्रकट हो जाता है तभी हमें उसका पता चलता है, परन्तु कभी-कभी प्रयास करने पर भी नहीं जान पाते। अगले सूत्र में इसका विवेचन किया है।

**सचेतनावचेतनाचेतनभेदात्तिस्रोऽवस्थाश्चित्तस्य ॥७७॥**

सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन भेद से चित्त की तीन अवस्थाएँ हैं।

कुछ संस्कार तो स्मरण करते ही अनायास हमारे स्मृति-पटल पर उभर आते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो प्रयास करने पर उद्भूत हो जाते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम प्रयास करने पर भी नहीं ढूँढ पाते। चित्त अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों के कारण ऐसा होता है। चेतना की तीन अवस्थाएँ हैं—सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन।[१] सचेतन-अवस्था नदी के जल की ऊपरी सतह के समान है। जल की ऊपरी सतह के नीचे जो जल है, वह अवचेतनावस्था का प्रतीक है। अचेतनावस्था धरती के धरातल को स्पर्श करती हुई जलधारा के समान है।

जिन अनुभवों को प्राप्त किये अधिक समय नहीं बीता होता अथवा समय-समय पर आवश्यकता पड़ते रहने से जो हमसे दूर नहीं हो पाते उनके संस्कार जल की ऊपरी सतह पर तैरते हुए पदार्थों के समान हैं। ये संस्कार हमारे सचेतन मन में बने रहते हैं और आवश्यकता होने पर सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

कभी-कभी चित्त के गहरे जल में ध्यान की डुबकी लगाकर ही हम अपने अभीष्ट संस्कार को जगाने में समर्थ होते हैं। प्रायः अनुभव-काल में की गई हमारी उपेक्षा इसमें कारण होती है। यदि अनुभव के समय मनन तथा निदिध्यासन से संस्कार को परिपक्व कर चित्त को अर्पण किया जाए तो अवचेतन मन निश्चय ही उसे सँभालकर रखता

---

१. Conscious, Sub-conscious and unconscious.

है और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालकर दे देता है। परन्तु इसके लिए कुछ कहना-सुनना अवश्य पड़ता है और कार्यसिद्धि में कुछ समय भी लगता है। कभी-कभी किसी प्रबल सहकारी संस्कार के उद्भूत होने पर ही अपेक्षाकृत निर्बल संस्कार की स्मृति हो पाती है। जैसे— किसी व्यक्ति को साधारणतया न पहचान पाने पर भी हम उसे एक झटके के साथ तब पहचान पाते हैं जब वह हमें याद दिलाता है कि एक बार रात्रि के समय भयंकर वर्षा और आँधी से बचने के लिए वह हमारे बरामदे के एक कोने में चुपचाप बैठ गया था और हमने चोर समझकर उसे ललकारा था। पर्याप्त समय तक काम में न आने के कारण भी कुछ संस्कार निर्बल पड़ जाते हैं। इस प्रकार के संस्कार अवचेतनावस्था में चले जाते हैं। थोड़े-से प्रयास से ही उभरकर वे बाहर आ जाते हैं।

कभी-कभी गहरा गोता लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट संस्कार को नहीं जगा पाते। अत्यधिक प्रयास करने—बार-बार माथा टकोरने पर भी हमें सफलता नहीं मिल पाती। इनमें कुछ संस्कार तो ऐसे होते हैं जिन्हें हम सर्वथा अनुपयोगी समझकर कूड़े-करकट की कोठरी में डाल देते हैं। तब कभी अकस्मात् आवश्यकता पड़ जाने पर भी हमारे लिए उन्हें ढूँढ निकालना सम्भव नहीं रहता। कभी-कभी दूषित विचारों के आने पर हम उन्हें मन में से धकेलकर बाहर फेंक देने का प्रयास करते हैं, परन्तु एक बार आनेवाला जाने का नाम नहीं लेता। इसलिए बाहर जाने की बजाय वे हमारे मन के अँधेरे कोने—अन्तस्-तल अथवा अचेतन स्तर में छुपकर बैठ जाते हैं। कुछेक को हम स्वयं समाज के भय से छुपाकर बिठा देते हैं। कुछ संस्कार हमारी अतृप्त वासनाओं से उद्भूत होते हैं। ये सभी अचेतन में जमा हो जाते हैं। किसी भी संस्कार का सर्वथा नाश नहीं होता। किसी भी अवस्था में रहे, वह रहेगा अवश्य। ऐसे उपेक्षित अथवा दबे पड़े संस्कार भी कभी-कभी बिना बुलाये आ धमकते हैं और हम उन्हें पहचानने को विवश हो जाते हैं। अचेतनावस्था को प्राप्त संस्कार मनुष्य के विक्षिप्त अथवा मूर्च्छित हो जाने पर मुखर हो उठते हैं। कभी-कभी जाग्रत्-अवस्था में ऐसा होता है कि किसी विषय में भगीरथ-प्रयत्न करने पर भी जब हम कोई निश्चय नहीं कर पाते और अन्ततः उस विषय का सर्वथा परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने

पर भी याद न आ पानेवाली बात बैठे-बैठे अपने-आप याद आ जाती है—बिना बुलाये आ टपकती है। ऐसी विचित्र है मन की गति ! स्वप्नावस्था में न जाने कब-कब के और कहाँ-कहाँ के संस्कार विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाते हैं।

**न देहयोगादृते स्मृत्यादयः ॥७८॥**

देह के योग के बिना स्मृति आदि नहीं होती।

स्वप्न का कारण स्मृति और स्मृति का कारण संस्कार हैं, परन्तु संस्कारों का बनना और बनकर कालान्तर में उद्बुद्ध होकर प्रतीति का कराना देहयोग से होता है। जबतक आत्मा का देह से सम्बन्ध न हो, तबतक वह किसी प्रकार का अनुभव करने में असमर्थ है। इसलिए देहसम्बन्ध के बिना न संस्कार बन सकते हैं और न वे उद्बुद्ध होकर किसी प्रतीति का कारण हो सकते हैं। इस प्रकार संस्कारों के उद्बोधन से स्वप्न का होना देह के बिना सम्भव नहीं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्न का आश्रय देहधारी जीवात्मा ही हो सकता है, विदेह परमात्मा नहीं।

बिना देखे-सुने या अनुभव किये स्वप्न में देखना-सुनना या अनुभव करना सम्भव नहीं—इसमें असन्दिग्ध प्रमाण है कि—

**न जन्मान्धस्य स्वप्ने रूपदर्शनम् ॥७९॥**

जन्मान्ध को स्वप्न में रूप का दर्शन नहीं होता।

स्वप्न में ही नहीं, जाग्रत्-अवस्था में भी जन्मान्ध लाल-पीले का, सुन्दर-असुन्दर का अथवा गधे-घोड़े का चिन्तन नहीं कर सकता, क्योंकि उसे पहले इनका अनुभव नहीं हुआ। इसी प्रकार जिसने जीवन में कभी हाथी या उसका चित्र नहीं देखा तथा कभी किसी को हाथी पर चढ़कर जाते नहीं देखा, उसे अपने हाथी पर सवार होने का स्वप्न नहीं आ सकता।

जिन पदार्थों का स्वप्न में वास्तविक अस्तित्व नहीं होता, उनका अत्यन्ताभाव नहीं होता। कहीं-न-कहीं उनकी सत्ता अवश्य होती है। अगले सूत्र में इसी का विवेचन किया है।

**स्वप्नोपलब्धस्यापि बाह्यार्थप्रत्यक्षम् ॥८०॥**

स्वप्न में देखे गये का भी बाहर प्रत्यक्ष होता है।

जिन पदार्थों का स्वप्न में भान होता है उनका देशान्तर एवं

कालान्तर में अस्तित्व सिद्ध है । स्वप्न के स्मृतिरूप होने से यद्यपि वहाँ अविद्यमान पदार्थ प्रतीत होते हैं, पर इतने से उन पदार्थों को सर्वथा असत् या मिथ्या नहीं माना जा सकता । जाग्रत्-अवस्था में वे पदार्थ सदा सद्रूप में विद्यमान देखे जाते हैं । अतएव उनकी वास्तविक सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता । हमें अपनी पीठ-पीछे के पदार्थ दिखाई नहीं देते, किन्तु इससे उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता । यदि स्मृति में पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं है, तो यह आवश्यक नहीं है कि जाग्रत् में भी अविद्यमान रहते हुए उनकी प्रतीति हो । जागने पर स्वप्न में हुई प्रतीति का नाश होता है, प्रतीत होनेवाले पदार्थों का नहीं । वे सब अपनी-अपनी जगह बने रहते हैं ।

निद्रादोष के कारण वाहर विद्यमान पदार्थ स्वप्नावस्था में अपने पास भासते हैं । 'परत्र परावभासः' जो पदार्थ जहाँ नहीं है, वहाँ प्रतीत होता है । इसका यह अर्थ नहीं कि वह कहीं और कभी नहीं था । सर्वथा असत् पदार्थ का न प्रत्यक्ष होता है, न उसकी अन्यथा प्रतीति । कहीं पर प्रतीति एवं विषय के असत् अथवा मिथ्या होने का अर्थ किसी पदार्थ को अन्य पदार्थ के रूप में जान लेना है, सर्वथा असत् को सद्रूप में जानना नहीं । अपने रूप में न बालू मिथ्या है, न जल; न सीप मिथ्या है, न चाँदी । बालू को जल समझ लेने या सीप को चाँदी समझ लेने में असत्त्व व मिथ्यात्व इतना ही है कि एक वस्तु को अन्यथा समझ लिया जाता है । इसी प्रकार स्वप्न में भी अवस्तु में वस्तु का आरोप सिद्ध नहीं होता, केवल अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति होना प्रमाणित होता है ।

'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' जो पदार्थ जहाँ नहीं है या जैसा नहीं है, उसे वहाँ या वैसा समझ लेना मिथ्या ज्ञान है । इस प्रकार मिथ्या की कसौटी सत्य है, अर्थात् जबतक एक सत्य न हो तबतक दूसरे को मिथ्या नहीं कहा जा सकता । स्वप्न में देखे हाथी-घोड़ों को मिथ्या तभी कहा जा सकता है जब जाग्रत् में देखे हाथी-घोड़ों को सत्य स्वीकार किया जाए । जाग्रत्-अवस्था में अनुभव किया गया पदार्थ मिथ्या या असत् नहीं हो सकता और न ही स्वप्न में तद्विषयक प्रतीति को असद्विषयक प्रतीति कहा जा सकता है । इसी प्रकार वर्त्तमान में प्रत्यक्ष हो रहे जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या तभी कहा जा सकता है जब कहीं-न-कहीं उसकी वास्तविक सत्ता को स्वीकार किया जाए ।

आपत्तिकर्त्ता कहता है कि यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ जाग्रत् में देखा-सुना जाए वह सब यथार्थ ही हो। इस आपत्ति को सूत्रबद्ध कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है—

**स्मृत्यनुप्रतीतिविकल्पनाभ्रान्त्याभासादिषु जाग्रतावस्थायामपि बाह्यपदार्थानामभावः ॥८१॥**

स्मृति, अनुप्रतीति, विकल्पना, भ्रान्ति तथा आभास आदि में जाग्रतावस्था में भी बाह्य पदार्थों का अभाव होता है।

स्मृति आदि जाग्रत् के व्यवहार हैं जब हमारी समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त रहती हैं। किन्तु बाह्य पदार्थ अपेक्षित न होने से स्मृति आदि के लिए उनका कोई उपयोग नहीं होता, इसलिए यह कहना, कि जबतक कहीं-न-कहीं जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार न किया जाए तबतक आनुभविक जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध होने से प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

**संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृतिः ॥८२॥**

किसी घटना की साधारण याद या संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति (Memory) कहते हैं।

स्मरणकाल में किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। वहाँ मात्र मानस-प्रत्यक्ष होता है; स्मृति अनायास उभर आती है।

**प्राक्तनोपलम्भादुपलब्धिरनुप्रतीतिः ॥८३॥**

अवचेतन मन में सन्निहित पदार्थों या विचारों का देश, काल आदि के सन्दर्भ में प्रयास करके स्मरण करना अनुप्रतीति (Recollection) है। अनुप्रतीति की प्रक्रिया में भी कोई वास्तविक बाह्य पदार्थ विद्यमान नहीं रहता।

**अनुभूतविषयमनुसृत्योद्भावनं विकल्पना ॥८४॥**

अतीत के अनुभव तथा संस्कारों की सहायता से जो नई रचनाएँ मन में उत्पन्न होती हैं उन्हें विकल्पना (Imagination) कहते हैं। नये चित्रों, कहानियों, कविताओं आदि की रचना विकल्पना-शक्ति के द्वारा होती है।

**सादृश्यजन्यमज्ञानं भ्रान्तिः ॥८५॥**

जब सादृश्य के कारण हम किसी वस्तु को अन्यथा समझ बैठते हैं

तो उस मिथ्या ज्ञान को भ्रान्ति (Illusion) कहते हैं, जैसे रस्सी को साँप या सीप को चाँदी समझ बैठना।

**असद्रूपोपलब्धिराभासः ॥८६॥**

किसी वस्तु के सर्वथा असत् होने पर भी उसके प्रत्यक्ष होने की प्रतीति आभास (Hallucination) कहाती है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि द्वार पर खड़ा कोई हमें पुकार रहा है, किन्तु द्वार खोलने पर पता चलता है कि वहाँ कोई भी न था। इसी का नाम आभास है। भ्रान्ति का कुछ-न-कुछ आधार अवश्य होता है, किन्तु आभास सर्वथा निराधार होता है।

इस आपत्ति के समाधानार्थ अगला सूत्र है।

**न अतीतोपलब्धेरभावः ॥८७॥**

अतीत में उपलब्ध होने से अभाव नहीं।

अतीत में पाये जाने से यहाँ बाह्य पदार्थों का अभाव नहीं।

वस्तुतः ये सभी किसी-न-किसी रूप में अतीत के अनुभवों पर आधारित हैं। इन अनुभवों का सम्बन्ध निश्चय ही ऐसे पदार्थों या व्यक्तियों से होगा जो वर्त्तमान में भौतिक रूप में विद्यमान न होने पर भी कभी-न-कभी वास्तव में विद्यमान रहे हैं। स्मृति अथवा अनुस्मृति (अनुप्रतीति) कभी न होती, यदि उन पदार्थों का अस्तित्व न होता जिनके पूर्वकाल में अनुभूत होने के संस्कार बने रह गये हैं। जिस प्रकार लकड़ी के बिना बढ़ई मेज़-कुर्सी नहीं बना सकता और दाल-आटे के बिना पाचक भोजन नहीं बना सकता, उसी प्रकार पूर्वकाल के अनुभवजन्य संस्कारों के बिना स्मृति या अनुस्मृति और स्मृति के बिना विकल्पना नहीं हो सकती। इस प्रकार विकल्पना का मूल भी अतीत के अनुभवों में होता है जो कविता, कहानी या उपन्यासों के लिए अपेक्षित कथावस्तु प्रस्तुत करते हैं। उनमें यथेष्ट हेरफेर करना प्रत्येक कलाकार की अपनी इच्छा तथा प्रतिभा पर निर्भर करता है। कहानी तथा उपन्यास-लेखक की भाँति चित्रकार भी अपनी कलाकृतियों में अपने मस्तिष्क में सुरक्षित अतीत के अनुभवों से काम लेता है। उसके हाथ में कलम का स्थान ब्रुश ले लेता है। यदि वह मक्खी के परों पर हाथी झूलता चित्रित करता है तो भी उसमें कोई सर्वथा नवीन सृष्टि नहीं होती। हाथी, मक्खी और उसके पर तीनों ही अतीत

में अनुभूत विषय हैं। चित्रकार केवल उन्हें एक-साथ जोड़कर प्रस्तुत कर देता है। हाथी पर मक्खी का बैठना सामान्य बात है। चित्रकार इतना ही हेरफेर करता है कि हाथी पर मक्खी को न बिठाकर मक्खी पर हाथी को लटका देता है। चित्रगत हाथी में उतना ही भार होता है जितना मक्खी में।

भ्रान्ति, स्मृति और आभास बिना बुलाये आ जाते हैं, जबकि अनुप्रतीति और विकल्पना में प्रयत्न अपेक्षित होता है। विकल्पना बुद्धिपूर्वक होती है। आत्मा अनुभव करता है कि मैं किसी विशेष सम्बन्ध को उत्पन्न कर रहा हूँ। आभास और भ्रान्ति में बुद्धि का उपयोग नहीं होता, क्योंकि वहाँ इच्छापूर्वक रचना नहीं होती। रज्जु में सर्प की प्रतीति भ्रान्ति है जो अनचाहे हो जाती है। मक्खी के परों पर हाथी का झूलना विकल्पना है, जिसके लिए प्रयास करना पड़ता है।

पैरिस कांग्रेस फ़ॉर साइको-फ़िज़ियॉलोजी (Paris Congress for Psycho-Physiology) और इंगलिश सोसायटी फ़ॉर साइकिकल रिसर्च (English Society for Psychical Research) ने आभासों (Hallucinations) से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त कर उसका विश्लेषण किया। प्रश्न था—"क्या तुमने पूरी तरह जाग्रत्-अवस्था में कभी ऐसे व्यक्ति या पदार्थ को देखने या उससे स्पर्श किये जाने या उसकी आवाज़ सुनने का स्पष्ट अनुभव किया है जो वास्तव में विद्यमान नहीं था?" उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण अपने समय के विख्यात दार्शनिकों—अमरीका के विलियम जेम्स (William James), फ्रांस के एल० मैरिलियर (L. Marillier) तथा जर्मनी के वान श्रैंक नोटज़िंग (Von Schrenck Notzing) ने किया। जाँच करने पर पता चला कि ३२७१ व्यक्तियों ने प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया था।[1] किसी मृत व्यक्ति को देखना, उसकी आवाज़ सुनना या उसका स्पर्श अनुभव करना आभास से अतिरिक्त कुछ नहीं है। अज्ञानी जन उन्हें दुष्ट आत्माओं के कार्य समझते हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि रज्जु में सर्प का आरोप करने तथा स्वप्न में तथाकथित अभाव-पदार्थों का दर्शन करने की भाँति ब्रह्म में जगत् की कल्पना करनेवाला कौन है? अद्वैतवादी उत्तर देता है—

---

१. Proceedings of S. P. R. Vol. X, August 1894, Pub. by Prof. Henry Sidgwick Committee (Vide Hallucinations & Illusions by Edmund Parish).

**ब्रह्मणि जगत्प्रत्ययोऽन्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासस्य ॥८८॥**

ब्रह्म में जगत् की प्रतीति अन्तःकरणावच्छिन्न चिदाभास को होती है।

ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरी चेतन सत्ता नहीं है। अतः 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन' अथवा 'चिदाभास' नाम से अभिहित होनेवाले 'नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट' अपर ब्रह्म[1] को ही ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है।

प्रश्न का दूसरा उत्तर सम्भव नहीं, अतः विवश हो ब्रह्म को ही मिथ्या ज्ञान का आश्रय ठहराना पड़ता है। परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है।

**नादृश्यत्वात् ॥८६॥**

(ब्रह्म के) अदृश्य होने से (ऐसा) नहीं।

रज्जु में सर्प की प्रतीति होने के समान ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होना ब्रह्म के ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष का विषय न होने से सम्भव नहीं। रज्जु एवं सर्प दोनों प्राकृत पदार्थ हैं और दोनों में किंचित् साधर्म्य भी है, अतएव एक में दूसरे की भ्रान्ति होना सम्भव है, परन्तु ब्रह्म के निराकार तथा जगत् के साकार होने से ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होना असम्भव है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष का विषय वही पदार्थ हो सकता है जो देश, काल तथा कार्य-कारण-भाव से सीमित हो। ब्रह्म के असीम होने से वह इन सबसे परे है, इसलिए वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं उसमें भ्रान्ति होना किसी प्रकार सम्भव नहीं।

ब्रह्म का इन्द्रियातीत होना सर्वसम्मत है। शास्त्रानुमोदित होने से सर्वथा प्रामाणिक है। न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी।[2] वह आँखों से दिखाई नहीं देता, आँखें उसके कारण देखती हैं।[3] इस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है और उसे कोई आँखों से नहीं देख सकता।[4] वह परमात्मा न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, उसके न नेत्र हैं, न श्रोत्र,

---

१. **द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्** ।—शां० भा० १।१।११

२. **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति** ।—केन० १।३

३. **यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति** ।—केन० १।६

४. **न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्** ।—कठ० ६।६

न हाथ और न पैर।[1] 'देवी भागवत पुराण' (स्कन्ध ३, अ० ७) में लिखा है कि निर्गुण का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, दृश्य तो नश्वर है, अरूप का दर्शन कैसे सम्भव है![2] इसी प्रकार विष्णु पुराण (६।६) में लिखा है कि ब्रह्म को चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता।[3] यजुर्वेद (३२।२) का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनों ने स्पष्ट घोषणा की कि ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है।[4] इस प्रकार जो अमूर्त्त होने के कारण आँखों से देखा नहीं जा सकता उसमें किसी को किसी का भ्रम, भ्रान्ति या प्रतीति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**न मिथ्याकल्पकं ब्रह्म ज्ञानस्वरूपत्वात् ॥६०॥**

ज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म मिथ्या कल्पना नहीं कर सकता।

यदि नामरूपात्मक जगत् अविद्याकल्पित है तो प्रश्न उठता है कि इसकी कल्पना करनेवाला कौन है? अविद्या स्वयं कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि वह कोई तत्त्व नहीं है। तत्त्व मानने पर द्वैत सिद्ध होगा। वेदान्त दर्शन (२।१।१५) के अपने श्रीभाष्य में इस विषय का विवेचन करते हुए रामानुज ने लिखा है—"कल्पक कौन है? निश्चय ही वह अविद्या नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। जीव भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अपना प्रादुर्भाव अध्यास के परिणामस्वरूप होता है। यदि ब्रह्म को कल्पक माना जाएगा तो वह स्वयं अज्ञानी हो जाएगा।"[5]

'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन', चिदाभास आदि किसी भी नाम से अभिहित किया जाए, ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरी चेतन सत्ता न होने से ब्रह्म ही अपने ऊपर एक ऐसी वस्तु आरोपित करने का दोषी होगा जिसके मिथ्या होने का (सर्वज्ञ होने के कारण) उसे पहले से ज्ञान है। ऐसा करने से वह जानबूझकर झूठ बोलने का अपराधी सिद्ध होगा; किन्तु सत्यस्वरूप एवं सत्यसंकल्प परमात्मा ऐसा कभी नहीं कर सकता।

---

१. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।—मु० १।१।६

२. निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेद् दृष्टिगोचरम्।
दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम्॥

३. न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते।

४. न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः।

५. कल्पकः क इति निरूपणीयम्। न तावदविद्या अचेतनत्वात्। नापि जीवः, आत्माश्रयदोषप्रसंगात्। ब्रह्मैव कल्पकमिति चेद् ब्रह्माज्ञानमेवायतनम्।

**'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्'**—जिसकी वस्तु के यथार्थरूप में स्थिति न हो, ऐसे मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्यय है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार **'बन्धो विपर्ययात्'** (सा० ३।२४) विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान बन्ध का हेतु है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की कल्पना करके नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव ब्रह्म स्वयं बन्धन में पड़ जाएगा। जब स्वयं ब्रह्म ही बन्धन में आ गया तो किसी अन्य की मुक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

जगत् के मिथ्या न होकर यथार्थ=सत्य होने की पुष्टि में वेद में कहा है कि 'महान् सत्यस्वरूप ईश्वर के कार्य भी महान् और सत्य हैं।'[1] 'परमेश्वर के सब उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य सत्य=वास्तविक हैं।'[2] 'वह परमेश्वर जिस जगत् को जानता है वह सत्य ही है' [सत्यं इत], व्यर्थ या असत्य नहीं है (न मोघम्)।[3]

**सत्यं सर्गावृत्तेः ॥६१॥**

(जगत्) सत्य है, सर्ग की आवृत्ति होने से।

जिस प्रकार दिन के पीछे रात्रि और रात्रि के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम निरन्तर चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न कभी अन्त होगा। प्रत्येक कल्प में एक-जैसी सृष्टि होती है। जैसी सृष्टि पहले थी, वैसी ही अब है और वैसी ही आगे होगी। जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है, उसके कार्य में भूलचूक की सम्भावना होने से उसमें समय-समय पर संशोधन, परिवर्धन करते रहना पड़ता है। परमेश्वर के निर्भ्रान्त एवं पूर्ण होने से उसके सभी कार्य निर्दोष एवं पूर्ण होते हैं, अतः वे सदा एक-जैसे होते हैं। इसलिए महाप्रलय के अनन्तर जब पुनः सर्ग की आवृत्ति होती है, अर्थात् पुनः सृष्टिरचना होती है तो वह पहली सृष्टि के समान होती है। ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है कि परमेश्वर ने जैसे सूर्य, चन्द्रमा,

---

१. **प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्।**—ऋ० २।१५।१

२. **सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः।**
—ऋ० ४।१७।६

**सत्रा इति सत्य नाम।**—निघण्टु० ३।१०

३. **यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।**
—ऋ० १०।५५।६

**न प्रमिये'''सत्यमस्य तत्।**—ऋ० ४।५४।४

पृथिवी, विद्युत्, अन्तरिक्ष आदि पूर्व कल्प में बनाये थे वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी बनाएगा।[1] इस मन्त्र से दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक यह कि धाता परमेश्वर सूर्य, चन्द्रमा आदि को बनाता है, स्वयं सूर्य, चन्द्रमा आदि के रूप में परिणत नहीं हो जाता। यदि इन सबको भ्रम माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि जैसे पूर्व कल्प में ब्रह्म ने भ्रम के कारण स्वयं अपने-आपको सूर्य-चन्द्रमा आदि समझ लिया था, उसी प्रकार अब फिर समझने लग गया। सर्वज्ञ ब्रह्म के बार-बार भ्रम में पड़ने अथवा बार-बार इन्द्रजाल रचने की बात पर कौन विश्वास करेगा ?

जगत् की रचना जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार होती है। तब वह उसी रूप में होनी चाहिए जिस रूप में जीवों ने कर्मों का अनुष्ठान किया है। इसलिए गत सृष्टि और वर्त्तमान सृष्टि में समानता का होना आवश्यक है। इसी के अनुसार आगे आनेवाली सृष्टियों की व्यवस्था होती है।

शंकराचार्य वेदान्तदर्शन के **'समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च'** (१।३।३०) इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं कि "प्रलयकाल में यह नामरूपवाला जगत् नहीं रहता, किन्तु संसार के प्रवाहरूप से अनादि होने के कारण फिर दूसरे कल्प में उत्पन्न होता है और जिस प्रकार पहले कल्प में नामरूप हुए उसी रूप में दूसरे कल्प में भी होते हैं।"[2] इस प्रकार शंकर भी सृष्टि एवं प्रलय के क्रम को पर्याय से अनादि-अनन्त मानते हैं।[3] यदि उपाधि के कारण ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत है, अथवा अध्यास के कारण जगद्रूप भासता है तो सृष्टि के अनादि-अनन्त होने से यह स्थिति सदा से है और सदा रहेगी। इसका यह अर्थ है कि ब्रह्म सदा 'नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट' बना रहेगा और वह दिन कभी नहीं आएगा जब वह 'सर्वोपाधिविवर्जित' होगा। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के इस स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।**
**दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥**—ऋ० १०।१९०।३

२. **यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति। तत्रेदमभिधीयते —समाननामरूपत्वादिति॥**

३. **अनादित्वात् संसारस्य।**—शां० भा० २।१।३५

इस स्थिति के सदा बने रहने से इसका बाध भी कभी नहीं होगा। बाध न होने से इसे भ्रान्ति या अध्यास सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय के इस क्रम को मान लेने पर विवर्त्तवाद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि विवर्त्तवाद पर विश्वास किया जाए तो यह सृष्टि व प्रलय और फिर सृष्टि व प्रलय का क्रम नहीं चल सकता। विवर्त्तवाद के अनुसार संसार मिथ्या अथवा प्रतीतिमात्र है। जब इस संसार की यथार्थ सत्ता ही नहीं है, अर्थात् यह भ्रममात्र है तो प्रलय का क्या अर्थ है? विवर्त्त की प्रलय अर्थात् भ्रम का नाश ज्ञान होने पर हो जाता है, जैसे प्रकाश होने पर रस्सी के साँप का लोप हो जाता है अथवा पास जाकर देखने पर मृगतृष्णिकारूपी भ्रम जाता रहता है। यदि जगत् विवर्त्त है तो ज्ञान होते ही प्रलय हो जाएगी। उसके लिए किसी नियत अवधि की अपेक्षा नहीं है। विवर्त्तवादियों को इससे अधिक प्रलय मानने का अधिकार नहीं है।

नियमानुसार नियत एक सहस्र चतुर्युगियों के बीतने पर प्रलय होने और फिर नियत समय के पश्चात् सृष्टि के नये सिरे से उत्पन्न होने आदि का विवर्त्तवाद में कोई स्थान नहीं बनता। कल्पना कीजिए कि भ्रम के कारण मुझे रस्सी साँप मालूम हो रही थी। जब प्रकाश होने पर मैं रस्सी को रस्सी समझने लगा तो इसमें क्या तुक है कि नियत समय बीतने पर वह मुझे साँप दीखने लगे और नियमित रूप से यह क्रम बार-बार आवर्त्तमान रहे? इस आक्षेप से बचने के लिए शंकर ने कह डाला कि कि "जैसे सोने के पश्चात् जागना और जागने के पश्चात् सोना होता है, वैसे ही प्रलय के पश्चात् सृष्टि और सृष्टि के पश्चात् प्रलय होती रहती है।"[1] अपने इस कथन से तो शंकर की स्थिति अत्यन्त उपहासास्पद हो गई। अबतक तो वह जगत् को स्वप्नवत् कहते आये थे, किन्तु यहाँ उसी जगत् को जागने के समान और उसकी प्रलय को सोने के समान कह दिया। यदि यह जगत् विवर्त्त अर्थात् मिथ्या प्रपंच होता तो इसका मिटना प्रलय होना चाहिए था। यदि सृष्टि जागने के समान है तो वह मिथ्या या भ्रम कदापि नहीं हो सकती। स्वप्न सोने पर आते हैं, जाग्रत्-अवस्था में नहीं। शंकर ने यहाँ तक स्पष्ट कर दिया कि नई सृष्टि में फिर से वही नामरूप हो जाते हैं जो

१. अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः।—शां० भा० १।३।३०

उससे पहली सृष्टि में थे और जिन्हें तब विवर्त्त कहकर मिथ्या घोषित कर दिया था। जो बार-बार सामने आ रहा है—जाग्रत् में अर्थात् पूरा प्रकाश होने पर दिखाई दे रहा है, उसे मिथ्या कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः अद्वैतवाद ऐसी दलदल है कि इसमें से निकलने का जितना यत्न किया जाता है उतना ही मनुष्य उसमें फँसता जाता है।

सामान्य मनुष्य भी एक बार भूल करके सँभल जाता है। यदि जगत् मिथ्या है तो परमात्मा इस मिथ्या जगत् को बार-बार बनाने की भूल क्यों करता है, अथवा क्यों अपने स्वरूप को भूलकर बार-बार अपने में जगत् की प्रतीति करता है? स्पष्ट है कि यदि जगत् केवल भ्रान्ति होता तो कभी-न-कभी उसका बाध होकर सदा के लिए उसका अन्त हो गया होता और इस प्रकार 'नामरूपविकारभेदोपाधि' से छुटकारा पाकर ब्रह्म 'सर्वोपाधिविवर्जित' हो गया होता। ब्रह्म द्वारा बार-बार सृष्टि-रचना किये जाने से सिद्ध है कि वह इसे सत्य मानता है।

**कल्पना चेत् कल्पयितुर्नित्यत्वे तत्कल्पनाया अपि नित्यत्वम् ॥९२॥**

यदि (जगत्) कल्पना है तो कल्पक के नित्य होने से उसकी कल्पना भी नित्य है।

गुण-गुणी का समवाय-सम्बन्ध होता है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। कल्पना गुण है किसी का और वह ब्रह्म के सिवा अन्य कोई हो नहीं सकता। यदि गुणी नित्य है तो गुण भी नित्य होगा। इसलिए यदि जगत् को कल्पनामात्र माना जाए तो भी कल्पना के करनेवाले ब्रह्म के नित्य होने से उसकी कल्पना जगत् का नित्य अथवा सत्य होना स्वतः सिद्ध है।

यदि यह जगत् भ्रान्ति है तो इस भ्रान्ति को—अन्य वस्तु में अन्य को आरोपित करनेवाला ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा नहीं है। इस प्रकार के कल्पित जगत् का विचार हमारा अपना नहीं है, अपितु ब्रह्म द्वारा हमारे मस्तिष्कों में डाला गया है। यदि कल्पना ही जगत् का कारण है तो यह कल्पना सार्वभौम है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति इस अध्यारोप के लिए उत्तरदायी नहीं है। पर्वत, नदी, समुद्र आदि को नामरूप देने का सामर्थ्य ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। यदि जगत् भ्रान्ति है तो यह सदा बनी रहनेवाली है। सब मनुष्य समान रूप से इससे प्रभावित हैं। इस प्रकार की भ्रान्ति और यथार्थ में भेद करना सम्भव

नहीं। इसलिए जगत् को कल्पना या भ्रान्तिमात्र बताना सर्वथा असंगत है।

**न ब्रह्मणः सत्यत्वे तत्कार्यस्यासत्यत्वम् ॥६३॥**

ब्रह्म के सत्य होने पर उसका कार्य असत्य नहीं हो सकता।

जिस प्रकार 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार 'सत्' का अभाव नहीं हो सकता। यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाए अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान-कारण भी माना जाए अथवा ब्रह्म को जगद्रूप में परिणत माना जाए तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। जैसे ब्रह्मरूप नित्य है वैसे ही जगद्रूप नित्य है। दोनों के नित्य होने से एक सत्य और दूसरा मिथ्या है—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ये दोनों अवस्थाएँ—ब्रह्मरूप व जगद्रूप—ब्रह्म की ही मानी जाएँगी। तब ब्रह्म के सत्य होने पर दोनों अवस्थाएँ समानरूप से सत्य होंगी। **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'**—तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में, अतएव यदि 'ब्रह्म सत्यम्' है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। अद्वैतमत के अनुसार, यदि कारण का कार्य से अनन्यत्व है, तो कारण के सत्य होने पर उसके कार्य को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है?[१] कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जाएगा तो स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जाएगा। किन्तु ब्रह्म का सत्य होना निर्विवाद है, इसलिए उसके कार्यरूप जगत् का सत्य होना स्वतः सिद्ध है। यदि स्वर्ण सत्य है तो उससे बननेवाले आभूषण मिथ्या नहीं हो सकते। और यदि आभूषण मिथ्या हैं तो उनका उपादान स्वर्ण कैसे सत्य हो सकता है? जब अँगुली में अँगूठी नहीं होगी तो सोना कहाँ होगा? फिर सत्यस्वरूप ब्रह्म असद्रूप जगत् का ऐन्द्रिजालिक तमाशा किसके लिए करेगा और क्यों? अद्वैतमत में

१. Cp. Brahma, though himself immaterial, is said to be the material cause of the world. And yet the world, of which he is the cause, is considered unreal, while at the same time cause and effect are held to be identical in substance. If cause and effect be really identical, how could the unreal world be the effect of real Brahma?—Max Mulier.

तमाशा देखनेवाले जीव की सत्ता का निषेध है। इस विषय में शंकर-स्वामी की स्पष्ट घोषणा है कि जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में व्यभि-चरित नहीं होता वैसे ही कार्यजगत् भी सत्त्व से व्यभिचरित नहीं होता।[1] □

---

१. यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति।—शां० भा० २।१।१६

# चतुर्थोऽध्यायः

**मायाकृतः कार्यप्रपञ्चः ॥१॥**

कार्यरूप जगत् माया की उपज है।

प्रतीयमान नामरूपात्मक जगत् में अनेकत्व माया का परिणाम है। इसलिए आनुभविक जगत् में जो पाया जाता है उसकी प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता भले ही हो, परमार्थ में वह सर्वथा मिथ्या है।[1] ऋग्वेद के अनुसार परमात्मा ने माया के द्वारा जगत् की रचना की।[2] वही विश्व का निमित्त तथा उपादान (अभिन्ननिमित्तोपादान) कारण है। जिस प्रकार उस माया से, जिसे जादूगर स्वयं बनाता है, उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह माया अयथार्थ होती है, इसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म भी संसाररूपी माया से असम्पृक्त रहता है।[3] अर्वाचीन वेदान्त का शंकर से आंशिक मतभेद है। वेदान्तपरिभाषा के अनुसार जगत् के विकास का कारण माया है, ब्रह्म नहीं।[4] वाचस्पति मिश्र का मत है कि कारण तो ब्रह्म ही है, माया उसकी सहायक है। माया के वश में पड़े हुए व्यक्ति ब्रह्म को जड़ जगत् के रूप में उसे एक विषय समझते हैं और माया उसका कारण बताई जाती है।[5] इस मत में माया को स्वतःसिद्ध मान लिया गया है, किन्तु जगत् की जड़ता का

---

१. मायामात्रं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।

२. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।—ऋ० ६।४७।१८

३. यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते।—शां० भा० २।१।९

४. प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया न ब्रह्मेति सिद्धान्तः।

५. वाचस्पतिमिश्रास्तु जीवाश्रितमायाविषयिकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रय-प्रपंचकारेण विवर्त्तमानतयोपादानमिति माया सहकारिमात्रम्।—सिद्धान्त-लेशसंग्रह १। इस मत में अनजाने जीव और ब्रह्म का भेद स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म को जगद्रूप समझनेवाले जीव का स्पष्ट कथन किया गया है।

कारण विशुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ अन्य होना चाहिए। 'संक्षेप-शारीरक' के रचयिता सर्वज्ञात्ममुनि के मत में परब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादानकारण है, क्योंकि क्रिया के लिए माया का होना आवश्यक है। माया की उपाधि के बिना ब्रह्म में कर्त्तृत्व सम्भव नहीं, इसलिए ब्रह्म तथा माया दोनों के संयोग से जगत् की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म उस जगत् का अधिष्ठान है जिसकी उत्पत्ति परिणामी माया से होती है। ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान है, जबकि अविद्या उसका परिणामोपादान।[1]

'सिद्धान्तमुक्तावलि' का रचयिता ब्रह्म का सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु के साथ जोड़ने का प्रबल विरोधी है, इसलिए उसका मत है कि एक-मात्र माया ही जगत् का कारण है। अन्य लोग जो ब्रह्म के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ने का निराकरण करते हैं, ईश्वर को अर्थात् माया से सम्बद्ध ईश्वररूप ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानते हैं।[2] यदि निरपेक्ष ब्रह्म में उपादानकारण का आधान किया जाता है तो वह केवल आनुषंगिक है। विद्यारण्य का मत है कि जो कार्यजगत् के रूप में परिणत होता है वह माया है[3] और वह जो जगत् का आधार है, विशुद्ध चैतन्य है और मायारूप उपाधि से सीमित है।[4] ऐसे विचारक भी हैं जिनका यह मत है कि मूर्त्तरूप विषय स्थानीय जगत् ईश्वरीय माया का कार्य है, किन्तु चित्त तथा इन्द्रिय आदि का सूक्ष्म जगत् व्यक्ति-रूप जीव का कार्य है जिसे ईश्वर की माया से सहायता मिलती है।[5] यदि इस विषय पर दोनों दृष्टिकोणों से, अर्थात् विषयनिष्ठता के दृष्टि-कोणों से विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म वह आधार है जिसके ऊपर विषयरूप जगत् का अध्यास किया जाता है और आत्मा वह आधार है जिसके ऊपर विषयिनिष्ठ जगत् का अध्यास

---

१. **प्रपञ्चे उभयोरपि मायाब्रह्मणोरुपादानत्वम्, अधिष्ठानतया च ब्रह्मण उपा-दानत्वम् ब्रह्म विवर्त्तमानतया अविद्या च परिणामतया।**—सिद्धान्तलेशसंग्रह १ पर भाष्य।

२. 'विवरण' जो अपना आधार शांकरभाष्य के १।१।२० को मानता है।

३. परिणाम्युपादानता।

४. विवर्त्तोपादानता को मायोपाहित चैतन्य का कारण माना है।

५. **वियदादिप्रपञ्च ईश्वरसृष्टमायापरिणाम इति तत्र ईश्वर उपादानम्। अन्तः-करणादिकन्तु ईश्वराश्रयिमायापरिणाम महाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतभूत-सूक्ष्म कार्यम् इति तत्रोभयोरुपादानत्वम्।**—सिद्धान्तलेशसंग्रह १

किया जाता है। परम यथार्थ सत्ता समस्त क्रियात्मक ऐन्द्रिक जगत् का उपादानकारण है और जीव प्रतीतिरूप वस्तुओं का तथा स्वप्नात्मक जगत् का उपादानकारण है।

शंकर ने तो अविद्या तथा माया के प्रयोग में कोई विशेष भेद नहीं किया,[1] किन्तु परवर्त्ती अद्वैतवादी दोनों में भेद करते हैं। जहाँ माया ईश्वर की उपाधि है, वहाँ अविद्या व्यक्ति की उपाधि है।[2] विद्यारण्य के मत में माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्बरूप, अर्थात् उस ब्रह्म में जो विशुद्ध सत्त्वगुण से युक्त है, ईश्वर है, एवं अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब-रूप, जिसमें रजोगुण व तमोगुण भी विद्यमान हैं, जीव अथवा जीवात्मा है।[3] शंकर का भी यही मत है, क्योंकि वे कहते हैं कि "जो सर्वोच्च ब्रह्म है वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जबकि कोई उसके विषय में विचार करता है।"[4] यह जगत् जिसका ईश्वर की निजी आत्मा के साथ सम्बन्ध है, अविद्या के द्वारा निर्मित कहा गया है।[5] यह भी कहा जाता है कि जब हम विषय-पक्ष के दृष्टिकोण से समस्या का निरीक्षण करते हैं तो उसी वस्तु के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु जब विषयी पक्ष की दृष्टि से निरीक्षण करते हैं तो उसी वस्तु के लिए 'अविद्या' शब्द का व्यवहार करते हैं।[6] जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक हैं, उसी प्रकार अविद्या और माया एक हैं। ब्रह्म और माया दोनों विश्व में विद्यमान हैं और

---

१. **अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रयुक्तत्वात्।**
—शां० भा० २।२।२

२. **अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिकः खलु।**
**मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥**—स्कन्दपुराण

३. पंचदशी, १६-१७

४. छा० उप० शां० भा० ३।१४।२ **विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्।**

५. तुलना करें—**अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया।**—शां० भा० १।४।३; और भी देखें—तदेव २।१।१४; १।३।१९

६. 'माया' शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जब हमारी दृष्टि में इसकी असाधारण कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है तथा यह कर्त्ता की इच्छा के अधीन रहती है। दूसरी ओर, 'अविद्या' शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जब हमारे मन में इसकी आवरण कर लेने की शक्ति तथा स्वतन्त्रता का भाव रहता है।
—विवरणप्रमेय संग्रह १।१; इण्डियन थॉट, खण्ड १, पृ० २८०

जगत् के उपादानकारण हैं। दोनों एक सूत्र में आबद्ध हैं—एक यथार्थ है और दूसरा विवर्त्त-(आभास)-रूप में उसके आश्रित है।

परन्तु माया का अस्तित्व सिद्ध किसी प्रकार न होने से यह सिद्धान्त तर्क-प्रतिष्ठित नहीं है। इस आधार पर अगले सूत्र में इसका प्रत्याख्यान किया है।

**न मायानुपपत्तेः आश्रयानुपपत्तिदोषप्रसङ्गात् ॥२॥**

आश्रय के उपपन्न न होने से माया की सिद्धि न होने के कारण जगत् माया से निर्मित नहीं है।

यदि अनेकात्मक जगत् माया की उपज है तो माया का अस्तित्व तो अवश्यम्भावी है। परन्तु यदि अद्वैतमत में प्रचलित अर्थों में 'माया' पद का ग्रहण किया जाए तो उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में एक-साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं—माया द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य माना जाए तो द्वैत की सिद्धि हुए बिना न रहेगी। द्वैत की सिद्धि में अद्वैतवाद का निषेध है। यदि गुण है तो किसका ? अद्वैतवाद में ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य की सत्ता नहीं, इसलिए अनिवार्यतः ब्रह्म ही माया का अधिष्ठान ठहरता है। तब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और माया का यह समवाय-सम्बन्ध है या संयोग-सम्बन्ध ? यदि समवाय-सम्बन्ध है तो वह अनादि-अनन्त अर्थात् नित्य होगा। तब, यदि माया की उपाधि से जगत् का आविर्भाव माना जाए तो भी ब्रह्म और उसकी माया दोनों के नित्य होने से यह जगत् नित्य और नित्य होने से त्रिकाल में सत्य सिद्ध हो गया। ब्रह्म भी मायोपाधि से ग्रस्त होकर दूषित हो गया और इस प्रकार उसका शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव जाता रहा।

यदि संयोग-सम्बन्ध माना जाए तो प्रश्न उठता है—क्यों और कब से ? यदि ब्रह्म पहले शुद्ध था और कालान्तर में कभी माया के वशीभूत हो गया तो प्रश्न होगा कि यह माया पहले कहाँ और किसके आश्रित थी ? कहीं-न-कहीं होगी अवश्य। न होती तो कहाँ से आती, क्योंकि **'नासतो विद्यते भावः'** असत् से सत् की अथवा अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब थी तो गुण होने से किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित रही होगी। द्रव्य ब्रह्म के सिवा दूसरा था नहीं। घूम-फिरकर फिर वहीं आ गये। 'संक्षेप-शारीरक' के अनुसार "भेदशून्य

परमबुद्धि अविद्या का विषय तथा आश्रय है।''[1] यह कैसी परमबुद्धि है जो अविद्या का आश्रय है ? तथापि, ऐसा मान लेने पर माया ब्रह्म के आश्रित अथवा उसका गुण हो गई। एक और प्रश्न उपस्थित होता है—माया जड़ है या चेतन ? यदि चेतन है तो अद्वैतवाद को चुनौती देनेवाला दूसरा चेतन तत्त्व हो गया। यदि जड़ है तो सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म के जड़ माया के वशीभूत होने की बात समझ में नहीं आती। इस प्रकार जब माया का अस्तित्व ही किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता तो स्वयं उससे अथवा उसके सहयोग से ब्रह्म से जगत् की रचना होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

**मायाभिरपरामृष्टत्वान्मायाविनः ॥३॥**

मायावी के माया से प्रभावित न होने से, (जगत् माया का परिणाम) नहीं।

ऐन्द्रजालिक प्रदर्शन में तीन का होना अनिवार्य है—मिथ्या ज्ञान करानेवाला ऐन्द्रजालिक, मिथ्याज्ञान के आश्रयरूप दर्शक तथा मिथ्या-ज्ञान के आधार व आधेय पदार्थ। ऐन्द्रजालिक दर्शकों को तो मिथ्या ज्ञान कराता है, किन्तु उस मिथ्याज्ञान से स्वयं अभिभूत नहीं होता। अल्पज्ञ जीव को तो, जादू की कला से अनभिज्ञ दर्शकों की भाँति, भ्रान्ति हो सकती है, परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म त्रिकाल में माया या मिथ्या ज्ञान से अभिभूत नहीं हो सकता। शंकर का यह कहना कि ब्रह्म स्वयं माया से अभिभूत नहीं होता, वदतोव्याघात के समान है। ऐन्द्रजालिक अपने से भिन्न पदार्थों के माध्यम से तमाशा दिखाता है, स्वयं तमाशा नहीं बनता। परन्तु अद्वैतमत में तो माया के कारण स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत होता है। माया के कारण अपने सर्वज्ञत्व को खोकर वह जीवात्मा के रूप में अल्पज्ञ एवं भ्रान्त हो जाता है और अपने नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव का परित्याग करके जन्म-मरण के बन्धन में पड़ जाता है तथा दुष्कर्मों में लिप्त होकर अनेक प्रकार के असह्य कष्ट झेलता है; माया के कारण तथाकथित जीवों को मदारी के समान भ्रमित करने जैसे अशोभनीय कार्यों में प्रवृत्त होता है; फिर भी यह कहना कि माया से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता, कैसे सत्य हो सकता है ? ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल तो दर्शकों का मनोरञ्जन-भर करता है,

---

१. आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला।—१।३१६

किसी को हानि नहीं पहुँचाता, परन्तु ब्रह्म की माया तो अनेक अनर्थों की जड़ है। उससे स्वयं ब्रह्म भी नहीं बच पाता—वह भी दूषित हो जाता है, अतएव ऐन्द्रजालिक से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।

**श्रुतेरसामञ्जस्याच्च ॥४॥**

और, श्रुति से सामंजस्य न होने से [भी जगत् माया का परिणाम नहीं]।

अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान के अर्थों में 'माया' पद का प्रयोग वेदों में कहीं नहीं मिलता। डॉ० प्रभुदत्त शास्त्रीकृत 'The Doctrine of Maya' के अनुसार विभिन्न रूपों (माया, मायया, मायाभिः, मायिन्, मायाविन् आदि) में 'माया' शब्द ७० बार ऋग्वेद में और लगभग २७ बार अथर्ववेद में आया है। निघण्टु (३।९) में माया शब्द को 'प्रज्ञा' का पर्यायवाची बताया है। यास्क, वेंकटमाधव, सायण, दयानन्द आदि सभी इस विषय में एकमत हैं कि वेद में सर्वत्र इस शब्द का प्रयोग 'प्रज्ञा' अथवा ज्ञानविशेष के अर्थ में हुआ है। तदनुसार ऋग्वेद (६।८३।३) में आये 'मायाविनः' शब्द का अर्थ वेंकटमाधव ने 'प्रज्ञावन्तः' और सायण ने 'प्रज्ञावन्तो देवाः' किया है। 'ममिरे' क्रियापद के साथ प्रयुक्त होने पर ब्रह्ममुनि ने इसका अर्थ 'निर्माणशक्तिमन्तः' किया है। अन्यत्र (ऋ० १०।२४।४) 'अश्विनौ' के साथ विशेषणरूप में इसका अर्थ 'प्रज्ञावन्तौ' किया गया है। यास्क ने ऋग्वेद (६।५८।१) में आये 'विश्वा हि माया अवसि' का अर्थ 'सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि' किया है।[1] यदि गौडपाद के अनुसार माया का अर्थ अविद्या होता तो यहाँ 'पूषा' नाम से अभिहित परमात्मा को उसका रक्षक न कहा गया होता। सायणाचार्य ने माया का अर्थ अधिकतर 'प्रज्ञा', 'ज्ञानविशेष', 'कर्म-विशेष' आदि किया है।

यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय के चवालीसवें मन्त्र में कहा है—**'असुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः'** हे अग्ने! आसुरी माया का नाश न कर। यदि यहाँ लोक में प्रचलित अर्थों से 'राक्षसी माया' अभिप्रेत होती तो उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना न की जाती। उव्वट ने इसका अर्थ करते हुए लिखा—**'असुरस्य असुवतः प्राणवतः प्रज्ञानवतो वा वरुणस्य मायां प्रज्ञां हे अग्ने! मा हिंसीः।'** महीधर ने भी उव्वट का ही अनुसरण

१. सब मायाओं=प्रज्ञाओं या ज्ञानों की रक्षा करता है।—निरुक्त १२।१७

किया है। यजुर्वेद (११।६६) में 'ग्रासुरी माया' का ग्रर्थ उव्वट ने 'प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा' किया है।

ऋग्वेद के बहुचर्चित सन्दर्भ में **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (६।४७।१८) का यही ग्रर्थ है कि परमात्मा 'मायाभिः'=प्रज्ञा या बुद्धि के द्वारा सृष्टि की रचना करता है। वहाँ 'माया' का ग्रर्थ धोखा, छलावा या ग्रविद्या कदापि नहीं है। यास्क ने भी इसे प्रज्ञापरक ग्रर्थ में ही ग्रहण किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'माया' पद प्रकृतिवाचक है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'माया' का बहुवचनान्त (मायाभिः) प्रयोग होने से प्रकृति का सत्त्व-रजस्-तमस्रूप होना ग्रभिप्रेत है। परमात्मा प्रकृति-उपादान से बुद्धिपूर्वक सृष्टि की रचना करता है। जिस प्रकार हम ग्राटे से रोटी, पूरी, मठरी, हलवा ग्रादि ग्रनेक पदार्थ तैयार करते हैं, वैसे ही परमात्मा ग्रनादि प्रकृति के ग्रनन्त परमाणुग्रों को ग्रपनी प्रज्ञा द्वारा इस प्रकार संयुक्त करता है कि भिन्न-भिन्न नामरूपवाली कितनी ही वस्तुएँ बनकर सृष्टि का निर्माण हो जाता है। ग्रव्यक्त को व्यक्तरूप देना साधारण कार्य नहीं है। इसीलिए बुद्धिपूर्वक सृष्टिरचना करनेवाले परमात्मा को वेद में कवि, मनीषी ग्रादि नामों से ग्रभिहित किया है। प्रस्तुत सन्दर्भान्तिर्गत 'माया' पद का प्रयोग प्रकृति-उपादान से सृष्टि की बुद्धिपूर्वक रचना बताने के लिए किया गया है।

ग्रथर्ववेद (६।७२।१) में भी 'ग्रसुरस्य माया' का वही ग्रर्थ ग्रभीष्ट है जो ऋग्वेदादि के उक्त सन्दर्भों का है। ग्रथर्ववेद (५।११।४) में 'मायी' के साथ 'कवितर' तथा 'मेधया' शब्दों का प्रयोग होने से उसका 'प्रज्ञावान्' ग्रर्थ स्वतः सिद्ध है। राधाकृष्णन के शब्दों में माया के कारण जगत् के मिथ्या होने का वेदों में कहीं उल्लेख नहीं है।[1]

वर्त्तमान में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या लगभग १०८ है, किन्तु शंकर के समय तक १० या ११ उपनिषदें ही प्रचलित थीं। इनमें से ग्राठ उपनिषदों में 'माया' शब्द कहीं नहीं मिलता। प्रश्नोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में एक-एक बार यह शब्द ग्राया है। ग्रपेक्षाकृत ग्रर्वाचीन श्वेताश्वरोपनिषद् में ग्रवश्य विभिन्न रूपों में माया शब्द का

---

१. There is no basis of any conception of the unreality of the world in the hymns of the Rigveda. The world is not a purposeless phantasm.

पाँच बार प्रयोग हुआ है, परन्तु कहीं भी भ्रमित करनेवाली शक्ति के अर्थों में उसका प्रयोग नहीं मिलता।

वेदान्ददर्शन में केवल एक स्थान (३।२।३) पर 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकर ने 'मायैव सन्ध्ये सृष्टिः' कहकर 'माया' शब्द का प्रयोग 'काल्पनिक' अर्थ में किया है। इससे पूर्व एक सूत्र में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए कहा गया था—'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (३।२।१) अर्थात् निश्चय ही सन्ध्य में सृष्टि कही जाती है। जाग्रत् तथा सुषुप्ति के बीच की स्थिति होने से स्वप्न की 'सन्ध्य' संज्ञा है। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया—'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येना-नभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' अर्थात् स्वप्नमें देखे जाने से वह विपरीत ज्ञान-मात्र अथवा काल्पनिक सृष्टि है, और इसका कारण है वहाँ अर्थ की अभिव्यञ्जना का पूर्णरूप से (कात्स्न्र्येन) अर्थात् उचित देशकाल में उचित निमित्तों से न होना। स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों में यही होता है कि वे उचित देशकाल में न देखे जाकर अन्यत्र देखे जाते हैं। इसी कारण वे मिथ्या होते हैं। उनका अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता।



**न मायाया उपादानत्वमवस्तुत्वात् ॥५॥**

अवस्तु होने से माया को उपादान कारण नहीं माना जा सकता।

माया द्रव्य नहीं है, इसलिए उसे उपादान कारण नहीं माना जा सकता। सर्वज्ञात्ममुनि के मत में "वह केवल व्यापार है जो ब्रह्मरूपी उपादानकारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ अर्थात् जगत् की उत्पत्ति करता है।[1] किन्तु उपादानकारण वही हो सकता है जो अपने से अभिन्न अर्थात् अपने समान पदार्थ को उत्पन्न करता है।[2] ब्रह्म चेतन-तत्त्व है। उपादानरूप में उससे जड़ जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार उसके अभौतिक होने के कारण उससे अभौतिक पदार्थ अर्थात् जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कहा जाता है कि माया के सहयोग से ब्रह्म जगत् की रचना करता है। ब्रह्म का सहयोग करनेवाली माया यदि उससे भिन्न सत्ता है तो द्वैत उपपन्न होगा। फिर, किसी यथार्थ सत्ता के अंश जुड़ जाने से भी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो पहले से पूर्ण है उसमें किसी अन्य पदार्थ का संयोग

---

१. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।

२. स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानत्वम्।

सम्भव नहीं, इसलिए माया ब्रह्म के अन्दर रहकर भी जगत् का उपादान नहीं हो सकती। जिसका अपना स्वरूप निश्चित नहीं, वह किसी अन्य का आधार या कारण नहीं हो सकता।

माया की स्थिति स्पष्ट न होने के कारण उससे उत्पन्न जगत् का मिथ्यात्व समझाने के लिए शंकर कभी उसे स्वप्नवत् बताते हैं तो कभी रज्जु में सर्प अथवा सीपी में चाँदी के अध्यास के दृष्टान्त देते हैं और कभी उसे ऐन्द्रिजालिक का तमाशा कह देते हैं। कभी वह परिणामवाद को प्रकट करनेवाली उपमाओं का सहारा लेकर कहते हैं कि समुद्र के फेन के समान यह जगत् ब्रह्मरूपी उपादान से बना है।[1] जब विशुद्ध विवर्त्तवाद के सहारे चलना कठिन प्रतीत होता है तो फिर परिणामवाद की उपमाओं का सहारा ले लेते हैं।[2] इसलिए जगत् के विषय में उनके लेखों में कहीं परिणामवाद और कहीं विवर्त्तवाद दोनों का उल्लेख मिलता है। गौडपाद की कारिकाओं में जगत् की सत्ता को एकदम भ्रम बताया है। उनपर लिखे अपने भाष्य में शंकर ने भी जगत् को मायावी की माया के समान मिथ्या घोषित कर दिया।

**न यथार्थनिरपेक्षमिन्द्रजालम् ॥६॥**

यथार्थ के बिना इन्द्रजाल उपपन्न नहीं होता।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वप्न में भी जो कुछ देखा-सुना जाता है, वह वहाँ स्वप्नद्रष्टा के भीतर भले ही न हो, परन्तु बाहर भी उसका अस्तित्व कहीं भी और कभी भी न रहा हो—ऐसा नहीं हो सकता। जब मायावी ऐन्द्रजालिक किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है तब भी उसका कोई-न-कोई आधार अवश्य होता है। वह आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं हो सकता। जब वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है तो उसी के सदृश रस्सी, लकड़ी या अन्य लचीली वस्तु को निमित्त बनाकर प्रदर्शन करता है। दर्शकों को सर्प का आभास होता है। वस्तुतः वह सर्प नहीं होता। अन्य वस्तु में सर्पत्व का यह मिथ्या ज्ञान भी उन्हीं को होता है जिनको पहले से वास्तविक सर्प का ज्ञान होता है और वह भी सर्पसदृश वस्तु को देखकर ही। इस प्रकार

१. **सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादानभूते सम्भवतः।**

—ऐत० उप० (१।१।२) शां० भा०

२. **आत्मभूतनामरूपोपादानभूतः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम्।**—तदेव

प्रदर्शित वस्तु का उभार किसी वस्तुतत्त्व से होता है। यदि जादूगर दर्शकों की दृष्टि से वस्तुओं को यदृच्छया कभी छिपा सकता और कभी उनके सामने प्रदर्शित कर सकता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि दिखाई देनेवाली वस्तुएँ मिथ्या हैं। यह तो हाथ की सफाई है जिसे इस कला के जाननेवाले पकड़ भी लेते हैं। यदि छूमन्तर से अर्थात् जादू के कारण अभाव से वस्तुएँ उत्पन्न हो सकतीं तो जादूगर दर-दर भटकते हुए तमाशा दिखाता न फिरता, अपितु जादू के बल पर यथेष्ट ऐश्वर्य जुटाकर सुखी हो जाता। इतना ही नहीं, सार्वदेशिक स्तर पर उत्पादन के लिए कल-कारखानों की आवश्यकता न होती। कुछेक जादूगरों के सहयोग से देश के लिए अपेक्षित वस्तुमात्र के भण्डार भर लिए जाते। वास्तविकता यही है कि जिस पदार्थ का सर्वत्र त्रिकाल में अभाव है, न वह उत्पन्न हो सकता है और न तद्विषयक भ्रान्ति हो सकती है।

माया का स्वरूप क्या है—इस विषय में पूर्वपक्ष को सूत्रबद्ध किया है—

**सदसद्रूपाऽनिर्वचनीया माया ॥७॥**

माया सत् और असत् एवं अनिर्वचनीय है।

माया न तो ब्रह्म के समान यथार्थ है और न आकाशकुसुम की तरह अयथार्थ। वन्ध्यापुत्र की भाँति यह अभावात्मक सत्ता नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और हममें से प्रत्येक को इसका अनुभव होता है। यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्तारूप वस्तु भी नहीं है, क्योंकि अन्तर्दृष्टि के ज्ञान से इसका नाश हो जाता है, यदि यह असत् होती तो यह किसी वस्तु की उत्पादक नहीं हो सकती थी, और यदि सत् होती तो जो इससे उत्पन्न होता वह भी यथार्थ होता, आभास-मात्र न होता। इसलिए न यह यथार्थ है, न आभासमात्र और न यह दोनों ही है।[1]

इसी प्रकार यह जगत् भी न तो है और न नहीं है। 'सदसद्विलक्षण' यह सत् और असत् दोनों से भिन्न है, किन्तु 'सदसदात्मक' है, अर्थात

---

१. **नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।**
**सदसद्भ्यामनिर्वचनीया मिथ्याभूता सनातनी॥**

—सूर्यपुराण, सांख्य प्रवचनभाष्य १-२६ में उद्धृत

इसमें दोनों के लक्षण हैं।[1] इसलिए माया 'सदसद्विलक्षण' अनिर्वचनीय है—इतनी दुरूह कि उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार इसे यथार्थता का मायापरक रूप अथवा आभास के नाम से पुकारा जाता है।[2] जगत् के मिथ्यात्व की भावात्मक अभिव्यक्ति माया है। इसलिए उसे अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु उसका पूरी तरह निर्वचन नहीं किया जा सकता।

माया को सत् एवं असत् कहना उसमें दो परस्पर-विरोधी गुणों का आधान करना है। यह सम्भव नहीं। इस आधार पर इसकी समीक्षा प्रस्तुत है—

**नैकस्मिन्धर्मिणि युगपद् विरुद्धधर्मसमावेशः ॥८॥**

एक वस्तु में एक समय में दो परस्पर-विरोधी गुण नहीं रह सकते।

जिस प्रकार शैत्य एवं औष्ण्य एक-साथ नहीं रह सकते, इसी प्रकार सत् और असत् के परस्पर-विरोधी होने से उन दोनों का एक-साथ समावेश सम्भव नहीं। कोई वस्तु 'है' भी और 'नहीं भी है' यह कथन त्रिकाल में सत्य नहीं हो सकता। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**, भगवद्गीता आदि समस्त शास्त्रों द्वारा अनुमोदित इस सिद्धान्त के अनुसार यदि माया सत् है तो असत् नहीं हो सकती और यदि असत् है तो सत् नहीं हो सकती, अतएव माया के सत् और असत् एक-साथ दोनों होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जगत् यथार्थ है, आभास नहीं—इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

माया का क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी कहता है कि ऐसा प्रश्न करना अनुचित है। कार्य-कारण-सम्बन्ध का सामान्य नियम सांसारिक विषयों में चलता है, किन्तु लोकोत्तर विषयों पर यह लागू नहीं होता। माया का संसार में प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है, किन्तु माया का कोई कारण नहीं है। हमें बताया जाता है कि माया के कारण ही हम अज्ञान, पाप और दुःख में लिप्त हैं, किन्तु जब हम उस माया का कारण जानना चाहते हैं तो कहा जाता है कि उसका

---

२. **सत्यानृते मिथुनीकृत्य।**—शां० भा० प्रस्तावना
All finite things, as Plato says, are made up of being and non-being.—Radha : Ind. Phil. Vol. II, P. 564

१. **विकल्पो न हि वस्तु।**—गीता पर शंकरानन्द

कोई कारण नहीं है। इसका अर्थ है कि माया नित्य है।[1] नित्य होने से उसका कभी नाश नहीं होगा और वह सदा ब्रह्म के साथ लगी रहेगी। इस प्रकार जीव (जो मूलतः ब्रह्म ही है) की कभी मुक्ति नहीं होगी। परन्तु पार्थसारथि मिश्र के अनुसार "इस (अद्वैत) दर्शन में जिसके अनुसार सब-कुछ अव्याख्येय है, आक्षेप के रूप में अयुक्तियुक्तता का स्थान नहीं है।"[2]

**नानिर्वचनीया विवेचनोपलब्धेः ॥६॥**

विवेचन किये जाने से माया अनिर्वचनीय नहीं है।

मायावाद के प्रवर्त्तक अथवा सबसे महान् प्रचारक आचार्य शंकर एक ओर तो माया को अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) मानते हैं और दूसरी ओर उसकी चर्चा करते नहीं अघाते। वस्तुतः वे अपने अद्वैतवाद का सारा महल ही उसकी नींव पर खड़ा करते हैं, स्वयं स्पष्ट न होते हुए भी उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते हैं। जैनमत के सप्तभंगी न्याय के सम्बन्ध में शंकर कहते हैं—"अवक्तव्य है तो कहते क्यों हो ? कहते हो तो अवक्तव्य कैसे ? कहा भी जाए और अवक्तव्य भी हो, यह ठीक नहीं है।"[3] उनके 'अनिर्वचनीय' पर ठीक यही बात लागू होती है। भेद केवल शब्दों का है। जिसे जैनी 'अवक्तव्य' कहते हैं, शंकर उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। 'तव्यत्' और 'अनीयर' प्रत्ययों के अर्थों में क्या भेद है ?[4]

'मायाकृतः कार्यप्रपञ्चः' इस सूत्र की व्याख्या में माया के सम्बन्ध में कुछ मतों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। माया की व्याख्या में इस विचार-वैविध्य का कारण स्वयं इस शब्द की जटिलता है जो मायावादी सिद्धान्त में जगत् को उसका प्रपंच मानने पर अवश्यम्भावी है। शंकर माया के स्वरूप एवं उसकी परमार्थ सत्ता तथा जगत् के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं कर सके। सम्भव है, उनके समय में इसकी उतनी आवश्यकता न समझी गई हो जितनी बाद में हो गई।

---

१. **सदकारणवन्नित्यम्**।—वै० द० ४।१।१

२. **अत्रानिर्वचनीयवादेनानुपपत्तिर्दूषणम्**।

३. **अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्**।
—शां० भा० २।२।३३

४. **तव्यत्तव्यानीयरः**।—अष्टा० ३।१।९६

इस अनिर्वचनीय शब्द ने बाद में अद्वैत सम्प्रदाय में आनेवाले दार्शनिकों के लिए अद्भुत समस्या खड़ी कर दी कि वे माया को क्या मानें ? जब माया के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया, तो उसके विषय में कुछ न कहा जाए—यह कैसे सम्भव था ? बाद के टीकाकार स्पष्ट शब्दों में एक ओर ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने और दूसरी ओर जगत् को मिथ्या कहने में हिचकिचाते हैं। साथ ही वे शंकर के दर्शन से हटना भी नहीं चाहते। इसलिए कोई इसे जड़ात्मिका कहता है तो कोई इसे केवल ब्रह्म की शक्ति बताता है। अद्वैतदर्शन में जिन भिन्न-भिन्न अर्थों में माया शब्द का व्यवहार हुआ है, उनमें से कुछेक ये हैं—

१. क्योंकि यह जगत् अपनी व्याख्या अपने-आप नहीं कर सकता, इसी से इसका आभास-स्वरूप प्रकट होता है और यही भाव माया शब्द से ध्वनित होता है।

२. ब्रह्म तथा जगत् के मध्य की समस्या हमारे लिए एक अर्थ रखती है, क्योंकि हम शुद्ध ब्रह्म के अस्तित्व को प्रेरक के रूप में स्वीकार करते हैं और फिर जगत् के साथ इसके सम्बन्ध की माँग प्रस्तुत करते हैं जिसे हम तार्किक दृष्टिकोण से देखते हैं। हम यह कभी नहीं समझ सकते कि परम यथार्थ सत्ता अनेकत्वपूर्ण जगत् के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है, क्योंकि दोनों विजातीय हैं और इसलिए इसकी व्याख्या के लिए किये गये सब प्रयत्नों का असफल रहना निश्चित है। इसी दुर्बोधता का नाम माया है।

३. यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाए तो यह इन्हीं अर्थों में होगा कि जगत् ब्रह्म पर आश्रित है, किन्तु ब्रह्म किसी भी प्रकार जगत् से प्रभावित नहीं होता और जो जगत् ब्रह्म पर आश्रित है, उसे माया के नाम से पुकारा जाता है।

४. ब्रह्म के जगद्रूप में आभासित होने के सम्बन्ध में कारणरूप जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है उसी को माया कहते हैं।

५. यदि हम अपने ध्यान को व्यावहारिक जगत् तक ही परिमित रक्खें और तर्क के विचार-विमर्श का प्रयोग करें तो हमारे सामने एक पूर्ण व्यक्तित्व का भाव आता है जिसमें आत्माभिव्यक्ति की शक्ति है। इसी शक्ति का नाम माया है।

६. ईश्वर की यह शक्ति उपाधि अथवा प्रतिबन्ध में परिणत हो जाती है जो अव्यक्त प्रकृति है और जिससे समस्त संसार उत्पन्न होता

है। यह वह विषय है जिसके द्वारा सर्वोपरि विषयी अर्थात् ईश्वर जगत् का विकास करता है।[1]

इस प्रकार अनेकशः माया का निर्वचन किया गया है। तब उसे अनिर्वचनीय कैसे कहा जा सकता है? किन्तु यह सब होने पर भी जगत् का माया से उत्पन्न होना और इस कारण मिथ्या होना सिद्ध नहीं होता। हो भी कैसे? अद्वैतवाद में अभिलषित अर्थों में माया का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो पाता। तब इधर-उधर हाथ-पैर मारने से कुछ उपलब्धि नहीं हो सकती—इन अर्थों में माया को अनिर्वचनीय कहा जा सकता है।

वस्तुतः भ्रान्ति में डाल देनेवाली माया की शक्ति की उत्पत्ति का कोई भी समाधान सम्भव नहीं—उस शक्ति का जो मिथ्या ज्ञान की जनक है और जो स्वयम्भू ब्रह्म की नित्य पवित्रता एवं सर्वज्ञता के रहते हुए भी उसे लौकिक अस्तित्व में प्रकट कर देती है। स्वयं शंकर को कहना पड़ा—"हम स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म अविद्या की उपज नहीं है अथवा स्वयं भ्रान्त भी नहीं है। किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई भ्रान्त चैतन्ययुक्त प्राणी है जो अज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।"[2]

अगले सूत्र में माया के प्रयोजन को सूत्रबद्ध कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

**आवरणविक्षेपप्रयोजिका माया ॥१०॥**

माया का प्रयोजन है—आवरण (सत्य को छिपाना) और विक्षेप (उसकी मिथ्या व्याख्या करना)।

माया अनादि सृष्टितत्त्व है जो मनुष्य की दृष्टि से सत्य को छिपाये रखती है।[3] माया के दो व्यापार हैं—यथार्थसत्ता को छिपा देना तथा मिथ्या का विक्षेप करना। माया से उत्पन्न विविधतारूप जगत् यथार्थ-सत्ता और हमारे बीच पर्दे का काम करता है। "कुछ लोग सोचते हैं

---

१. तुलना करें—**ईश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते···ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।**—शां० भा० २।१।१४; और भी देखें—शां० भा० १।४।३, २।२।२ राधाकृष्णन-भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ ५७२

२. बृहद्० (१।४।१०) पर शांकर भाष्य

३. माण्डूक्य कारिका (गौडपादकृत) ५।१६

कि सृष्टि उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए है। मेरा कहना है कि इसका प्रयोजन उसे छिपाना है। इसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं कर सकती।"[1] माया नित्यरूप ईश्वर की उत्पादिका शक्ति है और इसलिए वह भी नित्य है। इसी के द्वारा सर्वोपरि ब्रह्म संसार की रचना करता है। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता रहती है, उसी प्रकार ईश्वर में माया रहती है। उसकी उपस्थिति उसके कार्यों द्वारा अनुमान से जानी जाती है।[2] जिन लक्षणों से इसे जाना जाता है, वे हैं आवरण और विक्षेप।[3] इनमें से पहला तो केवल ज्ञान का निराकरण है और दूसरा निश्चित रूप से भ्रम उत्पन्न करता है, क्योंकि माया स्वरूप से छली है, इसलिए इसे अविद्या अथवा मिथ्या ज्ञान कहा जाता है।[4] यह केवल बोध का अभाव नहीं है, किन्तु निश्चितरूप से भ्रान्ति है। इसलिए इसके कारण केवल इतना ही नहीं कि हम परम निरपेक्ष सत्ता का दर्शन नहीं कर पाते, अपितु उसके स्थान में हमें किसी अन्य वस्तु का बोध हो जाता है। माया के कारण ही विविध नामरूपात्मक जगत् का विकास होता है। इस नाम और रूप के पीछे माया नित्य ब्रह्म को हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

इसका प्रतिवाद अगले सूत्र द्वारा किया है।

**न तिरोधानानुपपत्तेः ॥११॥**

तिरोधान की सिद्धि न होने से [माया के कारण जगत् का विकास[ नहीं होता।

पूर्वोक्त सूत्र के विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अद्वैतवाद के अनुसार—

१. माया अनादि सृष्टि-तत्त्व है।

२. वह ईश्वर के अन्दर रहती है।

३. वह ईश्वर की शक्ति है और उसके समान नित्य है।

४. उसका काम यथार्थ को छिपाना और भ्रम को उत्पन्न करना है।

५. ब्रह्म और उसकी माया-शक्ति से उत्पन्न जगत् में अनन्यत्व है।

---

१. Some think creation is meant to show Him forth,
I say it's meant to hide Him all it can.
—Browning : Bishop Blougram's Apology

२. **निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।**—पंचदशी२।४७

३. देखें—वेदान्तसार ४

४. माया के छली रूप के लिए देखें—मिलिन्द ४।८।२३

६. जगत् हमारे और यथार्थसत्ता के बीच पर्दे का काम करता है।

माया को अनादि तत्त्व और ईश्वर के समान नित्य मानना द्वैत को स्वीकार करना है। ब्रह्म और उसकी शक्ति माया को नित्य मानने और उनसे उत्पन्न जगत् का उनसे अनन्यत्व मानने का अर्थ प्रकारान्तर से जगत् को नित्य एवं यथार्थ स्वीकार करना है। यदि जगत् हमारे और यथार्थसत्ता के बीच पर्दे का काम करता है तो उससे त्रिवाद स्वतः सिद्ध है—(१) हम, (२) यथार्थ सत्ता और (३) बीच में आनेवाला पर्दा। 'हम' से जीवात्मा, यथार्थ सत्ता से परमात्मा और बीच के पर्दे से जगत् अर्थात् प्रकृति अभिप्रेत हैं। वस्तुतः पर्दे की कल्पना तबतक नहीं की जा सकती जबतक उसके दोनों ओर एक-एक पदार्थ की सत्ता को स्वीकार न किया जाए। जगत् भ्रान्ति नहीं है, यद्यपि उसके रचयिता ब्रह्म की उपेक्षा करके और उसे मात्र प्रकृति का खेल समझ उसमें अनुरक्त होकर हम परमात्मा से विमुख होने की भूल कर बैठते हैं। डॉ० प्रभुदत्त शास्त्री ने लिखा है—"ब्रह्म सदा प्रकाशमान रहता है। यह 'हम' हैं जो अविद्या के कारण उसे देख नहीं पाते।"[1] यदि केवल ब्रह्म ही यथार्थ सत्ता है और शेष सब भ्रान्तिमात्र है तो यह 'हम' कौन हैं जो उसे देख नहीं पाते? निश्चय ही जो प्रकाशमान है वह 'वह' और 'हम' जो उसे देख नहीं पाते, अर्थात् दृश्य एवं द्रष्टा दो पृथक् सत्ताएँ हैं। वास्तव में सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म कभी भी माया से अभिभूत नहीं हो सकता।[2]

प्राकृत पदार्थों (माया) के मोह के कारण ही अल्पज्ञ जीव ब्रह्म को नहीं जान पाता।

**मायया पहृतज्ञानैरल्पज्ञैरज्ञेयं ब्रह्म ॥१२॥**

माया के कारण अपहृतज्ञान, अल्पज्ञ जीवों से ब्रह्म अज्ञेय है।

यदि माया परमात्मा की शक्ति है और उसका काम यथार्थ को छिपाना और भ्रम को उत्पन्न करना है तो शक्ति के शक्तिमान् के अधीन होने से स्वयं ब्रह्म ही यथार्थ को छिपाने और भ्रम को उत्पन्न करने-वाला ठहरता है। जड़ माया को उसके लिए दोषी नहीं माना जा

---

१. Brahma is ever the same in its splendour and luminosity. It is we who fail to see it through avidya

—The Doctrine of Maya

२. न नित्यमुक्तस्वप्रकाशचैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः।

सकता। प्राकृत जगत् को बनाकर, इन्द्रियों को बहिर्मुख करके और फिर माया के द्वारा यथार्थ को छिपा और भ्रम को उत्पन्न करके यह शिकायत करना कि "त्रिगुणात्मक प्रकृति से अभिभूत यह जगत् मुझे नहीं पहचानता,"[1] कहाँ तक न्याय्य माना जा सकता है ? गीता के एक श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—"परमेश्वर इस बात से अत्यन्त क्षुब्ध है कि संसार नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा तथा जन्ममरण के बन्धन से मुक्त करनेवाले मुझ परमात्मा को नहीं पहचानता।"[2] पहले परमात्मा स्वयं हमें भ्रमित करे और हमारे मन को अपनी ओर अभिमुख न करके हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दे और फिर 'मेरी ओर क्यों नहीं देखते' यह कह-कहकर दुःखी होता फिरे—परमेश्वर का यह समस्त व्यवहार जानबूझकर अपराध करनेवाले और उसका दण्ड मिलने पर दुःखी होनेवाले सामान्य जनों के समान है, परन्तु वास्तव में इसमें परमात्मा का कोई दोष नहीं है। दोष है उन लोगों का जिन्होंने बैठेठाले यथार्थ को छिपाने और भ्रम उत्पन्न करनेवाली माया की कल्पना करके उसे ब्रह्म के साथ चिपटा दिया।

तथ्य यह है कि प्राकृत पदार्थों के आकर्षण के कारण हम विषयों में लिप्त होकर परमात्मा से विमुख हो जाते हैं। जब यह कहा जाता है कि "मेरी त्रिगुणात्मक (सत्त्व-रजस्-तमस् गुणवाली) माया दुर्लङ्घ्य है, जो लोग इस माया को पार कर जाते हैं, वे ही मुझे (परमात्मा को) प्राप्त होते हैं"[3] तो इसका यही तात्पर्य होता है कि प्रकृति के मुग्ध करनेवाले आकर्षणों से विरत होकर परमात्मा की ओर उन्मुख होना सरल कार्य नहीं है। अगले ही श्लोक में कहा है कि "माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे आसुरी प्रवृत्तिवाले, दुष्कर्मों के करनेवाले मूढ़ तथा अधम पुरुष मुझे नहीं जान पाते।"[4] माया से जीवों का ज्ञान

१. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥—गीता ७।१३

२. एवं भूतमपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसार-दोषबीजप्रदाहकारणं मां नाभिजानाति जगदित्यनुक्रोशं दर्शयति।

३. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥—गीता ७।१४

४. न मां दुष्टिकृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥—तदेव ७।१५

नष्ट होता है, ईश्वर का नहीं, अतः 'माययापहृतज्ञानाः' से जीव अभिप्रेत हैं जो प्राकृत पदार्थों को प्राप्त कर, उनसे सुख पाने की आशा में दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते और परमात्मा को भूल जाते हैं। यह बताते हुए कि सत्य का मुख सुनहरी ढकने से ढका हुआ है, उपनिषद् ने उसे उठाने का निर्देश किया है जिससे हम प्रत्येक पदार्थ को उसके वास्तविक रूप में देख सकें।[1] यही माया के चंगुल से मुक्त होना है।

जगत् का अस्तित्व है, किन्तु उसकी मात्र प्रातिभासिक अथवा व्यावहारिक सत्ता है। पारमार्थिक रूप में वह शून्य हैं। परमार्थ में उसका लोप हो जाता है। इस भाव को सूत्रबद्ध कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

**मायामात्रं द्वैतं परमार्थतासिद्धेः ॥१३॥**

परमार्थ में असिद्ध होने से द्वैत मिथ्या है।

सत्ता के तीन रूप हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक। परमार्थसत्ता, जो त्रिकालाबाधित है, केवल ब्रह्म की है। आत्मज्ञान होने से पूर्व सम्पूर्ण जगत् की सत्ता व्यावहारिक है और आत्मज्ञान होने के अनन्तर सम्पूर्ण जगत् की सत्ता प्रातिभासिक है। रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में हम जानते हैं कि वहाँ वास्तव में सर्प का अस्तित्व नहीं है, इसलिए उसे सत् नहीं कहा जा सकता। पर हम यह भी जानते हैं कि उस समय साँप को देखनेवाला न केवल वहाँ से भाग खड़ा हुआ था, अपितु सारी रात उसके कारण बेचैन भी रहा था। इसलिए उसे सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता। जबतक सर्प के अस्तित्व का ज्ञान रहा तबतक वह सत् ही था। जब प्रातःकाल होने पर वहाँ रस्सी पड़ी देखी तो पता चला कि वहाँ केवल सर्प की प्रतीति थी, उसका अस्तित्व नहीं था। इस दृष्टान्त में रात्रि में सर्प की सत्ता व्यावहारिक थी, प्रातःकाल होने पर वह प्रातिभासिक सिद्ध हुई। परमार्थ में वह केवल रस्सी थी। इसी प्रकार संसार में जितना अनेकत्व है, वह सब मिथ्या (माया) है, क्योंकि उसकी परमार्थ सत्ता नहीं है। जबतक आत्मज्ञान नहीं होता तबतक इस संसार की व्यावहारिक सत्ता है। इसलिए खाना-पीना, सोना-जागना, विवाह, सन्तान, सम्बन्धी,

---

१. **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**
**तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥**—ईश० १५

मित्र आदि बाहरी पदार्थ एवं समस्त प्रपंच व्यवहार में सब सत्य हैं। आत्मज्ञान होने पर पता चलेगा कि यह सब प्रातिभासिक था। अन्तिम अर्थात् पारमार्थिक सत्ता केवल चेतन ब्रह्म है। त्रिकालाबाधित होने से वही एकमात्र यथार्थ है। जो आज है, कल नहीं रहेगा—वह यथार्थ नहीं हो सकता।

परन्तु जो वस्तुतः प्रत्यक्ष है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिए कहा—

**नोपलब्धमानस्याभावः ।।१४।।**

जो वर्त्तमान में उपलब्ध है, उसका अभाव नहीं हो सकता।

जो वर्त्तमान में उपलब्ध है, निश्चय ही वह पहले भी था। न होता तो कहाँ से आ जाता, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता। इसलिए जो जगत् वर्त्तमान में व्यवहार में सत् है, वह परमार्थ में भी सत् है। उसका रूपान्तर भले ही हो जाए, अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। जो प्रत्यक्ष है—जिसे प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानता है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। नामरूपात्मक जगत् का अन्त हो जाने पर भी मूल उपादान-कारण प्रकृति अपनी कारणावस्था में बनी रहेगी।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि उपादान कारण के अनुरूप ही उसके कार्य के गुण होते हैं, अर्थात् कार्य में कारण की सत्ता उभरकर आती है। अद्वैतमत में ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण माना है। ब्रह्म की परमार्थ सत्ता निर्विवाद है। यदि जगत् की सत्ता मात्र व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक है तो उसे परमार्थसत्ता ब्रह्म का कार्य कैसे माना जा सकता है? कारणब्रह्म की परमार्थसत्ता हो, किन्तु कार्यजगत् की केवल व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ता हो, यह युक्तिविरुद्ध होने से किसी प्रकार सम्भव नहीं। यह ठीक है कि कार्य-कारण में कुछ विलक्षणता रहती है, पर उनमें कुछ-न-कुछ समानता का होना आवश्यक है—तत्त्वतः एक होने के कारण, कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण नहीं हो सकता। अद्वैतमत में भी ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप माना है। शंकर के अनुसार ब्रह्म का सत्ताधर्म जगत् में है।[1] यदि ब्रह्म का सत्ता-धर्म जगत् में है तो ब्रह्म के समान ही जगत् की सत्ता होनी चाहिए,

१. ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्त्तमानो दृश्यते।
—शां० भा० २।१।६

अर्थात् यदि ब्रह्म की परमार्थ सत्ता है तो जगत् की परमार्थ सत्ता स्वतः सिद्ध है। शंकर ने तो एक स्थल (शां० भा० २।१।६) पर यहाँ तक लिख डाला है कि ब्रह्म का चैतन्य गुण भी जगत् में विद्यमान है, पर उसकी प्रतीति नहीं होती। एक मिट्टी का ढेला भी ब्रह्म के समान चेतन है। चैतन्य वहाँ अविभाजित है, अप्रकाशित है—इसलिए प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार शंकर ब्रह्म के सत् एवं चित् दो धर्मों को जगत् में विद्यमान बताते हैं, अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप के दो-तिहाई धर्म जगत् में प्रविष्ट हैं। तब जगत् को मिथ्या अथवा परमार्थ में असत् कैसे कहा जा सकता है? और यदि जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तथा ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत है, तो निश्चय ही जैसा ब्रह्म होगा वैसा ही जगत् होगा, अतएव ब्रह्म की परमार्थ सत्ता होते हुए अद्वैतमतानुसार जगत् को परमार्थ में असत् नहीं माना जा सकता। रज्जु-सर्प-दृष्टान्त का विवेचन पहले ही विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। उस दृष्टान्त के आधार पर जगत् माया अर्थात् मिथ्या सिद्ध नहीं होता।

**न ज्ञानार्थयोरभेदः ॥१५॥**

ज्ञान एवं ज्ञान के विषय में अभेद नहीं है।

कतिपय आचार्यों के मत में बाह्य जगत् की कोई सत्ता नहीं है। जो कुछ है, भीतर ही है। बाह्य जगत् कल्पनामात्र है। वास्तव में कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, ज्ञानमात्र में उसकी स्थिति है। घट-ज्ञान आत्मा में होता है तभी वह कहता है कि 'यह घट है।' भीतर ज्ञान न हो तो नहीं कहेगा। परन्तु वास्तव में बाह्यार्थशून्य होने पर भीतर ज्ञान हो ही नहीं सकता। विचार तथा मनोभावनाएँ उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं, यदि बाह्य पदार्थ उन्हें उत्पन्न न करें। प्रमेय पदार्थों के बिना प्रमा की सिद्धि नहीं हो सकती। "विचारक्रिया कभी भी वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि विचारक्रिया किसी वस्तु को विषय मानकर हो रही होती है।"[1]

बर्कले के मत में द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व हमारी अनुभूति पर आधारित है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष वास्तव में हमारे मस्तिष्क की अनुभूतिमात्र है। हमारी अनुभूतियों से

१. The objects of thought can never be the same as the act of thought of which it is an object.—C. E. M. Joad
Introduction to Modern Philosophy, 1953, P. 10

पृथक् पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। इसपर प्रश्न उठता है कि जिन पदार्थों को कोई नहीं देखता, उनका अस्तित्व कैसे रहता है? बर्कले का उत्तर है कि वे पदार्थ परमात्मा के मस्तिष्क में रहते हैं। यदि बर्कले के विचारों की शंकर से तुलना की जाए तो कहा जा सकता है कि व्यष्टि-अविद्या जीव के जगत् का कारण होती है और समष्टिरूप में माया समग्र जगत् का।

हमारा कहना है कि यदि बाह्यनिरपेक्ष मानसिक प्रत्यय ही सब-कुछ हैं, तब सबकी अनुभूतियाँ न्यूनाधिक रूप में एक-सी क्यों होती हैं, जबकि सब मनुष्यों के विचार, चिन्तन तथा इच्छाओं में भारी भेद पाया जाता है? तब क्यों हम अपनी इच्छाओं को दबाने या बाह्य वातावरण के दबाव में आकर नष्ट करने को विवश हैं? क्यों नहीं हम अपने-अपने विचारों, कल्पनाओं तथा भावनाओं के अनुरूप अपना-अपना संसार बना डालते? क्यों नहीं वस्तुएँ हमारी भावना के अनुसार अपना स्वरूप बदलतीं? यदि समस्त वस्तुओं का अस्तित्व परमात्मा के मस्तिष्क में माना जाए तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि ईश्वर भी वास्तविक सत्ता न होकर हमारे मस्तिष्क का विचारमात्र है। अन्य जीवों का अस्तित्व भी प्रत्ययमात्र है। इस प्रकार ईश्वरसहित सारा संसार विचारमात्र रह जाएगा, किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से तर्कसंगत नहीं।

बाइबल के अनुसार ईश्वर ने शून्य से संसार को बनाया। बर्कले मूलतः ईसाई पादरी थे। इसलिए ईसाई मत के सिद्धान्तों की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। प्रकृति का निषेध किये बिना बर्कले का आदर्शवाद ठहर नहीं सकता था। विज्ञान द्वारा ईसाईमत की भ्रान्त धारणाओं के विरोध को विफल करने और भौतिकवाद तथा नास्तिकता से छुटकारा पाने के लिए प्रकृति की सत्ता मात्र का निषेध करना बर्कले के लिए आवश्यक था।[1] स्वयं शंकर जब विरोधी तर्कों से परास्त होने लगते थे तब श्रुति का सहारा लेते थे और जब श्रुति में द्वैतवाद दीखता

---

१. He (Berkley) believed that his denial of the existence of material substance enabled materialism, scepticism and atheism to be refuted and the cause of religion to be more firmly established than hitherto.

Ency. Britt. 1960, Vol. XII, P. 66

था तो अपने अनुकूल उसका अर्थ करने में प्रवृत्त होते थे। कभी-कभी झुँझलाकर अशिष्ट भाषा तक का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाते थे।[1]

बौद्धों का क्षणिकवाद भी एक प्रकार से शून्यवाद है, क्योंकि पदार्थ के क्षण-क्षण में नष्ट होकर अगले क्षण नवीन की उत्पत्ति होते रहने से पदार्थ की नित्यता का प्रसंग नहीं उठता। परन्तु यदि क्षणिकवाद का तात्पर्य नामरूपात्मक जगत् की परिवर्त्तनशीलता से है, तो उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। उस अवस्था में द्रव्य नाशरहित रहता है। योगाचार बाह्यार्थशून्यत्व मानते हैं जिसका प्रत्याख्यान ऊपर हो चुका है।

हरेक जाग्रत् प्रत्यय में केवल प्रत्यय ही नहीं होता, अपितु पदार्थ के बाहर होने का भाव भी होता है। मुझे वृक्ष का ज्ञान होता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे मन में वृक्ष का ज्ञान है, अपितु यह भी ज्ञान है कि वृक्ष नाम का पदार्थ मेरे मन के बाहर विद्यमान है। 'नीले' और 'लाल' के प्रत्ययों में भेद इसीलिए है कि उनका ज्ञान प्राप्त कराने-वाले नीले और लाल पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। पदार्थ का ज्ञान और ज्ञान का पदार्थ एक नहीं हैं। इसलिए हमारे न देखने पर भी वृक्ष की सत्ता बनी रहती है। ज्ञान के बिना ज्ञेय रह सकता है, पर ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। यदि पदार्थ का अस्तित्व भीतर ही हो तो उसमें तथा-कथित बाह्य पदार्थ के सभी गुण होने चाहिएँ, परन्तु एक विशालकाय पर्वत छोटे-से मस्तिष्क में कैसे समा सकता है? व्याप्य से व्यापक का सूक्ष्म होना अनिवार्य है। बाहर स्थित अग्नि के सम्पर्क में आने पर शरीर भस्म हो जाता है। यदि वास्तव में अग्नि का अस्तित्व भीतर ही है तो वह शरीर को क्यों नहीं जला डालती? बाहर से शक्कर जिह्वा पर रक्खे बिना हृदय में अवस्थित शक्कर के ज्ञानमात्र से हमारी वासना की तृप्ति क्यों नहीं होती? यदि सब-कुछ भीतर ही है तो सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति तथा प्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ किये बिना ही संकल्पमात्र से मनुष्य की सब आवश्यकताएँ पूरी हो जाया करें। वस्तुतः पर्वत, अग्नि, शक्कर आदि सब पदार्थ बाहर हैं। तभी उनका ज्ञान आत्मा में रहता है। पदार्थों का अस्तित्व बाह्य जगत् में न हो, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से आत्मा में उनके ज्ञान का प्रश्न ही पैदा न

---

१. शां० भा० १।२।८

हो। प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना संस्कार, स्मृति, कल्पना आदि की भी सत्ता न रहे। ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए यदि बाह्य जगत् में पदार्थों की वास्तविक सत्ता न हो तो न आत्मा में उनका ज्ञान रह सकता है, न उनकी कल्पना हो सकती है और न अध्यास या भ्रान्ति आदि के लिए कोई स्थान रहता है। सत्य यही है कि व्यक्ति हों या न हों, संसार और उसके पदार्थों का कोई प्रत्यक्ष करे या न करे, किसी के मस्तिष्क में उसका ज्ञान हो या न हो, जगत् के अस्तित्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

**न व्यवहारपरमार्थभेदात्सदसत् ॥१६॥**

व्यवहार और परमार्थ में भेद होने से (पदार्थ) सत्-असत् नहीं होते।

वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ दोनों ही यथार्थ अथवा सत्य हैं। व्याप्य-व्यापक-भाव से जीव, प्रकृति तथा ब्रह्म सभी की अपनी-अपनी सत्ता है। हम परमार्थ का निषेध नहीं करते जहाँ मनुष्य का अनुभव लोक से भिन्न होगा। व्यवहार तथा परमार्थ के प्रत्ययों में इतना भेद है कि व्यवहार में हमारा अनुभव ज्ञानेन्द्रियों पर आश्रित है, जबकि भौतिक बन्धनों से मुक्त योगी अपनी चित्-शक्ति से बहुत-कुछ जान लेता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यवहार-जगत् में प्राप्त उसके अबतक के अनुभव सर्वथा मिथ्या थे। यह सत्य है कि यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेने पर ब्रह्म में अवस्थित जीवात्मा भौतिक पदार्थों को तुच्छ समझने लगता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि आनुभविक जगत् मिथ्या या भ्रम है। जिस प्रकार बड़ा होने पर बालक खिलौनों से खेलना छोड़ देता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त अथवा मुक्तात्मा के लिए प्राकृत पदार्थों का उपयोग न रहने पर वह उनका परित्याग कर देता है। परन्तु बालक के खिलौनों से खेलना छोड़ देने पर भी खिलौनों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। जिनसे वह अबतक खेलता रहा था उन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे खिलौने तब भी अपनी जगह बने रहते हैं और दूसरे बालकों के काम आते रहते हैं। इसी प्रकार योगी के लिए भले ही आनुभविक जगत् का कोई उपयोग न रहे, अन्य जीवों के लिए वह अपने यथार्थ रूप में ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

परमार्थ जगत् इस अर्थ में परमार्थ नहीं है कि वहाँ सब-कुछ अपना अस्तित्व खोकर एकत्व में परिणत हो जाता है। वह केवल इस अर्थ में

परमार्थ है कि वह व्यवहार-जगत् से भिन्न है। परमार्थ में अवस्थित आत्मा को प्राप्त आनन्द भी व्यवहार-जगत् में उपलब्ध आनन्द से भिन्न होता है। किन्तु इससे उसके इस लोक में प्राप्त आनन्द का प्रत्याख्यान नहीं हो जाता। उससे अवर श्रेणी के जीवों के लिए व्यवहार-जगत् अपने स्वरूप में यथावत् बना रहता है।

कारण और कार्य दोनों अपनी-अपनी जगह सत्य हैं। सोना और उससे बने आभूषण दोनों ही देखने में आते हैं। कारणरूप में होने से सोना परमार्थ में सत्य और नामरूप पाने से व्यवहार में आनेवाले आभूषण मिथ्या नहीं हो जाते। वास्तव में तो आभूषणों का मूल्य कुछ अधिक ही होता है। रूपान्तर हो जाने से कोई अपना अस्तित्व खोकर मिथ्या नहीं हो जाता। जल वाष्प बनकर उड़ जाए तो भी वह 'जलरूप में असत् या मिथ्या था' ऐसा नहीं माना जा सकता। कारण का रूपान्तर-मात्र कार्य है, अतः वह उतना ही सत्य है जितना स्वयं कारण।

सत्य की अपेक्षा से ही मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। मायावादियों के कथनानुसार यदि सब संसार मिथ्या-ही-मिथ्या होता—सत्य नाम की कोई वस्तु होती ही नहीं—तो हम व्यवहार-दशा में भी किसी को सत्य न कह सकते। जब हम सहस्रों बार दूर से जलाशय को देख वहाँ जाकर जल प्राप्त कर लेते हैं, तभी कभी-कभी बालू को देखकर वहाँ जल की भ्रान्ति होती है। मिथ्या ज्ञान की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ भी सत्य की अपेक्षा से हैं। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में निरन्तर उन नियमों की खोज होती रहती है, जिनके द्वारा पदार्थों के यथार्थस्वरूप को जाना जा सके। इसलिए व्यवहार-दशा की सभी वस्तुओं को मिथ्या नहीं माना जा सकता।

यदि यह संसार सचमुच मिथ्या हो तो उस व्यक्ति को, जिसे उसके मिथ्या होने का ज्ञान हो चुका है, उसे उसकी विद्यमानता का आभास नहीं होना चाहिए। कोई भी समझदार व्यक्ति मदारी के तमाशे को देखकर भ्रमित नहीं होता। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान और उसके यथार्थ न होने का ज्ञान एक-साथ नहीं रह सकते। भ्रम कभी-कभी और किसी-किसी को होता है। इसलिए संसार की यथार्थता-विषयक विश्वास की व्यापकता को देखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि उसकी प्रतीति या भ्रान्ति अज्ञान के कारण है। संसार को बार-बार

मिथ्या कहते जाने का क्या लाभ है, जबकि कितना ही प्रयास करने पर भी हम उसका लोप नहीं कर सकते ?

परन्तु तर्कप्रतिष्ठित न होने पर भी संसार के मिथ्या होने की बात जाने-अनजाने हमारे मुँह से निकलती रहती है। ऐसा क्यों है ? इसलिए कि—

**सापेक्षत्वात्तत् ॥१७॥**

वह (सत्-असत्) अपेक्षा से है।

कार्य और कारण दोनों के सत्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा कारण अधिक सत्य अर्थात् स्थायी होता है। स्वर्ण से बने आभूषण की अपेक्षा उसका उपादान स्वर्ण अथवा घड़े की अपेक्षा उसका उपादान तत्त्व मिट्टी निश्चय ही अपने स्वरूप में अधिक स्थायी हैं, क्योंकि आभूषण अथवा घड़े के अपना नामरूप खो देने पर स्वर्ण तथा मिट्टी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि आभूषण तथा घड़ा मिथ्या हैं, जबकि स्वर्ण और मिट्टी सत्य हैं। इस प्रकार अधिक स्थायित्व को सत्य का आधार या उसकी कसौटी मान लेने पर ऐसे किसी भी पदार्थ को पूरी तरह सत्य नहीं कहा जा सकता जिसकी सत्ता देशकाल तथा कार्य-कारण-भाव के अधीन हो। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कार्यरूप होने से आभूषण अथवा घड़ा मिथ्या हैं। निश्चय ही इनमें स्वर्ण तथा मिट्टी की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य है। ऐसा न होता तो स्वर्ण तथा मिट्टी-उपादान से बनी विभिन्न वस्तुओं में भेद क्यों किया जाता ? इसी प्रकार निमित्तकारण के रूप में नित्य, किन्तु अपरिणामी, परमेश्वर तथा उपादानकारण के रूप में नित्य, किन्तु परिणामी, प्रकृति की अपेक्षा से नित्य परिवर्त्तन-शील नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहा जा सकता है, किन्तु यह कथन मात्र औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं।

शरीर तथा संसार दोनों 'सत्' हैं। इसलिए न शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए न संसार की। परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार। इसलिए न शरीर को सब-कुछ माना जा सकता है, न संसार को। उपनिषदों के ऋषियों ने शरीर को 'सत्' माना, किन्तु आत्मा की दृष्टि से और उसकी अपेक्षा से उसे 'असत' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना, किन्तु विश्वात्मा की दृष्टि से और उसकी अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि

शरीर और संसार दोनों के सत् होते हुए भी उनका सत् आत्मा और परमात्मा की अपेक्षा घटिया स्तर का है।

छान्दोग्य ने इस मान्यता की पुष्टि करते हुए अनन्त ब्रह्म को 'अमृत' तथा सान्त जगत् को 'मर्त्य' कहा।[१] इसी मत का प्रतिपादन करते हुए शंकर ने कहा कि जिस प्रकार ब्रह्म तथा जगत् की यथार्थता द्विस्तरीय है, उसी प्रकार स्वप्न-जगत् तथा जाग्रत्-जगत् की यथार्थता भी द्विस्तरीय है। इसलिए यह कहना ठीक होगा कि जाग्रत्-जगत् की अपेक्षा स्वप्न-जगत् मिथ्या है। इसी प्रकार आनुभविक जगत् अपने-आपमें सत् होते हुए भी ब्रह्म की तुलना में या उसकी अपेक्षा से असत् या अयथार्थ कह दिया जाता है।

लोक में जब हम अपनी बोलचाल में संसार के लिए माया या मिथ्या शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारी भावना जीवन की असारता को व्यक्त करने की होती है। समस्त संसार परिवर्त्तन, ह्रास तथा मृत्यु से आक्रान्त है। अपनी इसी भावना से उद्वेलित होकर हम कह उठते हैं कि नामरूपात्मक जगत् अन्तिम सत्य नहीं है। नचिकेता ने सांसारिक ऐश्वर्यों तथा प्रलोभनों को 'आज हैं, कल नहीं' (श्वोभावाः) कहकर ठुकरा दिया। जो मार्ग नचिकेता ने अपनाया उसी का अनुसरण मैत्रेयी ने किया। जब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के सम्मुख भौतिक सुख-सामग्री देने का प्रस्ताव रक्खा तो उसने पूछा—"यदि सारी पृथिवी स्वर्ण और धन-धान्य से भरपूर होकर मुझे मिल जाए तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"जैसे साधन-सम्पन्न लोगों का जीवन होता है, वैसा ही तेरा होगा।" इसपर मैत्रेयी ने कहा—"जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी?"[२] 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करनेवाले की मूल भावना कुछ ऐसी ही रही होगी कि जगत् है तो सत्स्वरूप, किन्तु सत्स्वरूप होने पर भी सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा से मिथ्या है। इसका यह

---

१. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥
—छां० ७।२४।१

२. यन्नु इयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहममृता स्याम्।
यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्।
येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्।—बृहद्० २।४

तात्पर्य कदापि नहीं कि जगत् स्वरूप से अथवा परमार्थ में असत् या मिथ्या है।

मायावाद कोई प्राचीन सिद्धान्त नहीं है। इसका मूल बौद्धमत में बताया जाता है। सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से यह अवैदिक मान्यता है। अगले सूत्र में इसी का विवेचन किया है।

**मायावादोऽवैदिकः ॥१८॥**

मायावाद अवैदिक है।

यह आनुभविक जगत् है भी और नहीं भी—शंकर के परमार्थ-सत्य और व्यावहारिक सत्य में जो यह भेद है, वह बौद्ध दर्शन में अभिमत परमार्थ तथा संवृत्ति के भेद के अनुकूल है।

**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।**
**लोके संवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थतः॥**[1]

आनुभविक जगत् अविद्या अथवा, नागार्जुन की भाषा में, संवृति के कारण है। इन सिद्धान्तविषयक अंशों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों में भी समानता है जो निश्चयपूर्वक बौद्धधर्म के प्रभाव का निर्देश करती है। किसी वस्तु अथवा सत्ता के लिए 'धर्म' शब्द का, सापेक्ष के ज्ञान के लिए 'संवृति' का तथा पदार्थों के अस्तित्व के लिए 'संघात' का प्रयोग विशिष्ट रूप से बौद्धधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। अयथार्थता के प्रतीकरूप में आलातचक्र की उपमा का प्रयोग प्रायः बौद्धधर्म के ग्रन्थों में हुआ है। गौडपाद में भावात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा निषेधात्मक प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इस दृष्टि से शंकर का मत अधिक सन्तुलित है।[2] शंकर की मोक्षसम्बन्धी मान्यता भी बौद्धमत के निर्वाण से अधिक भिन्न नहीं है।[3] यदि प्राचीन बौद्ध मत में एक निरपेक्ष ब्रह्म के अस्तित्व का समावेश हो जाए तो हम अद्वैत वेदान्त पर ही आ जाते हैं।

शंकर-विरोधी भारतीय परम्परा के अनुसार शंकर का मत प्रच्छन्न

---

१. देखें—**श्लोकवार्त्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' निरालम्बनवाद।**

२. लंकावतार, बी० टी० एस० संस्करण, पृष्ठ ६५। इस मत का, कि गौडपाद हमें बौद्ध मत के शून्यवाद का वेदान्तरूप देता है, जैकोबी, पूसें, सुखठणकर तथा विधुशेखर भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है।

३. **वासनात्यन्तविरामः मोक्षः।** जीवात्मा के ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार (**सोऽहम्** अथवा **अहं ब्रह्मास्मि**) माध्यमिकों के 'शून्यत्वैवाहम्' के मत के अनुकूल है, यद्यपि बल है तथ्य के भिन्न-भिन्न पक्षों पर।

रूप में बौद्धमत का ही रूप है—उनका मायावाद प्रच्छन्न बौद्धमत है। पद्मपुराण में कहा है कि शिव ने पार्वती पर प्रकट किया कि "माया की प्रकल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बौद्धमत का ही प्रच्छन्नरूप है। हे देवि ! मैंने ही कलयुग में एक ब्राह्मण का रूप धारण करके इस प्रकल्पना का प्रचार किया है।"[1] इसी अध्याय में आगे चलकर कहा है—"इस महान् दर्शन अर्थात् मायावाद को वेदों का समर्थन प्राप्त नहीं है।" रामानुज के आध्यात्मिक प्रपितामह यामुनाचार्य की भी यही सम्मति है और इसी सम्मति को रामानुज ने दुहराया है। अपने 'सिद्धि-त्रय' में यामुनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों तथा वेदान्तियों दोनों के लिए ज्ञाताज्ञात और ज्ञान के मध्य जो भेद हैं, वे अवास्तविक हैं। अद्वैत इन भेदों का कारण माया को मानता है और बौद्ध विषयी विज्ञानवाद इन्हें बुद्धि के कारण बताता है।[2] सांख्यदर्शन पर टीका करते हुए विज्ञान-भिक्षु कहता है—"जहाँ तक माया की विलक्षण प्रकल्पना का सम्बन्ध है, जिसका प्रचार अपने को वेदान्ती कहनेवालों ने किया है, वह केवल बौद्धों के विषयी विज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदान्त का मन्तव्य नहीं है। बौद्धों का प्रतीकवाद माया के सिद्धान्त की कोटि का है।[3]

उक्त सब अनुमान इस बात की पुष्टि करते हैं कि शंकर ने अपने वेदान्तदर्शन में बौद्धमत के कतिपय अंशों का समावेश किया, जैसे मायावाद और वैराग्यवाद। यह भी कहा जाता है कि इस विचारधारा के अविच्छिन्न रूप को सुरक्षित रखने के प्रयास में उन्होंने तार्किक दृष्टि से परस्पर असंगत विचारों को भी संयुक्त करने की चेष्टा की। राधाकृष्णन के शब्दों में "मायावाद के सिद्धान्त ने उनके दर्शन के अन्तर्गत छिद्रों को ढकने के लिए चोले का काम किया।"[4] शंकर के

---

१. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।**
**मयैव कथ्यते देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥**—उत्तरखण्ड २३६।६, ७

इस श्लोक से पुराणों के महाभारतकार व्यासमुनि द्वारा रचित होने का खण्डन हो जाता है। ऐसा होता तो पुराणों में महाभारत के बहुत पीछे होनेवाले बौद्धमत तथा शंकराचार्य का उल्लेख नहीं हो सकता था।

२. जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ १३२

३. सांख्यप्रवचनभाष्य १।२२

४. The theory of Maya serves as a cloak to cover the inner rifts of his (Shankar's) system.

—Indian Philosophy, Vol. II, P. 472

दादागुरु गौडपाद की 'कारिका' में बौद्धमत की छाया है—विशेषतः विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सम्प्रदाय की। गौडपाद परम्परागत अर्थों में आत्मनिष्ठता को मानता है, क्योंकि बाह्य पदार्थों की अयथार्थता को सिद्ध करने तथा उन्हें विचार के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसने उन्हीं युक्तियों का प्रयोग किया है जिनका बौद्धमत में विज्ञानवाद करता है।[1]

बादरायण और शंकर दोनों बलपूर्वक कहते हैं कि जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था के प्रभावों में मौलिक भेद है[2] और यह कि जाग्रतावस्था के प्रभावों का आधार बाह्य पदार्थों का अस्तित्व है, किन्तु गौडपाद जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों के प्रभावों को एक समान अयथार्थ मानते हैं।[3] इस प्रकार वह शून्यवाद के निकट पहुँच जाते हैं। "विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है। सृष्टिरचना भी नहीं है। न कोई बन्धन में जकड़ा हुआ है और न कोई मोक्ष के लिए प्रयत्नशील है। न कोई मुक्त है, न कोई मोक्ष का अभिलाषी है—यही परम सत्य है।"[4] गौडपाद की इस प्रकल्पना में ऐसी अतिशयोक्ति का समावेश निश्चय ही अर्वाचीन बौद्धमत से हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि गौडपाद को बौद्धदर्शन के कुछ सिद्धान्तों के साथ अपने दर्शन की समानता का ज्ञान था। किन्तु दूसरे लोग ऐसा न कहने लगें—इसलिए अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में वह कह देता है कि "बुद्ध ने ऐसा नहीं कहा था।"[5] इसे कहते हैं 'चोर की दाढ़ी में तिनका।' इसके ऊपर टिप्पणी करते हुए शंकर कहते हैं कि "बौद्धधर्म का सिद्धान्त अद्वैत के साथ सादृश्य रखता है, किन्तु बौद्धधर्म में

---

१. ऐसे लोग भी हैं जिनका विश्वास है कि गौडपाद अपने-आपमें बौद्धमतावलम्बी था। उसने 'माध्यमिक कारिका' पर टीका लिखी है तथा उसकी सम्मति में बौद्धमत उपनिषदों की पद्धति के समान है।

दासगुप्ता—हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलासोफ़ी, पृ० ४२३-२८

२. शां० भा० २।२।२८-३२

३. कारिका २।४

४. **न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्ति न बन्धनम्।**
**अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात् प्रविलीयते॥**

५. **नैतद् बुद्धेन भाषितम्।**—४।६।६

वैसा निरपेक्षवाद नहीं है जो अद्वैतवाद का प्रधान आधार है।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक वेदान्त में प्रतिपादित अर्थों में माया का सिद्धान्त बौद्धदर्शन की देन है। जैसा कि डा० प्रभुदत्त शास्त्री के ग्रन्थ से उद्धृत करके हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि 'माया' शब्द ऋग्वेद में लगभग ७० बार, अथर्ववेद में २७ बार, यजुर्वेद में ५ बार और सामवेद में ६ बार आया है। सभी प्रमुख वेदभाष्यकार इस विषय में एकमत हैं कि इस पद का प्रयोग सर्वत्र 'प्रज्ञा' अथवा ज्ञान-विशेष के अर्थों में हुआ है। अद्वैतमत में अपनाये गये अर्थों में वह कहीं नहीं मिलता। वेदों में संसार को न कहीं मिथ्या कहा गया है, न भ्रान्ति, अतएव प्रचलित अर्थों में मायावाद सर्वथा अवैदिक सिद्धान्त है।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि साहित्य में 'माया' पद का किसी ऐसे विलक्षण अर्थ में प्रयोग होता है जिसके स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। परन्तु माया कोई अज्ञेय तत्त्व नहीं है। वह भली प्रकार जानी-पहचानी वस्तु है, क्योंकि—

**प्रकृतिरेव माया ॥१६॥**

प्रकृति ही माया है।

प्रकृति का अपर नाम माया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि "प्रकृति का नाम माया है और उसका नियामक होने से परमेश्वर मायावी कहाता है। ब्रह्म के शरीररूप में कल्पित प्रकृति के अवयवों से यह जगत् व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्म के द्वारा प्रकृति जगद्रूप में परिणत की गई है।"[2] इससे पूर्व नवम कण्डिका में कहा है कि इस माया (प्रकृति) से मायी (परमेश्वर) समस्त जगत् की रचना करता है, परन्तु उस (परमेश्वर) से भिन्न दूसरा (जीवात्मा) माया (प्रकृति) के द्वारा बन्धन में बाँधा जाता है।[3] यहाँ माया के सम्बन्ध में दो बातें कही गई हैं—एक यह कि उससे सृष्टि की रचना होती है और दूसरी यह कि

---

१. The theory of Buddhism wears a semblance to the Advaita, but it is not that Absolutism which is the pivot of the Vedanta Philosophy.

— Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P. 463

२. **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**
**तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥**—श्वेत० ४।१०

३. **अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।**

—तदेव ४।६

उसके कारण जीवात्मा बन्धन में पड़ जाता है। ये दोनों कार्य प्रकृति के द्वारा सम्भव हैं। अपने मूलरूप में वह जगत् का उपादान है और कार्यरूप में उसके विषय जीव को आकृष्ट करके अपने मोह में बाँध लेते हैं—यहाँ तक कि उनमें लिप्त जीव सबके नियामक 'मायी' अथवा 'मायावी' को नहीं देख पाता। इस प्रकार सृष्टिरचना के सन्दर्भ में माया शब्द सर्वत्र प्रकृतिवाचक है। राधाकृष्णन के मत में माया नाम और रूप के समान है जो अपनी अविकसित अवस्था में ईश्वर के अन्दर रहते हैं, एवं अपनी विकसित अवस्था में जगत् का निर्माण करते हैं। इन अर्थों में माया प्रकृति की पर्यायवाची है।[1] शंकराचार्य ने भी एक स्थान पर माया के इन्हीं अर्थों को ग्रहण किया है।[2] पुराणों में यही माया ईश्वर की पत्नी के रूप में प्रकट होती है और सृष्टिरचना में मुख्य साधन (उपादान) का काम देती है।[3] कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध के प्रथम अध्याय (१।२७।३८) में समुद्रमन्थन से प्रादुर्भूत 'श्री' (विष्णु-पत्नी) को जगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः' कहा है। यजुर्वेद (२६।६०) में 'अदित्यै विष्णुपत्न्यै' शब्द आते हैं। 'अदिति' प्रकृति का पर्याय है। निघण्टु की व्याख्या में देवराज यज्वा ने एवं निरुक्त की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने उसे (अदिति को) प्रकृतिवाचक बताया है।[4] पुरुष (परब्रह्म) और प्रकृति का नर-नारी के रूप में वर्णन अनेकत्र उपलब्ध है जिसे औपचारिक समझना चाहिए। वस्तुतः यह अपनी बात को कहने का एक प्रकार है। केवल चेतन ब्रह्म अथवा केवल अचेतन प्रकृति से जगत्सर्ग का क्रम नहीं चल सकता, अतः दोनों के सहयोग में पूर्णता की भावना से एकता की कल्पना कर ली गई है। मूलरूप में भिन्न होने पर भी पारस्परिक अनुपेक्षणीय सहयोग की दृष्टि से उनमें पति-पत्नीभाव की कल्पना कर ली गई है।

---

१. Maya is identified with names and forms which, in their unevolved condition, inhere in Ishwar, and in their developed state constitute the world. In this sense it is synonymous with Prakriti.—Indian Philosophy, Vol. II, P. 572

२. **ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः।**—शां० भा० २।१।१४

३. तुलना करें—**त्वमसि ब्रह्ममहिषी।**—आनन्दलहरी

४. **अदितिः···आत्मपक्षे प्रकृतिः** (निघण्टु ४।१);
**अदितिः···अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः** (निरुक्त ४।२२, २३)

लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि एक झूठ को छिपाने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। अद्वैतवाद जब लड़खड़ाने लगा तो त्रिवाद का निषेध करने के उद्देश्य से उन्होंने कह दिया—

**वेदान्ते षडनादयः ॥२०॥**

वेदान्त में छह [पदार्थ] अनादि हैं।

जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीव-ईश्वर का विशेष भेद, अविद्या तथा अविद्या और चेतन का योग—वेदान्त में ये छह अनादि पदार्थ माने हैं। इनमें कारणोपाधि चेतन ईश्वर है, कार्योपाधि जीव तथा निरुपाधि चेतन अर्थात् उपाधिरहित शुद्ध चेतन ब्रह्म है।[1] एक ब्रह्म अनादि-अनन्त और शेष पाँच अनादि-सान्त हैं। जबतक अज्ञान रहता है तबतक ये पाँच रहते हैं। आदि विदित न होने से ये अनादि हैं और ज्ञान होने पर नष्ट हो जाने से ये सान्त हैं।

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत वेदान्तियों के छह अनादियों की समीक्षा करते हैं—

**पदार्थद्वयं ब्रह्मैकमपरा चाविद्या ॥२१॥**

दो ही पदार्थ हैं—एक ब्रह्म और दूसरी अविद्या।

नवीन वेदान्तियों के छह तत्त्वों का विश्लेषण करने पर मूलरूप तत्त्व दो ही रह जाते हैं—एक ब्रह्म और दूसरी अविद्या। प्रथम तो पाँच तत्त्वों को अनादि, किन्तु सान्त, मानना तर्कशास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। जिसका अन्त होता है, उसका आदि अवश्य होता है और जिसका आदि होता है, उसका अन्त अवश्य होता

---

१. **जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।**
**अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः॥**
**कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।**
**कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥**

प्रथम श्लोक अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में उद्धृत है। **'वेदान्तसिद्धान्तादर्श'** में पाठ इस प्रकार दिया है—

**जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।**
**अविद्या तच्चित्तोर्योगो वेदान्ते षडनादयः॥**

**'अद्वैतसिद्धि'** के दृष्टि सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यही पाठ अभियुक्त वचन के नाम से उद्धृत है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूति प्रकाश' अध्याय १ श्लोक ६१ में देखें। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (परि० १, जीवेश-स्वरूप विचार) में लिखा है—
**"संक्षेपशारीरिके तु कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।"**

है।[1] इस न्याय के अनुसार जिसका आदि नहीं है उसका अन्त नहीं हो सकता। तदनुसार वेदान्तियों के पाँच पदार्थ यदि अनादि हैं तो सान्त और यदि सान्त हैं तो अनादि कभी नहीं हो सकते। यदि, दुर्जनतोषन्याय से, वेदान्तियों के कथनानुसार उनके छह पदार्थों को अनादि मान लिया जाए तो उनका अनन्त होना अनिवार्य है। अनादि-अनन्त होने से वे नित्य होंगे। इस प्रकार जीव व प्रकृति का निषेध करते-करते वेदान्तियों को तीन की जगह छह तत्त्व मानने को विवश होना पड़ेगा। तब उनका अद्वैतवाद अथवा एकमात्र ब्रह्म की यथार्थता का सिद्धान्त धरा रह जाएगा। शंकर अथवा शांकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने छह अनादि को स्वीकार करके यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी सत्ता है।

कारणोपाधि ईश्वर है, अर्थात् जब शुद्ध चेतन ब्रह्म कारणरूप उपाधि से उपहित होता है, तब वह ईश्वर कहाता है। इसी प्रकार कार्योपाधि से उपहित होने पर शुद्ध चेतन ब्रह्म की संज्ञा जीव होती है। इस प्रकार अद्वैतमत में अविद्या के योग के बिना जीव और माया के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता। अनादि वस्तु किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती। यदि वस्तुतः वह किसी कारण का परिणाम है तो अनादि नहीं हो सकती। इस प्रकार कारण से उत्पन्न होने से ईश्वर तथा जीव अनादि नहीं रहते। इन दोनों का चेतन पद में अन्तर्भाव होने से भी इनकी पृथक् गणना करना व्यर्थ है। जब ईश्वर तथा जीव ही अनादि नहीं रहे तो इन दोनों का विशेष भेद कैसे अनादि रहेगा? यह ठीक है कि ईश्वर और जीव का भेद अनादि है—दोनों सदा से एक-दूसरे से पृथक् अपना अस्तित्व रखते हैं, पर यह भेद इसीलिए है कि दोनों अनुत्पन्न हैं और दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, अर्थात् वे स्वरूप से अनादि हैं। तथापि इस भेद को एक अतिरिक्त तत्त्व मानकर उसकी पृथक् गणना करना सर्वथा असंगत है। यही स्थिति **'तच्चित्तोर्योगः'** अर्थात् अविद्या और चेतन के योग की है। वस्तुतः वह किसी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में उपपन्न नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दो ही पदार्थ बचे रह जाते हैं। इनमें अविद्या अनेक दोषों का घर है। एतद्विषयक विस्तृत समीक्षा हम पहले कर आये हैं। इस प्रकार वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म ही अनादि पदार्थ रह जाता है, परन्तु

---

१. **अन्तवत्त्वे सत्यादिमत्वप्रसङ्गः आदिमत्त्वे सत्यन्तवत्वप्रसङ्गः।**

वह अविद्या का साथ नहीं छोड़ सकता। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि अविद्या तत्त्व को स्वीकार करना स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि केवल चेतन ब्रह्म समस्त चेतन-अचेतन जगत् की सृष्टि करने में असमर्थ है। चेतन ब्रह्म अचेतन जगत् का उपादान नहीं हो सकता और न अनेकविध-वैधर्म्य के कारण जीवरूप हो सकता है। इसलिए अद्वैतवाद को व्यावहारिक रीति से सक्षम बनाने के लिए अविद्या की कल्पना करना आवश्यक समझा गया। अविद्या का अपर नाम माया है जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

आश्चर्य की बात यह है कि एक शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पाँचों को नवीन वेदान्ती 'मायिक' अर्थात् मायाकृत मानते हैं। जैसे कायिक शब्द के अर्थ काया से उत्पन्न वस्तु के हैं, वैसे ही व्याकरण की रीति से 'मायिक' शब्द के अर्थ माया से उत्पन्न वस्तु के हैं, परन्तु ये लोग व्याकरण की उपेक्षा करके मनमाने अर्थ करते और अद्वैतवाद के नाम पर वेदान्तसूत्रों की भावना के विपरीत उनका भाष्य करके कल्पना-जगत् की सृष्टि करते हैं। तीन अनादि तत्त्वों को छोड़कर, ब्रह्म और ईश्वर के नाम से दो-दो ईश्वरों, अविद्या, माया, अविद्या व चेतन का योग आदि के अनादित्व का नाम तक वेदान्तसूत्रों में कहीं नहीं मिलता। □

# पञ्चमोऽध्यायः

**नाद्वैतप्रतिपत्तये वेदान्तसूत्राणि ॥१॥**

वेदान्तसूत्रों का प्रयोजन अद्वैत-सिद्धि नहीं।

ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन को नवीन वेदान्त अथवा अद्वैतवाद का मूलाधार माना जाता है। सभी दर्शनों में वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। साथ ही **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** का सिद्धान्त भी सभी मनीषियों को मान्य है। जब हम बुद्धिपूर्वक वेदान्तसूत्रों पर विचार करते हैं तो उनमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्व प्रतिपादित है—इसी निश्चय पर पहुँचते हैं। जिन सूत्रों के आधार पर **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'** के भाव को उभारकर अद्वैतवाद का 'घटाटोपो भयङ्करः' महल खड़ा करने का प्रयास किया जाता है, स्थालीपुलाकन्याय से उनमें से कतिपय अधिक महत्त्वपूर्ण सूत्रों का वास्तविक अर्थ प्रस्तुत करके यहाँ उनपर ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है।

**१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१।१।१॥**

वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को होगी जो उसे नहीं जानता। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे—यह अपने-आपमें कितना उपहासास्पद है! जिज्ञासु तथा जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से भिन्न कोई है। प्रकृति के जड़ होने से उसके जिज्ञासु होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः चेतन, किन्तु अल्पज्ञ, जीव ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर सकता है।

किस ब्रह्म को जानने की जीव की इच्छा है? 'किस ब्रह्म को?' यह प्रश्न इसलिए उठा कि शांकर मत में ब्रह्म दो प्रकार का है, अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूप विकारभेद की उपाधिवाला और

दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त।[1] एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है। वह सत्तामात्र है। दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। यह दूसरी प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है। परब्रह्म की अपेक्षा यह घटिया स्तर का ब्रह्म है। जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गई है, उसका परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है[2] और जो समस्त ज्ञानविज्ञान का आदिस्रोत है।[3] शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है। इसलिए वह न सृष्टि को उत्पन्न करता, न उसका पालन करता और न विलय करता है। ऐसे समस्त कार्यों के करने का दायित्व अपर ब्रह्म पर है जो माया की उपाधि से ग्रस्त है। हमारा काम तो इसी ब्रह्म से निकलता है। मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने और भविष्य के लिए मोक्षलाभ के निमित्त अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस लोक में आता है। इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि में साधनरूप जगत् की रचना जिस ब्रह्म ने की है, हमारे लिए तो वही उपयोगी है। इसलिए हम उसी को जानना चाहेंगे। इस पर शंकर कहते हैं कि उसे जानकर क्या करोगे? वह तो अपर ब्रह्म है। वह तो रज्जु में सर्प की भाँति माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म है। जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर संकेत करके दौड़ा देना उसके साथ धोखा करना है। ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म के जिज्ञासुओं को **'जन्माद्यस्य यतः'** इन शब्दों में उसका परिचय देकर अपर ब्रह्म की ओर निर्देश करके उनके साथ धोखा किया है। यह तो निम्नस्तरीय अध्यस्त ब्रह्म निकला, वास्तविक नहीं। परन्तु धोखा करनेवाले वास्तव में भाष्यकार शंकर हैं, सूत्रकार बादरायण नहीं। समस्त वेदान्तसूत्रों में अथवा अन्य दर्शनों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे दो प्रकार का ब्रह्म होने का संकेत मिलता हो। जयतीर्थ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध हैं।"[4] वेद की घोषणा है कि "वह एक ही है।"[5] मैक्समूलर के मत में

१. **द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।**—शां० भा० १।१।११
२. **जन्माद्यस्य यतः।**—वे० द० १।१।२
३. **शास्त्रयोनित्वात्।**—तदेव १।१।३
४. जयतीर्थ—न्यायसुधा, पृष्ठ १२४
५. स एष एक **एकवृदेक** एव।—अथर्व० १३।४।२०

'उपनिषद्-साहित्य में दो ब्रह्म का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता।'[1] छान्दोग्य में तो बलपूर्वक कहा है—**'एकमेवाद्वितीयम्'** (छां० ६।२।१) वास्तव में ब्रह्म एक ही है, और वह वही है जिसका लक्षण सूत्रकार ने दूसरे, तीसरे और चौथे सूत्रों में दिया है। यह कोई घटिया स्तर का ब्रह्म नहीं है। मृगतृष्णिका के जल से प्यास नहीं बुझ सकती और न रज्जु में प्रतीत होनेवाला सर्प काट ही सकता है। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य न निष्क्रिय परब्रह्म कर सकता है और न अध्यस्त ब्रह्म। जिसके लिए यह स्वभावसिद्ध कार्य है, वही इसे कर सकता है।

**२. जन्माद्यस्य यतः ॥१।१।२॥**

जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।[2] नवीन वेदान्त ब्रह्म में कर्त्तृत्व नहीं मानता।[3] तथापि शंकर ने अनेक स्थलों पर ब्रह्म का स्रष्टा होना स्वीकार किया है। वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण बताया है।[4] आगे चलकर एक बार फिर उन्होंने लिखा है कि सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला है।[5] इस प्रकार ईश्वर का सृष्टि का रचयिता होना सर्वथा प्रमाणित है। यदि संसार मात्र भ्रान्ति है तो इसका अर्थ होगा कि सृष्टि की रचना मात्र भ्रान्ति की रचना है, उसे धारण करना भ्रान्ति को बनाये रखना है और उसकी

---

१. Max Muller : The Vedanta Philosophy, 2nd reprint, 1855, P. 72

२. लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण। स्वरूपलक्षण पदार्थ के यथायथ स्वरूप का वर्णन करता है। **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** अथवा **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। तटस्थलक्षण किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए उस वस्तु का बोध कराता है।

३. **कर्त्तृत्वानुपपत्तेः।**—शां० भा० १।१।४

४. **तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते।**—शां० भा० १।१।४

५. **सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्।**
—शां० भा० १।२।६

प्रलय भ्रान्ति का अन्त है। इस प्रकार ब्रह्म मात्र भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण सिद्ध होगा। एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि शंकराचार्य की भाँति बादरायण जगत् को मिथ्या मानते तो वह ब्रह्म को असत् अथवा भ्रान्ति का उत्पादक कहकर उसे बदनाम न करते।

प्लेटो के दर्शन में ईश्वर को निर्माता मानते हुए प्रतीयमान जगत् को भ्रम एवं बुरा कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्माता ईश्वर ने भ्रम तथा पाप का निर्माण किया। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के लिए यह कोई शोभा की बात नहीं है कि उससे मिथ्या जगत् की उत्पत्ति हो अथवा अविद्यावत् शास्त्र का प्रादुर्भाव हो।[1] फिर परमात्मा ने इस भ्रमरूप जगत् का निर्माण क्यों किया और किसके लिए किया? ब्रह्म से अतिरिक्त कोई था नहीं। वह स्वयं अपने को भ्रमित करने के लिए भ्रमजाल रचेगा, इसपर कौन विश्वास कर सकता है?

सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कार्य भी एक बार नहीं, बार-बार होता है। हर सृष्टि के बाद प्रलय और हर प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। यदि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म अज्ञान अथवा अविद्या के कारण बार-बार सृष्टि का निर्माण करता है तो इसका यह अर्थ होगा कि परमात्मा बार-बार अपनी भूल को दुहराता रहता है। सर्वज्ञ एवं त्रिकालाबाधितज्ञानसम्पन्न ब्रह्म ऐसा कभी नहीं कर सकता।

यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि ब्रह्म तथा जगत् में तादात्म्य नहीं है। कर्त्ता और उसकी कृति के समान स्रष्टा और उसकी सृष्टि एक नहीं हो सकते। जैसे कुम्हार और उसके द्वारा निर्मित घड़ा एक नहीं हैं, वैसे ही परमेश्वर और उसका बनाया जगत् भी एक नहीं है।

**३. नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१।१।१६॥**

इतर (जीव) आनन्दमय सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म से भिन्न संसारी जीव आनन्दस्वरूप नहीं है।

यदि ब्रह्म तथा जीव एक होते और दोनों समानरूप से आनन्दमय

---

१. अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।
—शां० भा० १।१।१

होते तो तैत्तिरीय उपनिषद् में यह न कहा जाता कि जीवात्मा मृत्यु के अनन्तर आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करता है ।[1] इस प्रकरण में ब्रह्म को जगत्स्रष्टा कहा गया है । अल्पसामर्थ्यवाला जीव सृष्टिकर्त्ता कदापि नहीं हो सकता । इस सूत्र के भाष्य में शंकर ने भी इस भाव की पुष्टि करते हुए लिखा—"आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं । यहाँ 'इतर' का अर्थ ईश्वर से भिन्न संसारी जीव है । जीव के लिए आनन्दमय शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता ? इसलिए कि उसकी सिद्धि नहीं होती ।[2] इस प्रकार यहाँ शंकर ने जीव तथा ब्रह्म के भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है । इतनी विस्पष्ट घोषणा के होते हुए भी जीव-ब्रह्म के अभेद की रट लगाते जाना शंकर जैसे तार्किक को शोभा नहीं देता ।

**४. भेदव्यपदेशाच्च ॥१।१।१७॥**

भेद का कथन होने से भी जीव तथा ब्रह्म भिन्न हैं । आनन्दमय ब्रह्म के साथ जीव का तादात्म्य सम्भव नहीं, क्योंकि उपनिषदों में दोनों को एक-दूसरे से भिन्न बताया है । तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि "इस विज्ञानमय से भिन्न और उसके भीतर एक आत्मा आनन्द-मय है ।"[3] यहाँ 'विज्ञानमय' पद से जीवात्मा तथा उससे और उसके भीतर 'आनन्दमय' से परमात्मा अभिप्रेत है । आनन्दमय अधिकरण में कहा है—"वह आनन्दमय है, असीम आनन्द का आश्रय तथा सार है । उस आनन्दरूप ब्रह्म को पाकर ही जीवात्मा आनन्दमय होता है ।"[4] जीवात्मा आनन्द का लब्धा है, ब्रह्म लब्धव्य है । पानेवाला स्वयं अपना प्राप्तव्य नहीं हो सकता ।[5] यदि जीवात्मा ब्रह्म के समान आनन्दमय होता तो उसे आनन्दलाभ करने के लिए किसी अन्य की शरण में जाना क्यों पड़ता ? जीवात्मा और परमात्मा में जो अन्तर है, इस सूत्र के अनुसार उसे काल्पनिक नहीं माना जा सकता । रामानुज ने

---

१. **अस्माल्लोकात्प्रेत्य ... एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति ।—तै० २।८**

२. **इतश्चानन्दमयः पर एव आत्मा । नेतरः । इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः । न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते । कस्मात् ? अनुपपत्तेः ।**
—शां० भा० १।१।१६

३. **तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्यतर आनन्दमयः ।—तै० २।५**

४. **रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।—तै० २।७**

५. **न हि लब्धैव लब्धव्यो भवति ।—शां० भा०**

अपने भाष्य में उक्त सन्दर्भ का निर्देश करते हुए लिखा है कि जीवात्मा और आनन्दमय ब्रह्म का परस्पर भेद सर्वथा वास्तविक है। शंकर ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—"यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं, क्योंकि तैत्ति० उप० के आनन्दमय अधिकार (२-७) में कहा है कि 'ब्रह्म रसमय (आनन्दमय) है। इस रस को पाकर जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।' यहाँ स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म में भेद बताया है।[1]

**५. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१।१।१९॥**

(अस्मिन्) इस आनन्दमय ब्रह्म में (अस्य) इस जीव का (तद्योगं) उससे सम्बन्ध शास्त्र (शास्ति) बताता है।

योग अथवा सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों का ही होता है। जीव व प्रकृति के लिए 'आनन्दमय' शब्द नहीं है। जीव व ब्रह्म का योग होने के उपदेश में उपनिषद् का यह वचन प्रमाण है—"निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, निराधार ब्रह्म में भयरहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह अभयरूप मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जब अज्ञान के कारण जीवात्मा परमात्मा से दूर रहकर उससे भिन्न पदार्थों में चित्त लगाता है तब उसे भय होता है।"[2] ब्रह्म में जीवात्मा के योग का उल्लेख यजुर्वेद में भी उपलब्ध होता है। वहाँ बताया है कि "समस्त भूत, लोक-लोकान्तर, दिशा-प्रदिशाओं की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के अनुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने-आपसे परमात्मा में प्रवेश कर जाता है—उसे प्राप्त कर लेता है।"[3]

इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं—"यहाँ भी आनन्द-मय न प्रधान (प्रकृति) के लिए है, न जीव के लिए, क्योंकि कहा है

---

१. इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति।—शां० भा० १।१।१७

२. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।—तै० २।७

३. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥
—यजु० ३२।११

कि ज्ञानी होने पर जीव का ब्रह्म से योग होता है। आत्मा से योग का अर्थ है—मुक्ति।"[1] यहाँ मुक्ति में अर्थात् परमार्थ में जीवात्मा का परमात्मा से योग कथन किया है, परमात्मा में विलय नहीं। जैसा कि पहले स्पष्ट हो चुका है, योग सदा दो भिन्न वस्तुओं में होता है। इससे स्पष्ट है कि परमार्थ में भी जीव की सत्ता बनी रहती है। यहाँ परमात्मा को आनन्दमय बताते हुए जीव तथा प्रधान (प्रकृति) के लिए उसका निषेध किया है और इस तरह, प्रकारान्तर से, ईश्वर जीव तथा प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है।

**६. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१।१।२०॥**

अन्दर उसके धर्मों का उपदेश होने से।

'अन्तः' पद के प्रसंग में अन्दर कहा गया उपास्यदेव ब्रह्म है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म की विशेषताओं का उपदेश किया गया है। ब्रह्म के अन्तर्-यामी आदि धर्म कथन किये गये हैं। **'य आत्मनि तिष्ठत्...यस्यात्मा शरीरम्'**—जीव के भीतर ब्रह्म के रहने विषयक इस प्रकार के वचन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध भेद में ही घटित होता है, अद्वैत में नहीं। इसलिए परमात्मा के आत्मा के भीतर व्याप्त होने का कथन किये जाने से दोनों का एक-दूसरे से भिन्न होना सिद्ध है।

**७. भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥१।१।२१॥**

भेद-कथन से भी ब्रह्म (जीव व प्रकृति से) भिन्न है। बृहद्० (३।७) में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा है—

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारक, आकाश, तम, तेज, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा और विज्ञान (आत्मा) जिसके शरीर हैं और जो इन सबके भीतर रहता है। भेद का इतना भिन्न है तथा सबका नियन्त्रण करता है, वही ब्रह्म हुआ भी इन सबसे स्पष्ट वर्णन होते हुए ब्रह्म को जगद्रूप कैसे माना जा सकता है? इस भेद-व्यपदेश से ब्रह्म से जीव और जीव से ब्रह्म निश्चय ही अन्य=भिन्न है।

---

१. **इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः तद्भावापत्तिः, मुक्तिरित्यर्थः।**—शां० भा० १।१।१९

**८. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥१।२।३॥**

ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीवात्मा में उपपन्न नहीं होते। इसलिए शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।

सूत्र में 'शारीर' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह ठीक है कि व्युत्पत्त्यर्थ से शरीर में रहनेवाले की 'शारीर' संज्ञा है, शरीर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वास है, परन्तु जहाँ जीवात्मा केवल शरीर में रहता है और शरीर के साथ उसका सम्बन्ध जन्म-मरण-व्यवहार तथा सुख-दुःखादि का प्रयोजक है, वहाँ परमात्मा सर्वान्तिर्यामी एवं सर्वव्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान रहता है और शरीर एवं अन्य वस्तुओं में रहने पर भी जन्म-मरण अथवा प्रादुर्भाव-तिरोभाव से प्रभावित नहीं होता। शरीर द्वारा जो जन्म-मरण के बन्धन में आता है, वास्तव में वही शारीर है, और वह जीवात्मा है। इसलिए यहाँ 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के शरीर एंवं शरीरांगों का जो वर्णन मिलता है, वह मात्र औपचारिक है।

शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में उक्त मान्यता की पुष्टि करते हुए लिखा—"पहले सूत्र में ब्रह्म में विवक्षित गुणों की उपपत्ति बताई। इस सूत्र में कहा है कि वे गुण जीव में नहीं पाये जाते। यदि कोई कहे कि शरीर में तो ब्रह्म भी विद्यमान है, तो यह ठीक है। परन्तु ब्रह्म 'शरीर में है', 'शरीर में ही है' ऐसा नहीं। वह पृथिवी से भी बड़ा है, अन्तरिक्ष से भी बड़ा है।[1] आकाशवत् सर्वव्यापक है, नित्य है। जीव केवल शरीर में है, शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। उसकी वृत्तियाँ अन्यत्र नहीं हैं।"[2] इस प्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक बड़े स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध किया है। यदि अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव बना होता तो उपर्युक्त कथन न बन पाता। उपाधि के

---

१. तुलना करें—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'**
—ऋ० १०।९०।३

२. **पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्।**—शां० भा० १।२।३

कारण वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता। यदि 'शारीर' पद ब्रह्म-वाचक होता तो भी उसके गुण यथावत् उपलब्ध होने चाहिए थे। परन्तु सूत्र में उनका निषेध किया गया है। अतः 'शारीर' पद से जीवात्मा ही अभिप्रेत है जो गुण-कर्म-स्वभाव में अन्यथा होने से ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है।

**६. शब्दविशेषात् ॥१।२।५॥**

शब्दविशेष से भी जीव तथा ब्रह्म में भेद सिद्ध है। शब्दों के साथ विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग भी सार्थक है। छान्दोग्य (३।१४।४) में कहा—**'एष म आत्माऽन्तर्हृदये'** वह परमात्मा (एष आत्मा) मेरे हृदय में (मे हृदये) है। यहाँ जीवात्मा का निर्देश 'मे' इस षष्ठी-विभक्त्यन्त पद से किया है, जबकि परमात्मा का 'एष आत्मा' इन प्रथमाविभक्त्यन्त पदों से किया है। इससे जीवात्मा का परमात्मा से भेद स्पष्ट है। इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर ने लिखा—"शतपथ ब्राह्मण में आया है कि यह हिरण्मय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है। यहाँ सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त **'अन्तरात्मन्'** शब्द जीव के लिए है और प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त शब्द **'अयं पुरुषो हिरण्मयः'** ब्रह्म के लिए है। इससे दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।"[1]

'अन्तरात्मन्'—**सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'** (अष्टा० ७।१।३९) इत्यादि पाणिनीय नियम से विभक्ति का लुक् हो गया है। सूत्र **'न ङिसंबुद्ध्योः'** (८।२।८) के अनुसार पदान्त में 'न' का लोप नहीं होता। इस प्रकार शब्दभेद भी जीव तथा ब्रह्म की भिन्नता में प्रमाण है।

**१०. सम्भोगप्राप्तिरिति वैशेष्यात् ॥१।२।८॥**

सर्वगत होने से ब्रह्म हृदय-प्रदेश में भी रहता है। वहीं पर जीवात्मा का वास है। वहाँ रहता हुआ जीवात्मा सुख-दुःखादि भोग को प्राप्त करता है, परन्तु ब्रह्म को वह भोग प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि इन दोनों में परस्पर अत्यधिक भेद है। जीवात्मा कर्त्ता-भोक्ता है—धर्म-अधर्मरूप कर्मों को करता और उनके सुख-दुःखरूप

---

१. **अयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः (शत० १०।६।३।२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तर आत्मनोऽभिधायकः। तस्मात् तयोर्भेदोऽधिगम्यते।**
—**शां० भा० १।२।५**

फलों को भोगता है। इसके विपरीत ब्रह्म पूर्णकाम तथा अपहतपाप्मा होने से समस्त क्लेश, कर्म और उनके परिणामों से सर्वथा अछूता रहता है।

शंकर ने इस सूत्र की व्याख्या पहले तो सूत्रकार के आशय के अनुकूल की, पर जैसे ही उन्हें अपने अद्वैतवाद की याद आई और उक्त व्याख्या अपने मन्तव्य के प्रतिकूल जान पड़ी, वैसे ही उन्होंने पैंतरा बदला और कह दिया कि "जीवात्मा को भोग मिथ्याज्ञान के कारण होता है, और ब्रह्म के मिथ्याज्ञान से अभिभूत न होने के कारण उसका भोग से संस्पर्श नहीं होता।"[1] परन्तु यदि सूत्रकार का यह अभिमत होता तो वह 'वैशेष्यात्' के स्थान पर 'मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्' लिख सकता था। जब उनसे कहा गया कि यदि एकमात्र ब्रह्म ही चेतन सत्ता है, तो तथाकथित जीवचेतन का भोग वास्तव में ब्रह्म का ही भोग होगा। इसपर उन्होंने झुंझलाकर आपत्तिकर्त्ता से पूछा—'तुम कैसे कहते हो कि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतन सत्ता नहीं है?" इसे कहते हैं 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।' आपत्तिकर्त्ता तो ब्रह्म से भिन्न जीवचेतन की सत्ता मानता है। स्वयं शंकर ही नहीं मानते। जीव के भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना हुई है, अतः उसकी भोगप्राप्ति वास्तविक ही नहीं, स्वाभाविक है। ब्रह्म को आप्तकाम होने से किसी प्रकार के भोग की अपेक्षा नहीं।

**११. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥१।२।११॥**

यह सूत्र कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली के प्रारम्भिक सन्दर्भ की ओर संकेत करता है। वहाँ लिखा है कि "गुहा—हृदय-प्रदेश में दो आत्मा प्रविष्ट हैं।"[2] निश्चित रूप से उनका दर्शन वहाँ होता है। द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से जीवात्मा और परमात्मा अभिप्रेत हैं। शास्त्रों में अनेकत्र जीव तथा ब्रह्म के गुहा=हृदयदेश में रहने का उल्लेख मिलता है।[3] **'स वा एष आत्मा हृदि'** (छां० ८।३।३), **'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'** (बृ० ४।३।७) इत्यादि प्रमाणों से जीवात्मा का तथा **'ईश्वरः सर्व-**

---

१. **मिथ्याज्ञाननिमित्तः शरीरस्योपभोगः न तेन परमार्थस्वरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः** —शां० भा० १।२।८

२. **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥**—कठ० ३।१

३. कठ० २।१२, २।२०; छां० ८।३३; श्वेत० ३।२०; मु० २।१।१०, ३।१।७; तै० २।१; यजु० ३२।८; अथर्व० १०।८।४३

भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता १८।६१) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का हृदयदेश में विद्यमान होना प्रसिद्ध है। दर्शन की क्रिया तभी सम्भव है जब द्रष्टा एवं दृश्य एकत्र हों। ब्रह्म सर्वव्यापी है, किन्तु जीव एकदेशी है। केवल हृदयदेश ही एकमात्र ऐसा स्थान है जहाँ दोनों विद्यमान हैं। इसलिए ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उसका साक्षात्कार हृदयदेशरूपी गुहा से अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं। इस सूत्र में द्विवचनान्त 'आत्मा' पद से जीव तथा ब्रह्म का द्वैत अथवा परस्पर भेद स्पष्ट है। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते। राधाकृष्णन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का भेद कथन करना ठीक ही है, क्योंकि ये दोनों एक नहीं हैं।[1]

१२. **विशेषणाच्च ॥१।२।१२॥**

विशेषण=भेद करने से भी जीव=ब्रह्म का द्वैत उपपन्न होता है। उपनिषद् के पूर्वोल्लिखित प्रसंग में दिये गये विशेषणों—भेदक पदों से भी यह निश्चय होता है कि जीवात्मा और परमात्मा परस्पर भिन्न हैं। इस सूत्र की व्याख्या शंकर ने इस प्रकार की है—

"भेद तो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बताया है। इस रूपक से विदित होता है कि यहाँ तात्पर्य 'विज्ञानात्मा' अर्थात् जीव से है जो संसाररूपी यात्रा मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर रहा है। उसी उपनिषद् में कहा है कि "वह मार्ग के पार जाकर विष्णु के परम पद को पाता है", यहाँ परमात्मा से तात्पर्य है। कठोपनिषद् में इससे पहले कहा गया था कि "धीर पुरुष अध्यात्म-योग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुए देव को जानकर हर्ष और शोक के द्वन्द्वों से छूट जाता है।" यहाँ जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है। यहाँ परमात्मा का प्रकरण है, क्योंकि कहा है "ब्रह्म को जाननेवाले कहते हैं।" यहाँ स्पष्ट है कि कहने का विषय परमात्मा ही है। इसलिए यहाँ जीव और ब्रह्म दोनों ही समझने चाहिएँ। मुण्डकोपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्र में भी यही बात है। यहाँ सचमुच के पक्षियों का वर्णन नहीं है। "एक इनमें से पिप्पली को खाता है"—इससे विज्ञानात्मा (जीव) अभिप्रेत है। "दूसरा न खाता हुआ देखभाल

१. The individual soul and the Supreme-self are correctly described as being disparate. They are not the same.
—Radhakrishnan : Brahmasutra 1.2.11

करता है"—यहाँ 'न खाना' और 'चेतनत्व' दोनों से परमात्मा अभिप्रेत है। मुण्डक का ही एक और मन्त्र है जिसमें कहा है—"एक ही वृक्ष पर एक पुरुष परवश होता हुआ शोक करता है। परन्तु जब उसी वृक्ष पर दूसरे स्वामी को देखता है तो शोक से छूट जाता है।" यहाँ भी दोनों का भेद स्पष्ट है।"[1]

उक्त सन्दर्भ में शंकर ने दो शब्दों का प्रयोग किया है—एक विज्ञानात्मा और दूसरा परमात्मा। निश्चय ही 'विज्ञानात्मा' जीव के लिए है। एक स्थान पर स्पष्ट लिख भी दिया है—"जीवपरमात्मानौ।" शंकर ने यहाँ युक्ति तथा प्रमाणों की कितनी सुन्दर तथा प्रबल शृङ्खला द्वारा द्वैत की पुष्टि की है। सच तो यह है कि इस सबको पढ़ने के पश्चात् शंकराचार्य के द्वैतवादी होने में तनिक भी शंका नहीं रह जाती। इसके होते हुए द्वैत के खण्डन में शंकर का कुछ भी कहना 'वदतोव्याघात' का अश्रुतपूर्व उदाहरण होगा। यहाँ 'विज्ञानात्मा' में 'विज्ञान'-पद ज्ञान का बोधक है, अविद्या या भ्रम का नहीं। अपने ईश को विज्ञानात्मा ही देख सकता है, अविद्याग्रसित जीव नहीं। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ इस (द्वा सुपर्णा···ऋ०१।१६४।२०) मन्त्र का उल्लेख हुआ है, उसके आगे के सन्दर्भों (मुण्डक० ३।१।२, श्वेत० ४।७) में द्रष्टा तथा द्रष्टव्य-भाव से यथाक्रम जीवात्मा-परमात्मा का विशिष्ट रूप से वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसा वर्णन उस अर्थ को पुष्ट करता है जिसे 'ऋतं

---

१. विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (कठ० ३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ०३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम्। तथा "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (कठ० २।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्डक० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद् विज्ञानात्मा भवति 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।" मुण्डक० (३।१।२) इति।

पिबन्तौ' के विषय में प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् के किसी भी सन्दर्भ में यह नहीं लिखा कि अविद्यावश ब्रह्म ही अपने को जीवरूप मानकर भोक्ता बन जाता है।

**१३. शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ॥१।२।२०॥**

देही जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों (काण्व व माध्यन्दिन) शाखावालों ने जीवात्मा का उल्लेख ब्रह्म से भिन्न मानकर किया है और ब्रह्म को स्पष्ट रूप से जीवात्मा में अन्तर्यामी बताया है। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण तथा उसी के चर्तुदश काण्ड पर आधारित बृहदारण्यक उपनिषद् (३।७।२२) में कहा है—

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो य विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

यहाँ 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर जीवात्मा के लिए हुआ है। स्पष्ट ही यहाँ अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से जीवात्मा को भिन्न बताया है और दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्थिर किया है। माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४।६।७) के इस प्रसंग में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करके कहा है—"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद···।" अर्थात् जो आत्मा में स्थित हुआ आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार दोनों शाखावालों के उक्त प्रकार-भेद-सहित कहने से शारीर जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता।

**१४. विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ॥१।२।२२॥**

विशेषण और भेदपूर्वक कथन से भी दूसरे दोनों—जीवात्मा तथा प्रकृति ब्रह्म नहीं हैं। 'अक्षर' पद से ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों का ग्रहण होता है। किन्तु मुण्डक उपनिषद् (१।१।६) में निर्दिष्ट अदृश्य आदि तथा २।१।२ में निर्दिष्ट दिव्य, अमूर्त्त, अज, अप्राण, अमना, शुभ्र आदि विशेषण न जीवात्मा के हो सकते हैं और न प्रकृति के, अतः प्रकृति तथा जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करनेवाले हेतुओं से ब्रह्म निश्चय ही प्रकृति और जीवों से भिन्न है।

**१५. भेदव्यपदेशात् ॥१।३।५॥**

**'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'** (मु० २।२।५) इस वाक्य में ब्रह्म को

जानने के लिए निर्देश है। ब्रह्म सबके लिए ज्ञातव्य है। वह एक—अद्वितीय आत्मा परमात्मा है जिसे ज्ञेय कहा गया है। जीवात्मा जाननेवाला है, इसलिए ज्ञाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद स्पष्ट है। शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं—"भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ, आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन—" अर्थात् भेद का उल्लेख है। 'उसी एक आत्मा को जानो'—यहाँ ज्ञेय और ज्ञाता ये दो अलग-अलग बताये हैं।

**१६. पत्यादिशब्देभ्यः ॥१।३।४३॥**

शास्त्रों में ब्रह्म के लिए अनेकत्र 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होने से जीव-ब्रह्म के भेद का निश्चय होता है। यदि ब्रह्म तथा जीव में अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीवात्मा के लिए भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणों का प्रयोग होता। ऐसा प्रयोग कहीं न देखे जाने से स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद है।

**१७. अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२।१।२॥**

भेद का निर्देश किये जाने से जीवात्मा से ब्रह्म अधिक (पृथक् अथवा महान्) है।

श्वेत० (१।६) में कहा है—"**पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति**" अर्थात् जीवात्मा अपने-आपको और प्रेरिता परमेश्वर को पृथक् समझकर उसका साक्षात्कार कर उसके सम्पर्क में आता और मोक्ष को प्राप्त करता है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर स्वीकार करते हैं—"यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्' अर्थात् जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है, वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव होने से जीव से अधिक अर्थात् अन्य है। जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक है, आपातिक नहीं।

**त्रिवादप्रतिपादकान्युपनिषद्वचनानि ॥२॥**

उपनिषदों के वचन त्रिवाद के प्रतिपादक हैं।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय एकत्व या द्वित्व नहीं है, किन्तु प्रतिपाद्य न होते हुए भी वह उसका आधार अवश्य है। जब हम यह कहते हैं कि 'जैसे भौतिकवादी प्रकृति और शरीर को यथार्थ समझता है वैसे ही उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है तो

हम प्रकारान्तर से ब्रह्म, प्रकृति तथा यथार्थ को जाननेंवाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा मानने पर ही उपनिषद् की सार्थकता है। संसार यदि 'श्वोभाव' है—टिकनेवाला नहीं है तो कुछ टिकनेवाला भी अवश्य है। तभी तो 'श्वोभाव' से विमुख होकर नित्य की ओर उन्मुख होने को कहा जाता है, और यह विधि-निषेधात्मक वाक्य जिसे कहे जाते हैं, वह निश्चय ही नित्य ब्रह्म तथा नित्य, किन्तु परिणामी, जड़ प्रकृति दोनों से भिन्न तीसरी चेतन सत्ता है। एकत्व की स्वीकृति के साथ ही उपनिषद् की सारी शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। त्रैत की सिद्धि करना उपनिषद् का प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि वे उसे पहले से सिद्ध मानकर चलती हैं, तथापि उपनिषद् के ऋषि यत्र-तत्र-अनेकत्र त्रिवाद का संकेत करते चलते हैं।

उपनिषदों की अपनी एक विशिष्ट शैली है। यदि हम उसकी वास्तविकता को दृष्टि से ओझल कर दें तो उनमें अन्तर्हित सचाई को न पाकर भटक जाएँगे। उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की अभेद-भावना के संकेत अनेकत्र उपलब्ध हैं। परन्तु वे लौकिक प्रयोगों की भाँति ब्रह्म की अतिशय महत्ता को अथवा ब्रह्मानन्द में लीन जीवात्मा के भावातिरेक को प्रकट करते हैं। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लहर में औपचारिकरूप से कथित वाक्यों को याथातथ्य ग्रहण कर ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को मानकर ही मध्यकालीन आचार्यों ने अद्वैतवाद का विशाल भवन खड़ा किया है, किन्तु ज्यों ही उन शब्दों के भीतर छिपी आत्मा का दर्शन होता है, त्यों ही वह सारा भवन धराशायी हो जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ उनमें से कतिपय सन्दर्भों को प्रस्तुत कर उनपर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

**१. ईशावास्यमिद ँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** ॥ ईश—१

सृष्टि में चराचर जितने पदार्थ हैं वे सब ईश्वर द्वारा आच्छादित अथवा व्याप्त हैं। इसलिए त्यागपूर्वक उनका उपभोग करो। लालच मत करो। यह धन किसका है ?

यहाँ व्यापक रूप में ईश्वर का और व्याप्य रूप में जगत् का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही 'त्यक्तेन भुंजीथाः' तथा 'मा गृधः' के रूप में जिसके लिए विधि-निषेध का निर्देश किया गया है, जगत् के भोक्ता के रूप में उस जीव का भी स्पष्ट उल्लेख है। न व्याप्य-व्यापक एक हो

सकते हैं, न भोग्य और भोक्ता। इस प्रकार इस मन्त्र में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है।

भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी उपनिषद् वस्तुतः ईशोपनिषद् का विस्तार हैं, अतः उनमें भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उदाहरणत—

२. **द्वा सुपर्णा[1] सयुजा सखाया समानं वृक्षं[2] परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**

मु० ३।१।१, श्वेत० ४।६

मुण्डकोपनिषद् में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य "सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यौ आत्मेश्वरौ" लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार करते हैं। आगे कहते हैं—"तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम्।"

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। 'आत्मेश्वरौ' इस समस्त पद में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का स्पष्ट निषेध है। शंकराचार्य द्वारा यत्र-तत्र प्रयुक्त 'लिंगोपाधि' 'मायोपाधि' आदि शब्दों का न मन्त्र में और न उसके भाष्य में संकेत तक नहीं है।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द इस (वेद) मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं—"द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ···तयोर्मध्ये एकः जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि

---

१. **पुरुषः सुपर्णः—शत० ७।४।२।५; सुपर्णा जीवाः—आत्मानन्द**
**सुपर्णाः शोभनकर्माणो जीवाः—दयानन्द**
**द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।**
**तयोर्जीवः फलं भुंक्ते कर्मणो न महेश्वरः॥—अन्नपूर्णोपनिषद्**

२. The tree on which they rest is the body or the world.
—Griffith

**प्रकृतिविकारे जगद्वृक्षे**

कर्मफलं स्वादु कृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते।"

जीवेश्वर—प्रकृतिभेदप्रतिपादक इस मन्त्र में वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीव का और केवल द्रष्टा के रूप में ईश्वर का कथन करके जीव से ईश्वर का, ईश्वर से जीव का तथा इन दोनों से प्रकृति का भिन्न होना प्रतिपादित है।

**३. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।**
**जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥**

—मुण्डक ३।१।१२

अर्थात् अनादि नित्य जीव वृक्षरूपी प्रकृति के भोग में निमग्न हो शोक करने लगता है, किन्तु जब वह उसी वृक्ष पर निर्लिप्त भाव से बैठे अपने से भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तो शोकरहित हो जाता है।

यदि जीव वास्तव में ब्रह्म का ही रूप होता तो ब्रह्म के निर्विकार तथा आनन्दस्वरूप होने से वह किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान, दुःख आदि से ग्रस्त न होता। मन्त्र में 'मुह्यमानः पुरुषः' तथा 'अन्यमीशम्' पदों के रहते नवीन वेदान्तियों का जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खींचातानी है। वृक्ष के रूप में जड़ प्रकृति का उल्लेख भी सर्वथा स्पष्ट है।

**४. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।**
**अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥**

—श्वेत० ४।५

लाल, सफ़ेद और काले रंग की एक 'अजा' है जो अपने ही रूप-रंगवाली अनेक अजाओं का सर्जन कर रही है। एक 'अज' है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका उपभोग करता है। एक दूसरा 'अज' है जो उस भुक्तभोगा 'अजा' को छोड़ देता है, अर्थात् उसका भोग नहीं करता। 'अज' का अर्थ है अ+ज—जो पैदा न हो, अजन्मा, अनादि एवं नित्य हो। तीन 'अज' अर्थात् अनादि हैं—एक भोग्य (१)—सत्त्व (शुक्ल)—रजस् (लोहित)—तमस् (कृष्ण) रूपी प्रकृति; दूसरा उसके भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगनेवाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं

रमता। ऋग्वेद (१-१६४-२०) के समान ही उपनिषद् के इस सन्दर्भ में ईश्वर, जीव और प्रकृति की भिन्नता का स्पष्ट वर्णन है।

शंकर का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख न होने से यहाँ 'अजा' पद प्रकृति का नहीं अपितु बकरी का वाचक है। किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी की कोई प्रासंगिकता नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर 'भुक्तभोगा' 'अनुशेते' 'जहात्येनाम्' और दो अजों के वाचक 'अज' आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ विशेषण-पद भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते और (प्रकृति से भिन्न) कुछ अर्थ नहीं हो सकता।[1]

५. **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।**
—कठ० ५।१३

यहाँ बहुवचनान्त 'नित्यानां' पद से स्पष्ट है कि नित्य पदार्थ कम-से-कम तीन अवश्य हैं। ये ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं। तीनों के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के बन्धन में होने के कारण परमात्मा को 'नित्यो नित्यानाम्'—नित्यों में नित्य कहा गया है। 'चेतनानाम्' पद के बहुवचनान्त होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चेतन तत्त्व भी अनेक हैं जिनमें एक परमात्मा है। इससे परमात्मा का जीवात्मा से भिन्न होना तथा जीवात्माओं का अनेक होना भी स्पष्ट है।

६. **दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥**—मुण्डक २।१।२

इस मन्त्र का अन्तिम वाक्य है—'अक्षरात् परतः परः'। इस वाक्य

---

१. **न जायते इत्यजा मूलप्रकृतिरूपा माया।**
—सायण-तैत्ति० आर० भाष्य १०।१०

It would be quite wrong to imagine that Ajaa (अजा) and Aja (अज) are meant here for the she goat and he goat. These words, in the sense of unborn, are recognised as early as the hymns of the Rigveda and they occured in our Upanishad (Sveta. 1-9; 4-5) where the two Ajas are mentioned in the same sense here.

—Max Muller : Sacred Books of the East, Vol. XV, P. II, P. 250

का शब्दार्थ है—'अक्षर' से 'पर' और 'उस पर' से भी 'पर'। यहाँ 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है। 'अक्षर' का प्रकृतिवाचक होना पहले सन्दर्भ (२।१।१) में स्पष्ट है। वहाँ 'सरूपाः' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। उस सन्दर्भ में 'अक्षर' का अर्थ ब्रह्म करने पर उसके कार्य-जगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता माननी होगी जो यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानरूपता स्पष्ट है। प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त्त, शुभ्र आदि बताते हुए उसे 'अक्षरात्परतः परः' कहा है जिसका तात्पर्य है—अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे भी पर ब्रह्म है जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार यहाँ प्रकृति, प्रकृति से पर एवं भिन्न जीवात्मा और उससे भी पर=उत्कृष्ट अथवा भिन्न परमात्मा तीनों का स्पष्ट उल्लेख है।

७. **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।**
—श्वेत० १।१२

यहाँ जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है तथा ईश्वर 'प्रेरक' है। भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरक—यह त्रिविध ब्रह्म है अर्थात् महानता के ये तीन रूप हैं।

८. **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥**
—कठ० ३।१

९. **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।**
**पुरुषान्नपरः किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥** —कठ० ३।११

प्रथम सन्दर्भ में द्विवचनान्त पदों से जिन दो का वर्णन है वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। दोनों ऋत का पान करनेवाले हैं। 'ऋत' का अर्थ है सत्य अथवा नियत व्यवस्था। जीवात्मा व्यवस्थापूर्वक कृत-कर्मों का फल भोगता और आगे कर्मानुष्ठान में लगा रहता है—यह उसका ऋतपान है। परमात्मा अपनी व्यवस्था के अनुसार विश्व की उत्पत्ति, पालन, लय आदि में संलग्न रहता है—यह परमात्मा का ऋतपान है। जीवात्मा का कार्यक्षेत्र देहमात्र है और ब्रह्म का समस्त विश्व। छाया और घाम अर्थात् अन्धकार और प्रकाश के समान एक अल्पज्ञ तथा दूसरा सर्वज्ञ है। दोनों हृदयदेश (उपनिषदों में अध्यात्म-प्रकरणों में 'गुहा' पद सर्वत्र हृदयप्रदेश के लिए प्रयुक्त हुआ है) में

प्रविष्ट हैं। उपर्युक्त दूसरे सन्दर्भ के अनुसार ब्रह्माण्ड के दो रूप हैं— एक दृश्य जिसे महत्, व्यक्त अथवा विकृति कहते हैं; दूसरा अदृश्य अर्थात् जो दृश्य से पहले था, जिसमें सत्त्व, रज, तम साम्यावस्था में थे और जिसे अव्यक्त अथवा प्रकृति कहते हैं। बाह्य जगत् के 'महत्' अर्थात् व्यक्त प्रकृति की अपेक्षा अव्यक्त प्रकृति परे है और इस अव्यक्त प्रकृति से परे पुरुष अर्थात् परमात्मा है। परमात्मा से परे कुछ नहीं है। इस प्रकार इन दोनों सन्दर्भों में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के एक-दूसरे से पृथक् होने का स्पष्ट वर्णन है। प्रकारान्तर से यहाँ यह भी कह दिया है कि व्यक्त जगत् अव्यक्त का परिणाम है। ब्रह्म तो सदा व्यक्त है—उसका आविर्भाव या तिरोभाव सम्भव नहीं। इसलिए जिसे अव्यक्त कहा गया है, वह प्रकृति ही है जो व्यक्त जगत् का उपादानकारण है।

वास्तव में कठोपनिषद् के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक जिज्ञासु नचिकेता के रूप में जीवात्मा है, दूसरा यह भोगरूप जगत् है जिसका प्रलोभन देकर यमाचार्य नचिकेता को उसके जिज्ञास्य से विमुख करना चाहता है और जिसे नचिकेता 'श्वोभाव' कहकर ठुकरा देता है और तीसरा ब्रह्म है जिसे जानने के लिए नचिकेता यमाचार्य के पास आया है।

१०. **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय पुरुषो। यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत** ॥—छां० ३।१४।१

इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या प्रथम अध्याय के अन्त में की जा चुकी है।

**श्रुतयश्च** ॥३॥

और, वेद भी त्रिवाद के पोषक हैं।

समस्त वैदिक साहित्य का उपजीव्य वेद हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सभी उपनिषद् वस्तुतः ईशोपनिषद् का विस्तार हैं। ईशोपनिषद् के यजुर्वेद (काण्व शाखा) का चालीसवाँ अध्याय होने से उपनिषदों की शिक्षा वेदमूलक है। उपनिषद् तर्क के नहीं, अनुभूति अथवा साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। उपनिषत्कार दार्शनिक दृष्टि से नहीं, अनुभूति के सहारे सत्य को पाने का यत्न करते हैं। दर्शनशास्त्र उस सत्य को तर्क-प्रतिष्ठित कर सर्वग्राह्य बनाने का प्रयास करते हैं, परन्तु

उन सभी का वेदमूलक होना अनिवार्य है। अतएव ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के अनादित्व का आदिमूल भी वेद है। इसकी पुष्टि करने के लिए उदाहरणरूप में यहाँ कतिपय वेदमन्त्र प्रस्तुत हैं।

१ **ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥** —यजु० ४०।१

२. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**
—ऋ० १।१६४।२०

इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या उपनिषद्वचनों के अन्तर्गत की जा चुकी है।

३. **त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।**
**विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥**
—ऋ० १।१६४।४४

(त्रयः) तीन (केशिनः) प्रकाशमय पदार्थ[1] (ऋतुथा) नियमानुसार (विचक्षते) विविध कार्य कर रहे हैं। (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) वास योग्य संसार में अथवा सृष्टिकाल में (वपते) बीज डालता है। (एकः) एक (शचीभिः) शक्तियों से, कर्म से, बुद्धि से (विश्वं) विश्व को (अभिचष्टे) दोनों ओर से देखता है। (एकस्य) एक का (ध्राजिः) वेग तो (ददृशे) दीखता है, किन्तु (रूपं) रूप (न) नहीं दीखता।

यहाँ जीवों को फल देने के लिए प्रकृति में बीज डालने या कार्यरूप देनेवाले के रूप में ईश्वर का, भले-बुरे दोनों प्रकार के फलों को भोगनेवाले के रूप में जीव का तथा कार्यरूप में दीखने पर भी सूक्ष्म होने से कारणरूप में न दीखनेवाली प्रकृति का वर्णन किया गया है।

४. **अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।**
**तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥**
—ऋ० १।१६४।१

(तस्य) उस प्रभु का (मध्यमो भ्राता) गुणों में मध्यम भाई (अश्नः) खानेवाला—भोक्ता जीव है। (तृतीयः भ्राता) तीसरा भाई

---

१. केशी काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा।—निरुक्त १२।२६

(घृतपृष्ठः) घृत—भोग्य पदार्थों (घृत भोग का उपलक्षण है) का पृष्ठ—आधारभूत प्रकृति है। इस प्रकृति=प्रधान के सात पुत्र हैं—महत्तत्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्र। इनका विस्तार सांख्यदर्शन में उपलब्ध है।

परमेश्वर में अनन्त गुण हैं, अतएव गुणापेक्षया वह सबसे बड़ा है। प्रकृति में विकार आता है, जीव भी बद्ध-मुक्त दशा को प्राप्त होता है, किन्तु परमेश्वर सदा निर्विकार—एकरस रहता है। जीव और प्रकृति-रूप बदलते रहते हैं। रूपान्तर के कारण नित नई अवस्था में दीखने से वे मानो कालापेक्षया परमेश्वर से छोटे हैं। प्रकृति सर्वथा अज्ञ है, जबकि परमेश्वर सर्वज्ञ है। जीव न प्रकृति के समान अज्ञ है और न परमेश्वर के समान सर्वज्ञ, वरन् अल्पज्ञ है। अतएव मध्यवर्त्ती होने के कारण जीव मँझला है। प्रकृति अज्ञ तथा चेतन के अधीन भोगरूप होने से सबसे छोटी है।

**५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**
**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**

—यजु० ३१।१८

इस मन्त्र में एक आदित्यवर्ण महान् पुरुष का वर्णन है जो तम से परे—दूर अथवा भिन्न है। दूसरा उसे जाननेवाला और जानकर मोक्ष पानेवाला जीव है। इस ज्ञाता जीव का ज्ञेय उससे भिन्न प्रकाशस्वरूप ब्रह्म है। यह ब्रह्म तमस्=प्रकृति से परे है। वैदिक साहित्य में 'तमस्' प्रकृति का पर्याय है।

**६. स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।**

—यजु० ४०।८

परमेश्वर ने अपनी सनातन प्रजाओं (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) के लिए यथार्थ पदार्थों को बनाया। इस प्रकार यहाँ प्रजाओं के रूप में परमेश्वर से भिन्न तथा अनेक जीवों का, उनके भोग्य पदार्थों के रूप में प्रकृति का तथा उन पदार्थों को बनानेवाले के रूप में परमात्मा का उल्लेख है। जगत् के मिथ्या न होकर यथार्थ (याथातथ्यतः) होने का भी स्पष्ट निर्देश है।

**७. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।**
**ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥**—अथर्व० १०।८।२५

(एकम्) जीवात्मा (बालादणीयस्कम्) बाल से भी अतिसूक्ष्म है।[1] (उत) और (एकम्) एक प्रकृति मानो (नैव दृश्यते) दीखती ही नहीं। (ततः) उससे भी (परिष्वजीयसी) सूक्ष्म तथा व्यापक जो देवता है, वही मुझे प्रिय है।

प्रकृति-परमाणु अति सूक्ष्म हैं, जीवात्मा भी सूक्ष्म है, उनसे भी सूक्ष्म परमात्मा है। इस प्रकार इस मन्त्र में तीनों अनादि तत्त्वों का निर्देश उपलब्ध है।

८. **पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।**
**तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥**

—अथर्व० १०।८।४३

इस मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद मानवदेह के लिए प्रयुक्त है। लोक तथा साहित्य में इस पद का अर्थ कमल या पुष्पमात्र प्रसिद्ध है। पुष्प को मानवदेह का प्रतीक या उपमान बताकर उसको सुन्दर तथा आकर्षक कहने के साथ-साथ उसकी नश्वरता की ओर भी संकेत कर दिया है। तात्पर्य यह है कि देह की आकर्षकता में मनुष्य को अपने स्वरूप को नहीं भूल जाना चाहिए। भ्रमर के समान उसके रस का भोग करना तो ठीक है, किन्तु उसमें लीन नहीं हो जाना चाहिए। देह की विशेषता को बतलाता है—'नवद्वारं[2]' पद। ये नौ द्वार हैं—दो आँख, दो कान, दो नासाछिद्र, एक मुख तथा दो अधोद्वार गुदा व उपस्थ। देह को 'त्रिभिर्गुणैरावृतम्' तीन गुणों से आवृत बताया है, अर्थात् देह सत्त्व-रजस्-तमस् का परिणाम है। देह में इसका अधिष्ठाता—चेतन आत्मा निवास करता है। इस जीव-चेतन के अतिरिक्त एक और 'यक्ष' इस देह में व्याप्त है। यह 'यक्ष' परमात्म-चेतन है[3] जिसे ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं।

देह-पर्याय पुण्डरीक पद कार्यमात्र का उपलक्षण है, अर्थात् यह समस्त व्यक्त जगत् सत्त्व-रजस्-तमस्‌रूप प्रकृति का परिणाम है। फलतः देह-प्रतीक में आत्मा (जीव-चेतन) के समान अखिल ब्रह्माण्ड में यह यक्ष (परमात्म-चेतन) व्याप्त है—यह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस मन्त्र में जगत् के मूल उपादान त्रिगुण के रूप में प्रकृति का,

---

१. **बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः।**—श्वेत० ५।६
२. **अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**—अथर्व० १०।२।३१
**नवद्वारे पुरे देही हंसो लोलायते बहिः।**—श्वेता० ३।१८
३. अथर्व० १०।८।१५

उसके भोक्तारूप में जीवात्मा का तथा सबके नियन्ता के रूप में परमात्मा का स्पष्ट वर्णन है।

९. **विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।**
**स बाहुभ्यां धमति पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥**
—ऋ० १०।८१।४

ऋचा के पूर्वार्द्ध में परमात्मा के विश्वरूप का दिग्दर्शन है। उसी को जगत् का जनयिता एक देव पृथक् बताया है तथा जगत् के उपादान कारणरूप में साधन-सामग्री का संकेत 'पतत्र' पद से किया है। यह उपादान रचयिता से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। इससे जगत्सर्ग के विषय में यह वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट-हो जाता है कि जगत् का कर्त्ता चेतन परमात्मा पृथक् है और यह जड़ जगत् जिन साधन-तत्त्वों से इस रूप में परिणत होता है, वे कर्त्ता से पृथक् हैं।

१०. **ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।**
**आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥**
—अथर्व० १०।८।१७

जो विद्वान् इस समय, बीच में अथवा पूर्वकाल में पुरातन वेद के जाननेवाले का सब ओर वर्णन करते हैं, वे सब मानो (आदित्यमेव) अखण्डनीय एकरस प्रभु की तथा (द्वितीयं) दूसरे (अग्निम्) ज्ञान-स्वरूप जीव की (च) और (त्रिवृतं) त्रिगुणात्मक (हंसम्) प्रधान=प्रकृति की (परिवदन्ति) पूर्णतया स्तुति करते हैं[1]।

११. **उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।**
**देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥**—ऋ० १।५०।१०

(वयं) हम (तमसस्परि) अन्धकार=प्रकृति से (उत) ऊपर उठकर (उत्तरं ज्योतिः) अधिक उच्च प्रकाश=जीवात्मा को (पश्यन्तः) देखते हुए (देवत्रा देवम्) देवों में देव उस (उत्तमं ज्योतिः सूर्यम्[2]) उत्तम प्रकाशपूर्ण सूर्य—प्रेरक परमेश्वर को (अगन्म) प्राप्त करें।

अन्धकारमय प्राकृतिक अवस्था से ऊपर उठकर, आत्मिक प्रकाश का अनुभव करते हुए परमात्मा की प्राप्ति करें—आत्मोन्नति के इस क्रम का निर्देश करते हुए यहाँ प्रकारान्तर से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों के अस्तित्व का उल्लेख हुआ है।

१. आदित्यः (ईश्वर) अग्निः (ज्ञानमयो जीवः) त्रिवृतो हंसः (गतिशीलं प्रधानम्)
२. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।—गीता १३।१३

१२. यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥
—अथर्व० ४।३५।१

सत्य के प्रथम प्रवर्त्तक प्रजापति ने अपने तप=तेज=ज्ञान से (यमोदनं) जिस प्रकृतिरूप ओदन को (ब्रह्मणे) जीव के लिए (अपचत्) पकाया=कार्य में परिणत किया और जो (लोकानां विधृतिः) लोकों का विशेष धारणकर्त्ता और जो सबका (नाभिः) केन्द्र है। उसके (तेन ओदनेन) उस प्रकृति के ज्ञान से (मृत्युमतितराणि) मृत्यु के पार हो जाऊँ।[1]

१३. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥
—ऋ० १।१६४।२२

प्रकृति के जगद्रूपी वृक्ष पर जो मीठे फल लगते हैं उनको जीवात्मा (सुपर्णाः) खाते हैं और इसी वृक्ष पर रहकर सन्तान उत्पन्न करते हैं। इन सबका पिता परमात्मा है। जो उसे जानते हैं वे बन्धन से छूट जाते हैं। परन्तु जो नहीं जानते वे उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को प्राप्त नहीं करते।

१४. शयुः परस्तादध नु द्विमाताबन्धनश्चरति वत्स एकः।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥
—ऋ० ३।५५।६

इस मन्त्र में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—'द्विमाता वत्स एकः'। यहाँ 'वत्स' पद जीव का वाचक है। ब्रह्म और प्रकृति उसकी दो माताएँ हैं[2] जो उसे धारण करती और उसका पालन-पोषण करती हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में भी ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनों का काव्यात्मक शैली में वर्णन है।

□□

---

१. ब्रह्मणे जीवात्मने। ओदनं जगत्, पक्ता प्रजापतिः, भोक्ता जीवः।
२. द्विमातृतया परमात्मप्रकृत्योर्निर्देशः तद्भिन्नो वत्सो जीव इति मतम्। परमात्मपक्षे—त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। ऋ० ८।९८।११; त्वं माता सुषितम्। ऋ० १०।२७।१६ प्रकृतिपक्षे—माता प्रकृत्याख्या—सायणः; माता प्रकृतिः इत्युद्गीथः। "अन्या वत्सं भरति क्षेति माता" (ऋ० ३।५५।४) इत्यस्मिन्मन्त्रे अन्या ब्रह्मणो भिन्ना प्रकृतिः। 'अन्या भिन्ना त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः'—दयानन्दः।

# उद्धृत सन्दर्भ-सूची

□

# विषय-निर्देशिका

**भ**



**म**

# ग्रन्थ-संकेत

| | |
|---|---|
| अ. त. द. | अनादि तत्त्व दर्शन |
| अ., अथर्व. | अथर्ववेद |
| अष्ट० | अष्टाध्यायी |
| ईश० | ईशोपनिषद् |
| ऋ०, ऋग् | ऋग्वेद |
| ऐ० उ०, ऐत० | ऐतरेय उपनिषद् |
| कठ० | कठोपनिषद् |
| कारिका | माण्डूक्य कारिका (गौडपाद) |
| केन० | केनोपनिषद् |
| कौ० उ० | कौषीतकि उपनिषद् |
| गीता | भगवद्गीता |
| छां०, छान्दोग्य० | छान्दोग्योपनिषद् |
| तै० उ०, तैत्ति० उप० | तैत्तिरीयोपनिषद् |
| प्रश्न० | प्रश्नोपनिषद् |
| बृ०, बृहद्० | बृहदारण्यकोपनिषद् |
| मनु० | मनुस्मृति |
| माण्डूक्य० | माण्डूक्योपनिषद |
| मु०, मुण्डक० | मुण्डकोपनिषद् |
| मै० उ० | मैत्रेय्युपनिषद् |
| यजु० | यजुर्वेद |
| योग०, यो० द० | योगदर्शन |
| वे० द० | वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) |
| शा० भा० | ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य |
| श्रीभाष्य | ,, रामानुज भाष्य |
| वै०, वै० द० | वैशेषिक दर्शन |
| शत० | शतपथ ब्राह्मण |
| श्वेत० | श्वेताश्वतरोपनिषद् |
| सा० | सांख्य दर्शन |
| सा० का० | सांख्य कारिका |
| साम० | सामवेद |
| Ency. Britt. | Encyclopedia Britannica |
| Hist. Ind. Phil. | History of Indian Philosophy |
| Ind. phil. | Indian Philosophy |
| Radha. | Radhakrishnan |

# लेखक का परिचय
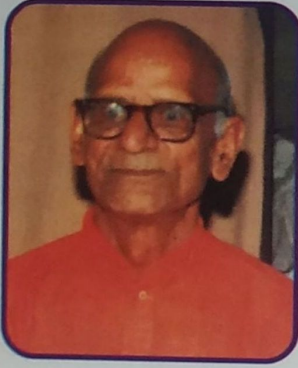
**नाम–** स्वामी विद्यानन्द सरस्वती (पूर्वनाम-प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित)

**पिता–** पं॰ श्री केदारनाथ जी दीक्षित।

**जन्म–** सन् १९१४

**जन्मस्थान–** बिजनौर (उ॰प्र॰)

**शिक्षा–** होशियारपुर तथा लाहौर के डी॰ ए॰ वी॰ कॉलेजों में।

**विवाह–** शास्त्रार्थ महारथी पं॰ देवेन्द्रनाथ शास्त्री की सुपुत्री श्रीमती शकुन्तलादेवी शास्त्री, काव्यतीर्थ के साथ सन् १९३९ में।

**कार्य–** लगभग ५० वर्ष का प्राध्यापन काल जिसमें आप होशियारपुर तथा पानीपत के पोस्टग्रेजुएट कॉलेजों के प्रिंसिपल तथा अनेक संस्थाओं के अध्यक्ष, मन्त्री एवं सदस्य रहे।

**आर्यसमाज के संगठन में–** वर्षों तक पंजाब, हरियाणा, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश की प्रान्तीय सभाओं के अन्तरंग सदस्य। केन्द्रीय सार्वदेशिक सभा के प्रधान।

**आन्दोलन में–** आर्यसमाज के इतिहास में सभी महत्त्वपूर्ण सत्याग्रहों (हैदराबाद सत्याग्रह १९३९, सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध के विरुद्ध सत्याग्रह १९४७, हिन्दी रक्षार्थ सत्याग्रह १९५६, पंजाब विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन १९६५ में सक्रिय भाग लेने का श्रेय स्वामी जी को ही है।)

**साहित्यिक रचनाएं–** स्वामी जी ने हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में तीस से अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएं की हैं। जिनमें–

**वेदविषयक–** वेदमीमांसा, भूमिकाभास्कर (बृहदाकार दो खण्डों में लगभग १२०० पृष्ठ), वेदार्थभूमिका (हिन्दी-संस्कृत), चत्वारो वै वेदाः।

**दर्शन–** अनादितत्त्वदर्शन, तत्त्वमसि, प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त, द्वैतसिद्धि, वैदिक कांसेप्ट ऑफ गॉड, द ब्रह्मसूत्र ए न्यू अप्रोच, थ्योरी ऑफ रियलिटी, एनाटोनी ऑफ वेदान्त, एज ऑफ शंकर (अनुवादित), नास्तिकवाद (सम्पादित)।

**उपनिषद्–** ईशोपनिषद् रहस्य अथवा अध्यात्ममीमांसा, त्यागवाद, जन्म-जीवन-मृत्यु, ईशोपनिषद् ए स्टडी इन एचिक्स एण्ड मेटाफिजिक्स।

**विज्ञान–** सृष्टिविज्ञान और विकासवाद।

**इतिहास–** आर्यों का आदिदेश, ओरिजिनल होम ऑफ द आर्यांस्।

**राजनीति–** स्वराज्यदर्शन, राजधर्म (पोलिटिकल साईंस)

**सत्यार्थ-भास्कर–** (बृहदाकार दो खण्डों में लगभग १८०० पृष्ठ)

**विविध–** शंकराचार्यकृत परापूजा का भाष्य, खट्टी-मीठी यादें (संस्मरण), मूल गीता में श्री कृष्णार्जुनसंवाद, स्वामी विवेकानन्द के विचार, द गोस्पल ओफ स्वामी विवेकानन्द।

**निधन–** ३० जनवरी, सन् २००३।